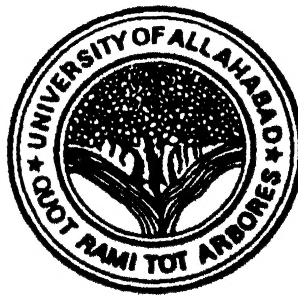
भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूपों का अ

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध



निर्देशिका :
डॉ० शैल पाण्डेय
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री :
कु० गीता देवी त्रिपाठी
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका

मनुष्य एक चेतनाशील प्राणी है। मनुष्य के समस्त कार्य चेतन एंव अचेतन जगत के तत्वों से अनुप्राणित हैं। यही चेतना जागतिक कार्य व्यापारों से ऊपर उठकर परम चेतन तत्व से अपनी सम्बद्धता स्वीकार करने की स्थिति में स्वयं परम चेतन हो जाती है।

ससीम से असीम होने की यही साधना भारतीय मनीषा का अन्त प्राण है। सन्तों ने भी अपनी चेतना को यही तात्विक ऊँचाई दी। इन्ही सन्तों एव भक्तों के सरल निःस्पृह जीवन ने हिन्दी साहित्य की धारा को नया मोड दिया, जिसके प्रेम, भक्ति, सर्वसमभाव से रसप्लावित हो जन जीवन नवीन स्फूर्ति एवं चेतना से भर उठा तथा इस वेगवान धारा में उसके समस्त विकार चूर—चूर होकर बह गये। संतमार्ग का पहला सूत्रवाक्य ही है—अहंकार का नाश। यही अहंकार समस्त दोषो का कारण स्वरूप है। स्वयं के दोषों दुर्बलताओं को दूर करके, दृढ विश्वास, प्रेम एंव हृदय की शुद्धता के द्वारा सन्तों एंव भक्तों ने अपने काव्य में ईश्वर के प्रति प्रेम को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है।

भक्त और भगवान के बीच शाश्वत आध्यात्मिक संबंधों की लौकिक भूमिका की जैसी मार्मिक परिकल्पना की गयी है उसे देखते हुये यह जिज्ञासा सहज ही जागृत होती है कि इसका मूल भूत आधार क्या है? ईश्वर से प्रेम करने का जो मधुर स्वाद है वह 'गूंगे के गुड़ की भाँति' अनुभवगम्य है और उस ईश्वर को समझने के लिये प्रेम दृष्टि ही अपेक्षित है, जिसके द्वारा अगम्य ब्रह्म प्रेम का याचक बनकर प्रत्यक्षानुभव का विषय बन जाता है।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध पॉच अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय "भक्ति आन्दोलन" है। भक्ति आन्दोलन के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों की संक्षिप्त में चर्चा करते हुये भक्ति की प्राचीनता को सिद्ध किया गया है। वैष्णव भक्त आलावारों ने जिस भक्ति–आन्दोलन को चलाया था उनमें भक्ति आन्दोलन को तीव्र करने वाले भक्ति के विविध सम्प्रदायों की विवेचना करते हुये यह बताया गया है कि सभी सम्प्रदायों का मूल उद्‌देश्य एक ही है–वह है प्रेमाभक्ति के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति जिसमें आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उत्थान के तत्व भी निहित हैं।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'प्रेम का स्वरूप' है–जिसके अन्तर्गत प्रेम के स्वरूप की विवेचना करते हुये प्रेम का सौन्दर्य से संबध एवं प्रेम का काम से भी संबंध को दर्शाया गया है। प्रेम के महत्वपूर्ण पक्ष सयोग एवं वियोग की विवेचना करते हुये भक्ति काव्य मे संयोग की अपेक्षा वियोग की व्यापकता पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'भक्ति का स्वरूप विवेचना' है। इसके अन्तर्गत भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुये प्रेम को भक्ति का मूल तत्व सिद्ध किया गया है तथा इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि बाह्य दृष्टि से भक्ति एवं प्रेम में भले ही भिन्नता दिखाई देती हो लेकिन तत्वतः दोनों एक ही हैं। शोध–प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय है "भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूप"। यह शोध–प्रबन्ध का महत्वपूर्ण ~~शीर्षक~~ अध्याय है। इसके अन्तर्गत प्रेम के विविध रूपों का अध्ययन कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा के विशेष संदर्भ में किया गया है।

कबीर की प्रेम भावना आत्मानुभूति प्रेरित होने के कारण स्वाभाविक बन पडी है। इनके दाम्पत्य प्रेम में संयोग की अपेक्षा वियोग की प्रधानता है। कबीर की विरहिणी कोई साधारण लौकिक

नारी नहीं है परन्तु आध्यात्मिक परिणय में आबद्ध उसकी आत्मा ही है।

कबीर की भाँति जायसी का प्रेम निराकार परमेश्वर के प्रति होता है। अन्तर केवल इस बात में है कि जहाँ कबीर आदि सन्तो ने ईश्वर को पति के रूप में मानकर प्रेम किया वहीं जायसी आदि सूफियों ने ईश्वर को पत्नी के रूप मे स्वीकार किया। सूफियों की भक्ति अलौकिक प्रेम की व्यंजना का माध्यम होने पर भी विरहानुभूति उनके जीवन और काव्य की मूल चेतना सिद्ध होती है।

जहाँ सूर के काव्य में प्रेम के वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य तीनों भावों की उत्कट व्यंजना हुई है, किन्तु इनके काव्य में दाम्पत्य प्रेम की ही प्रधानता है। जबकि तुलसी के प्रेम में दास्य भाव ही प्रधान है।

मीरा ने कृष्ण को पति मानकर उनके प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया है। मीरा के प्रेम में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष ही प्रधान है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है—"भक्तिकाव्य में प्रेम वर्णन के विविध प्रतीक"। इसके अन्तर्गत भक्तिकालीन कवियों के प्रेम वर्णन के विविध प्रतीकों को दर्शाने का प्रयास किया गया है। प्रेम के क्षेत्र में ये प्रतीक मुख्य से चातक, खंजन, चकोर, चकवा, मीन, जल आदि है। भक्त एवं सन्तों ने इन्हीं प्रतीकों के द्वारा अपने प्रेम को व्यंजित किया है।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता के अवसर पर मेरा मन विभिन्न विद्वानों एवं महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की भावाकुल हो रहा है।

शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में निर्देशिका श्रद्धेया डॉ० शैल पाण्डेय (रीडर, हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) का असीम

स्नेह संबंल है, जिन्होंने समय–समय पर अपना बहुमूल्य सुझाव देते हुये अपने ज्ञान से हमारे शोध में सहायता पहुँचायी। उनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन का प्रतिफलन ही यह शोध–प्रबन्ध है। अत मैं उनके प्रति आजीवन श्रद्धावनत एवं ऋणी हूँ।

तदुपरान्त मै हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के गुरूवर प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र के प्रति अपनी आत्मिक श्रद्धा अर्पित करती हूँ जिन्होंने समय–समय पर हमारे मनोबल को ऊँचा किया एवं विचलित क्षणों में भी कार्यरत रहने का सुझाव दिया। उनकी कृपा का मूल्यांकन शब्दों की परिधि से परे है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो० राजेन्द्र सिंह एव रीडर डा० राम किशोर शर्मा के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिन्होने समय–समय पर अपने व्याख्यानों के द्वारा मुझे प्रभावित किया।

मै आदरणीय श्री आर०सी० सिन्हा जी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ जिनका सत्परामर्श एवं सद्‌भाव इस शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में उपकारक बना है।

इस अवसर पर परिवारजनों का स्मरण करना मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ। सर्वप्रथम आदरणीय माता–पिता के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ। श्रद्धेय पितृ तुल्य भ्राता श्री स्वराज भूषण त्रिपाठी एवं आदरणीया भाभी अनिता त्रिपाठी के प्रति अपनी आत्मिक श्रद्धा अर्पित करती हूँ जो मेरे शैक्षिक एवं व्यवहारिक जीवन के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। मैं भाई विजय बहादुर त्रिपाठी एवं अजय कुमार त्रिपाठी के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय–समय पर शोध–सामग्री उपलब्ध करवाने में सहायता की। मैं श्रीमती मीनू त्रिपाठी के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिनका सद्‌भाव हमारे साथ रहा है। मैं संजय पाण्डेय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में हमारा साथ दिया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद के संग्रहालयाध्यक्षा साधना चतुर्वेदी के प्रति एवं हिन्दी विभाग की पुस्तकालय में कार्यरत कुमार वीरेन्द्र जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने शोध के लिये सामग्री उपलब्ध करायी। साथ ही मैं "जय दुर्गे माँ कम्प्यूटर प्वांइट" के समस्त कर्मचारियों के सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में सहायता प्रदान की।

अन्त में मैं उन समस्त आदरणीय एवं सुहृद्जनो का पुनः स्मरण करती हूँ जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सद्भाव इस शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में उपकारक बना है।

गीता देवी त्रिपाठी

दिनांक : 24-12-2002. (कु० गीता देवी त्रिपाठी)

अध्याय–1

भक्ति आन्दोलन

भक्ति आन्दोलन का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उत्थान भी था। भक्ति मार्ग की प्राचीनता के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों ने प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किये है। भक्ति मार्ग को केवल भागवत धर्म के साथ एकात्म करके नही देखा जाना चाहिये। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध तंत्र, योग आदि सम्प्रदायो की साधना प्रणालियों मे भी भक्ति किसी न किसी रुप में प्रकाशित होती रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति भाव अन्तः सलिला के रुप मे इस देश के लोक जीवन मे बराबर प्रवाहित रही है और उसके सोते फूटते रहे है। पर इतना अवश्य है कि भागवत धर्म के साथ भक्ति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अधिक घनिष्ठ रहा है।

भारतीय भक्ति आन्दोलन का बहुत ही महत्वपूर्ण विस्तृत इतिहास है। भारतीय भाषाओ मे मध्य युग मे जो विपुल भक्ति साहित्य निर्मित हुआ है वह भक्ति आन्दोलन की महती देन है। वैदिक काल से लेकर भक्ति–आन्दोलन के काल तक भक्ति–भावना का विकास कई अवस्थाओं मे हुआ है। आज वैष्णव भक्ति का जो स्वरुप है, वह बहुत कुछ वैष्णव भक्ति आन्दोलन का परिणाम है–जिसका नेतृत्व वैष्णव भक्त आलावरो ने ईसा की छठी शताब्दी से नवी शताब्दी तक किया था। कालान्तर में मध्य युग में वैष्णव भक्ति आन्दोलन उत्तरोत्तर प्रबल होकर एक ब्यापक जन आन्दोलन बन गया।

वैष्णव भक्ति–आन्दोलन के प्रेरक आकर्षक तत्वो ने ही मध्य युग मे भक्ति आन्दोलन को लोकप्रिय और देशव्यापी रुप प्रदान कर भक्तिमय वातावरण का सृजन किया, जिसके फलस्वरुप हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं मे विशाल वैष्णव भक्ति साहित्य का प्रणयन हुआ।

भक्ति मार्ग में प्रेम की साधना सारे लोक जीवन के लिये ग्रहणीय शक्ति बनकर उदित होती है। समन्वय एव सामजस्य की प्रवृत्तियो से ओत–प्रोत इस समाज में भक्ति का यह मार्ग सगुण को स्वीकार करने के बाद भी निर्गुण का प्रत्याख्यान नहीं करता एवं निर्गुण की बात उठाकर उसे प्रियतम के अनेक गुणो से विभूषित भी कर देता है। यहॉ केवल एक बात रह जाती है। वह है प्रेम। जैसे भी

बने प्रेम होना चाहिये, इसके अतिरक्ति भक्ति काल का कुछ भी काम्य नहीं रहा जाता है। जप,तप, व्रत, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान वैराग्य सब इसी ओर उन्मुख आदर्श है।

हिन्दी साहित्य में भक्ति आन्दोलन के विषय मे विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एव श्रीगुलाबराय ने भक्ति आन्दोलन का आविर्भाव को राजनैतिक पराजय से उद्‌भूतहीन मनोवृत्ति का प्रतिफलन और मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठापना की प्रतिक्रिया स्वरुप माना है। आचार्य शुक्ल लिखते है–"अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था"।

गुलाब राय का कहना है कि–"मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार–हार की मनोवृत्ति मे दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग–विलास में पडकर हार को भूल जाना। भक्ति काल मे लोगो में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पायी गयी" इन उक्तियों को दृष्टि में रखकर जब भक्ति कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करते है तो पता चलता है कि उसमें भारतीय संस्कृति और आचार–विचारों का पूर्ण प्रतिपादन है। उसमें जहॉ उच्चतम धर्म की व्याख्या हुई है, वही हिन्दी साहित्य के आज की तुलना मे भी, अतुलनीय और उच्च कोटि के काव्य की रचना हुई है, जिसमे आडम्बरहीन, शुचि एवं सरल जीवन की झलक मिलती है। जो लोक परलोक को स्पर्श करता हुआ मन हृदय और आत्मा की क्षुधा को तृप्त करने की क्षमता रखता है। अत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि शुक्ल जी एवं गुलाब राय जी द्वारा पराजित मनोवृत्ति का प्रतिपादन समीचीन नहीं प्रतीत होता है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उचित शब्दों में इस मत का खण्डन किया है। "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रया के रुप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रुप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खडी हो गयी, क्योंकि जाति के कठोर शिंकजे से निकल भागने का एक

मात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्ति–मतवाद ने इस अवस्था को सॅभाला और हिन्दुओं मे नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।"

वेवर, कीथ, ग्रियर्सन एवं विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति के उदय को ईसाई धर्म की देन कहा है और एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ने तो भगवान कृष्ण को लार्ड क्राइस्ट का रुपान्तर तक कह डाला है। इन विद्वानों द्वारा प्रचारित भ्रम सबधी मान्यताओं के मूल मे किसी भी महत्वपूर्ण वस्तु को महत्वहीन और उपेक्षित सिद्ध करने की दुरभिसन्धि मात्र है। हालॉकि श्री बालगंगाधर तिलक, डा0 एच.राय चौधरी, श्री आयगर प्रवृत्ति भारतीय मनीषियों ने इन पाश्चात्य मतों का तक्र पूर्ण खण्डन कर भक्ति का मलोद्भव प्राचीन भारतीय स्रोतो से सिद्ध कर दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन पर ईसाई धर्म के प्रभाव की चर्चा करते हुये अपनी पुस्तक ''हिन्दी साहित्य की भूमिका'' मे लिखा है– ''इस प्रकार के अवतारवाद का जो रुप है इस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नही कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उसका संबध एकदम हो ही नही, पर सूरदास आदि भक्तो मे उसका जो स्वरुप पाया जाता है, वह प्राचीन चिन्तनो से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में, ग्रियर्सन, केनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका कि ईसाई धर्म के सिवाय इस प्रकार के भाव कहीं और से मिल सकते हैं लेकिन आज की शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियो की देन सिद्ध होने को चला है क्योंकि ऐसे बौद्धो का अस्तित्व ऐशिया की पश्चिमी सीमा मे सिद्ध हो चुका है और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा, भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुये थे।" कुछ विद्वान भक्ति और अवतारवाद के बीज वैदिक साहित्य मे ही मानते हैं। डा0 भण्डारकर का मत इस बात का समर्थन करता है–"यदि वैदिक ईश्वर एक हे और उस एक के अनेक रुप मिल सकते है फलतः इसी से अवतार वाद की भावना का जन्म हुआ"। डा0 सत्येन्द्र ने "भक्ति द्राविडी उपजी लाये रामानन्द" कहकर एक गहन सत्य की ओर सकेत किया है। इधर नवीन विचारकों का मत भी यही बनता जा रहा है कि भक्ति का मूल द्रविडों में ही रहा है। केवल

दक्षिण के द्रविडो मे ही नही बल्कि उनके पूर्वज मोहन जोदडों और हडप्पा के द्रविडों मे भी या जो एकेश्वरवाद पर आस्था रखते थे और उनके ईश्वर का नाम शिव था। आर्यो ने भक्ति का भाव दक्षिण से ही लिया।

भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में भक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है महाभारत के शान्ति पर्व एव भीष्म पर्व मे तथा गीता मे इसका प्रतिपादन है। शांडिल्य और नारद भक्ति सूत्रो में भक्ति के स्वरुपो की सागोपाग विवेचना है। भक्ति के सिद्धान्त–पक्ष का विकास तो सूत्र ग्रंथो मे हुआ, लेकिन व्यवहारिक पक्ष का पुराण साहित्य मे हुआ और पौराणिक धर्म वास्तव मे भागवत धर्म का परिवर्धित रुप था। जिसमें भक्ति –भावना को प्रमुख स्थान देने के साथ ही साथ उसमे ऐसे तत्वो का समावेश किया गया, जिसमें वह बौद्ध और जैन धर्म की अपेक्षा प्रतिस्पर्धा मे खडा रह सके।

कुमारिल और शंकर के विरोधों और अकाट्य तर्को द्वारा सगुण भक्ति के विकास मे व्यवधान उपस्थित करने पर भी आठवी–नवी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे पौराणिक धर्म का प्रचार हो चुका था। दक्षिण के वैष्णवो ने भक्ति को पूरा–पूरा सरक्षण दिया जैसे–आलवार भक्तों ने जिनकी सख्या बारह मानी जाती है, शंकर के अद्वैतवाद की उपेक्षा कर भक्ति की धारा को प्रवाहमान रखा। आचार्य द्विवेदी ने भी इन्हें ही भक्ति आन्दोलन का श्रेय दिया है। इन आलवार भक्तों मे, जिनका समय प्रथम शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक माना जाता है, भक्ति का व्यवहारिक पक्ष विद्यमान था। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि भक्ति का सिद्धान्त पक्ष वहॉ बहुत पूर्व ही विद्यमान रहा हो।

दसवीं–ग्यारहवी शताब्दी में आचार्य नाथ मुनि हुये जिन्होने वैष्णवो का पुनर्गठन आलवारों के गीतों का संग्रह, मंदिरो में कीर्तन एव वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या कर भक्ति परम्परा को एक नया बल और नवीन मोड दिया।[1] इन्हीं के उत्तराधिकारी रामानुजाचार्य हुये, जिन्होंने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन

1. हरेन्द्र प्रताप सिन्हा–हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०–73

कर दास्य भाव से विष्णु की उपासना पर बल दिया। इन्होंने शकर के अद्वैत मत का खण्डन करते हुये बताया कि जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर को भक्ति या प्रपत्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इसी परम्परा में स्वामी रामानन्द हुये थे जिन्होंने राम को अवतार मानकर उत्तरी भारत मे राम भक्ति का प्रचार किया। आगे चलकर इसी शाखा मे प्रसिद्ध भक्त कवि तुलसीदास हुये। बाद मे इस भक्ति शाखा मे कृष्ण भक्ति की सरसता का समावेश कर राम–रसिक सम्प्रदाय के नाम से एक नया सम्प्रदाय भी चल पडा। जहॉ एक ओर विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार हो रहा था वही दूसरी ओर मध्वाचार्य के द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत वाद का प्रचार भी जोर–शोर से हो रहा था। आचार्य बल्लभ ने यदि कृष्ण के बाल रुप की उपासना का प्रचार किया तो महाप्रभु चैतन्य के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी सम्प्रदाय, हितहरिवंश के राधा बल्लभ सम्प्रदाय ने कृष्ण–भक्ति मे माधुर्य भाव का समावेश कर प्रचार किया। सूर इसी वर्ग मे आते है जिन्होने कृष्ण के प्रति अपनी प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन किया। तत्कालीन बौद्ध सिद्ध एव नाथ पंथ मे ऊंच–नीच का भेद–भाव नही था। इन्होंने कर्मकाण्ड को नि.सार ठहराते हुये वेद के अध्ययन को ढकोसला बताया साथ ही यौगिक प्रक्रियाओं पर बल देकर ईश्वर को घट के भीतर खोजकर प्राप्त करने का आदेश दिया। इस प्रकार सन्त मत की पृष्ठिभूमि बहुत कुछ इनके सिद्धान्तो के आधार पर ही तैयार हुई थी साथ ही साथ सन्तों पर शंकर के अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद और निराकार उपासना पद्धति का प्रभाव भी सन्त मत के उन्नयन में सहायक बना।

नामदेव, दादू, नानक आदि कवि–भक्तो ने निराकार ब्रह्म की उपासना और एकेश्वरवाद का भक्ति के रुप का आगे चलकर विकास किया। इसी समय कुछ सूफी मुसलमानों ने हिन्दुओ में प्रचलित रोमानी लोककथाओं के माध्यम से ईश्वर के प्रेम स्वरुप का प्रचार किया। इस प्रकार इन्होंने हिन्दू और मुसलमान हृदयों के बीच की दूरी को कम किया तथा हिन्दू और इस्लाम धर्म के बीच आ गई लम्बी गहरी खाई को पाटने का प्रयास एवं सांस्कृतिक समन्वय किया। इस प्रकार देखा गया कि

भक्ति के आवश्यक उपकरण– ईश्वर के प्रति वैयक्तिक संबंध और अवतारवाद पर आस्था की भावना इस देश की जनता में बद्धमूल थी। यह भक्ति का पौधा न विदेश से लाया गया है और न ही उनके द्वारा सिचित और पल्लवित किया गया है, न तो इसका जन्म निराशाजन्य है और न ही इस्लाम धर्म के प्रतिक्रिया स्वरुप। बल्कि यह प्राचीन दर्शन–प्रवाह और सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है। इस धारा के प्रस्फुटन–स्वरुप जो साहित्य रचा गया वह विराट साधना और प्रेमोल्लास की देन है जिसे मनन–श्रवण कर जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुठाये मिट जाती है।

हिन्दू जाति सदैव से आशावादी रही है। इस जाति का सुखान्त साहित्य उसके आनन्दवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। कठिन से कठिन परिस्थितियो में भी जूझकर अपने को जीवित रखने की क्षमता है। अतएवं यह कहना उचित नही लगता कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया का परिणाम है। अथवा मुसलमानी आतंक से भयभीत होकर एवं निराशा के काले बादलो से घिरकर अन्ततोगत्वा ईश्वर के शरण मे जाकर रक्षा के लिये अति पुकार का प्रतिफलन है। क्योंकि सभी मुसलमान शासक क्रूर और अन्यायी नहीं थे। उनमें से कई उदार और सहिष्णु थे, भारतीय साहिब साहित्य, संस्कृति और कला को यथेष्ट प्रोत्साहन देने वाले थे। तभी इन्हीं मुसलमानी शासको के शासन–काल मे ही शकर,मध्व, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य एवं वल्लभाचार्य जैसे आचार्य, चिन्तक और विचारक पनपे और कबीर, नानक, सूर, तुलसी, नन्ददास और मीराबाई इत्यादि भक्त कवियो ने पावन भक्ति की पवित्र धारा प्रवाहित कर भारतीय ह्रदय को स्फूर्तिमय चेतना से स्पंदित किया।

इस प्रकार सन्तों एवं भक्तों के काव्य मे प्रेम तत्व की प्रधानता ही दिखाई देती है। प्रेम ही मुक्ति प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊॅच–नीच तथा जाति–पॉति का भेद मिटाया जा सकता था। इसी कारण छोटे, उपेक्षित, अपढ, निर्धन एवं अकुलीन भी इस युग में पूज्य बने। इसीलिये जुलाहे कबीर, अंधे सूरदास, निर्धन तिरस्कृत तुलसीदास, बेलीक चलने वाली मीरा–ये सभी प्रभु सेवा ओर

प्रभु–प्रेम के गुण गाकर ही सामान्य जन का हृदय जीत सके थे। भक्ति आन्दोलन के समय जितने भी मत प्रचलित थे वे किसी न किसी रुप में प्रेम पर ही बल देते है।

पूर्वी भारत मे तन्त्र–मत एवं वैष्णव–मत का समन्वय जिस महायान भूमि पर हुआ था, उसमे भी प्रेम का अतिशय महत्व था। दक्षिण की आलवार भक्ति मे प्रेम का भाव अत्यन्त समृद्ध था ही तथा सूफी साधना प्रेम की पीर की प्रचारक–रुप मे प्रसिद्ध ही है। राधा–कृष्ण लीला की साहित्यिक परम्परा भी रति–भावना के आधार पर खडी थी। इधर स्मार्त विचारधारा मे श्रद्धा और उदारता का जो अंश है, उसने इन सभी प्रेम–प्रभावों को ग्रहण करने में सहायता दी। इस प्रकार 15वी शताब्दी मे भक्ति आन्दोलन[1] मे प्रेमा भक्ति का स्वर अत्यन्त प्रबल रुप मे ग्रहण होता है। परिणाम स्वरुप इस युग में प्रेमाभक्ति के अनेक सम्प्रदाय एवं साधक उभरते दिखाइ देते है। जिनमें रामानन्द बल्लभ, चैतन्य हितहरिवंश, हरिदास आदि प्रमुख थे।

विविध सम्प्रदाय :– निम्बार्क और रामानन्द ये दो प्रारम्भिक सेतु है जिन्होने भक्ति के क्षेत्र मे दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। बलदेव उपाध्याय एव आधुनिक विद्वान उन्हें वैष्णव सम्प्रदायो में प्राचीनतम मानते है। भण्डारकर ने इनका समय रामानुज के बाद माना है इनकी भक्ति पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मान्य है। इस अर्थ में वे सर्वप्रथम आचार्य अवश्य हो जाते हैं कि राधा कृष्ण की भक्ति उत्तर भारत मे उनके द्वारा ही प्रचारित हुई। उन्हीं की शिष्य परम्परा में आगे चलकर हरिव्यास देव ने निर्म्बाक सम्प्रदाय को अत्यधिक उन्नत किया। आगे चलकर घनानन्द, रुपरसिक देव, रसिक गोविन्द जैसे श्रेष्ठ कवि निम्बार्क के मतानुयायी हुए हैं। पर माधुर्य का पूर्व विकास संभवत. बाद मे इस सम्प्रदाय में हुआ और वह भी इस सीमा तक नहीं पहुंचा जिस तक सखी, राधाबल्लभीय या गौडीय–वैष्णव सम्प्रदाय में वह पहुच सका। मार्धुय के साथ ही अन्य भावों को भी निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यो ने मान लिया है। परन्तु कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उपदेश स्वयं निम्बार्क ने पहले ही दिया था।

---

1 भक्ति आन्दोलन का तृतीय उत्थान उत्तर भारत मे 15वी शती के आरम्भ मे होता है। (प0 बलदेव उपाध्याय–भागवत सम्प्रदाय, पृ0–233)

रामानन्द :– वैष्णव साहित्य एव भक्ति साहित्य के इतिहास मे स्वामी रामानन्द का स्थान अनुपम है। इनके जीवन के संबंध मे बहुत कम ही प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध है। रामानन्द सम्प्रदाय के अनुसार स्वामी रामानन्द का जन्म सवंत् 1356 ई0 और मृत्यु 1467 मे हुई[1]। वे एक सौ ग्यारह साल तक जीवित रहे। कई विद्वान रामानन्द को दक्षिणात्य समझते थे। पर अब यह प्राय निश्चित हो गया है कि उनका आविर्भाव प्रयाग में हुआ था।[2] रामानन्द के पिता का नाम अगस्त्य सहिता के आधार पर पुण्य सदन और माता का नाम सुशीला देवी था।

रामानुज सम्प्रदाय से सम्बद्ध होते हुए भी रामानन्द ने अपना दार्शनिक चितन और उपासना पद्धति अलग ही रखी। वे रामानुज की अपेक्षा अधिक उदार चेता और अधिक क्रांतिदर्शी थे। हिन्दी भक्ति काव्य की दो सशक्त धाराए उनके उदात्त व्यक्तित्व के उत्स से निःसृत है। एक तरफ वे कबीर जैसे उदग्र चित्तवृत्ति वाले क्रांतिकारी कलाकार के प्रेरणास्रोत रहे हैं तो दूसरी ओर सुसयत एव सुमर्यादित सामाजिक व्यवस्था के प्रवक्ता स्मार्त तुलसीदास के मानस–मराल। रामानन्द ने उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानो मे अपने केन्द्र स्थापित करके राम भक्ति का सम्यक् प्रचार किया। जात–पॉत, ऊॅच–नीच आदि भेदभाव की परवाह किये बिना उन्होंने सबको प्रभुभक्ति के मदिर में प्रवेश दिया। उनके शिष्यों मे सभी वर्णो के लोग प्राप्त होते है। "जाति–पॉति पूछै नही कोई । हरि को भजै, सो हरि का कोई।।"यह उक्ति रामानन्द द्वारा प्रचलित की हुई मानी जाती है।

रामानन्द के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण ही भक्ति उत्तर भारत की सम्पूर्ण जनता में सहज रुप में प्रवेश कर पाई। संत मत के साधको के लिए भी राम स्वीकार्य हुए, इसलिए रामानन्द ही रामोपासना के गुरु कहे जा सकते हैं। "भक्ति द्राविड उपजी, लायै रामानन्द"वाली उक्ति निरर्थक नहीं है। डा0 बदरीनारायण श्रीवास्तव के अनुसार–रामानंद की कृतियॉ है–श्री रामार्चन पद्धति, गीताभाष्य, उपनिषदभाष्य, आनन्दभाष्य, सिद्धान्त पटल, रामरक्षास्त्रोत, योगचिंतामणि वेदान्तविचार

---

1. श्री भक्तमाल (वृन्दावन संस्करण), पृ0–257–260
2 परशुराम चतुर्वेदी–उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ0–222

(भाषा), रामाष्टक, ज्ञानलीला, अध्यात्म रामायण आदि। रामानन्द दर्शन के अनुसार ब्रह्म और राम मे कोई अन्तर नही है। राम ही ब्रह्म है। वही विश्व की सृष्टि स्थिति और संहार का कारण है। ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, भक्तो का रक्षक, सर्वथा स्वतंत्र और सबके लिए वरेण्य है। उसका ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात होता है।

राम और जगत् के बीच पिता–पुत्र, रक्ष्य–रक्षक, सेव्य–सेवक आदि अनेक सम्बन्ध वर्तमान है। रामानन्द दर्शन मे जीव ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञ है वह स्वकर्मानुसार फलो का भोग करता है। भगवान जीवो का एक मात्र गतव्य है। जीव स्वतत्र नहीं है वह सर्वथा राम के अधीन रहता है। भगवान की कृपा के बिना जीव मुक्त नहीं हो सकता। केवल प्रपत्ति ही भगत्कृपा का साधन है।

प्रकृति अथवा जगत् के संबंध मे रामानन्द का विचार है कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और ईश्वर के अधीन है। सारी सृष्टि का विकास प्रकृति से होता है। आनन्द भाष्य में प्रकृति को सत्य स्वीकार किया गया है। यदि जगत् मिथ्या है तो स्वय श्रुतिवाक्य भी मिथ्या प्रमाणित होंगे। इसमे अद्वैत का बडी शक्तिमत्ता के साथ खंडन किया गया है। जगत् का कारण स्वय भगवान श्री राम है। जगत् जड वस्तु है। चेतन के बिना उसमे संज्ञान क्रिया नही हो सकती। साकेत धाम मे भगवान के सायुज्य को प्राप्त करना रामानन्द के अनुसार मोक्ष है। मोक्ष भगवत्कृपा का परिणाम है। सद्गुरु की अनुकम्पा के साथ राम के चरणो मे प्रपत्ति अथवा शरणगति मोक्ष प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है।

अन्यान्य वैष्णव दर्शन के समान रामानन्द दर्शन में भी मोक्ष प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रुप में भक्ति को ग्रहण किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश के लिए साधक को पंच संस्कारों से संस्कृत होने की आवश्यकता है। उनमें अन्य बातों के साथ राम मंत्र की दीक्षा भी दी जाती है। अनन्य भाव से परमात्मा की सेवा करना भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति अनायास ही उपलब्ध नही हो सकती। उसके लिए सात उपाय अनिवार्य है। विवेक, विभोक अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाह तथा अनुद्धर्ष। इन उपायों का निर्वहण यम नियमों के परिपालन की सफलता पर

अवलंबित है।[1] रामानन्द ने 'नारदभक्तिसूत्र', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' आदि के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत को भी भक्ति तत्व के निर्धारण मे उपजीव्य बनाया है। भागवतकार द्वारा निरुपति नवधा भक्ति के उन्होंने उसी रुप मे ग्रहण किया है। इसका यह अर्थ नही कि रामानन्द सम्प्रदाय मे प्रेम लक्षणा भक्ति को स्थान नही है। वास्तव मे रामानन्द ने यम नियमो के अनुष्ठान को अपने भक्ति सम्प्रदाय में अत्यन्त आवश्यक रखा था, अत· एव उसमें वैधी भक्ति, प्रारम्भिक युग में विशेषकर प्रबल रही। पर नाभादास के समय से लेकर उसमें रागानुमा भक्ति और तदनुरुप श्रृगार–उपासना अधिकाधिक प्रवेश पाने लगी। राम–भक्ति में रसिक सम्प्रदाय का आविर्भाव इसी कारण हुआ।

रामानन्द के अनुसार–भक्ति के दो अंग हैं–प्रपत्ति और न्यास। अनुकूलता का सकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान रक्षा करेगे– यह विश्वास रक्षक रुप मे भगवान का वरण आत्मनिक्षेप और कार्पण्य। भक्ति के नाना भेदों में प्रपत्ति ही साधना के क्षेत्र मे सर्वादृत है। उसके फलदाता स्वयं भगवान राम है। सब लोग प्रपत्ति के अधिकारी है। भगवान परम दयालु हैं और उनके सम्मुख जातिकृत बन्धनो का कोई अर्थ नहीं है।

न्यास को धर्म त्याग भी कहते हैं। न्यास से तात्पर्य स्वप्रवृत्ति की निवृत्ति से है। अतः न्यास मोक्ष प्राप्ति का साधन बनता है, इसके लिए भगवान् का नामस्मरण और ध्यान परम आवश्यक है। भक्त को भगवान राम के दिव्य रुप का वर्णन बडे स्पष्ट और विशद रुप में रामानन्द ने किया है। राम हमेशा सीता तथा लक्ष्मण सहित रहते हैं। उनकी आराधना शंकर आदि सभी देवता नियमित रुप से किया करते हैं। रामानन्द ने श्रवण, कीर्तन आदि नानाविधि आचरण को भगवत्कृपा का साधन माना है। इसी कारण कथा श्रवण को प्रमुख स्थान दिया गया है। रामानद ने राम–राम का जप साधको के लिए अनिवार्यता अनुष्ठेय ठहराया है। इन्होंने भगवद्भक्त को सर्वथा और सर्वदा भगवान का किंकर रहना परम आवश्यक ठहराया है–"तदीय कैंकर्य परायणो वै" अहिंसा भगवत्प्रेम का अभिन्न अंग है सभी वैष्णव कवियों ने

---

1 पं0 बलदेव उपाध्याय–भागवत सम्प्रदाय, पृ0–264

अहिसा के परिपालन पर पर्याप्त बल दिया है। रामानन्द ने अहिसा को दान, तप, तीर्थाटन आदि सभी कर्मों से उच्चस्तर का घोषित किया है। भक्त और भगवान के बीच रामानन्द स्वामी ने नौ प्रकार के सबध माने हैं– 1. पिता–पुत्र सम्बन्ध 2 रक्ष्य–रक्षक सम्बन्ध 3 शेष–शेषित्व सम्बन्ध 4. भार्या–भर्तृत्व सम्बन्ध 5 स्वस्वामी सबंध 6 आधार–आधेय सम्बन्ध 7. सेव्य–सेवक सम्बन्ध 8 आत्मा–आत्मीयत्व सम्बन्ध 9 भोग्य–भोक्तृत्व सम्बन्ध। डा0 श्रीवास्तव इन नवविध सम्बन्धो के आधार पर तीन भक्ति–पद्धतियों का निरुपण करते है–माधुर्य, शांत और दास्य । रामानन्द दर्शन मे दास्य– भक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसी के बल पर साधक समस्त विश्व मे राम के दर्शन करके चरितार्थ होता है। सब जीवो को 'सिया–राम मय' समझकर उनकी सपर्याय सेवा करने की प्रवृत्ति भक्ति में इसी कारण जन्म लेती है। माधुर्य भक्ति का विकास असल में रामानन्द सम्प्रदाय की मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध नही प्रतीत होता। फिर भी हम इतना अवश्य मान सकते हैं कि रामानन्द के द्वारा भक्त और भगवान के बीच भार्या–भर्तृत्व भाव को प्रश्रय दिये जाने के कारण माधुर्य भक्ति भी उसमे गुफित रहती थी। अतएवं कृष्ण–भक्ति के समान राम–भक्ति में भी परवर्ती काल मे मधुरोपासना का संबेग प्रवाह हो गया।

यद्यपि रामानन्द ने सख्य–भक्ति को कोई महत्ता नहीं दी थी तथापि कालान्तर मे उसका भी इस सम्प्रदाय में प्रवेश हुआ। वात्सल्य भक्ति की भी यही स्थति है। इसमें निष्कर्ष यही निकलता है कि रामानन्द दर्शन मे दास्य–भक्ति ही प्रमुख रुप में विद्यमान थी और अन्य भक्ति–भावनाओं का प्रवेश उसमें परवर्ती काल में नाना ऐतिहासिक एवं धार्मिक परस्थितियों के फलस्वरुप ही हुआ।

मध्य–कालीन भारतीय संस्कृति की सबसे प्रबल प्रेरक शक्ति केवल बौद्धिक–दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं अपितु धार्मिक साहित्यिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी रामानन्द से निःसृत हुई। दार्शनिकता में वे जीव ईश्वर, जगत् के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रश्रय देते थे और अतएव सामाजिक चेतना में वस्तून्मुखी बौद्धिक दृष्टि अपनाने में सफल हुए।

जाति–पॉति की सडी–गली कुरीतियों को चुनौती देने मे जो साहस रामानन्द ने दिखाया वह भारतीय परम्परा और दार्शनिकता के इतिहास मे एकदम अप्रतीम ही है। वैदिक धर्म का अनुगमन करते हुए वर्णाश्रय से समुत्पन्न जाति–व्यवस्था को धिक्कार्य मानने का साहस किसी ने नहीं दिखाया था। कहते है, अनेक मुसलमानों और धर्मच्युत हिन्दुओ को इन्होने अपने सम्प्रदाय मे स्थान देकर, उन पर अनुग्रह किया।[1] मुसलमानी उत्पात से उत्पीडित हिन्दू जनता को प्रत्यक्ष जीवन के क्षेत्र में सगठित करने की दिशा मे उनके द्वारा और उनके शिष्यों द्वारा किये गये कार्य ऐतिहासिक महत्व के है।[2] जाति–पॉति पूछै नहीं कोई . .. वाली युक्ति रामानन्द जैसे महात्माओं से ही निःसृत हो सकती थी। जाति–पॉति के पक्के समर्थक तुलसीदास की लेखनी से यह वाणी–

भगतिवंत अति नीचहु प्रानी।
मोहि प्रान सम, अस मम बानी।।

निसर्गतया नहीं निकल सकती थी। उसके लिए रामानन्द जैसे उदारचेता महामानव के व्यक्तिगत और बौद्धिक समर्थन का कितना योगदान रहा होगा यह अनायास अनुमेय है। रामानन्द के दार्शनिक और बौद्धिक मानवतावाद से न केवल राम भक्त ही बल्कि अधिक स्वतंत्र और उदग्र विचारधारा के समर्थक ज्ञानदेव कबीर जैसे सन्त भी लाभान्वित हुए।

इसी कारण हम निःसन्देह इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मध्यकालीन सगुण–निर्गुण साहित्य के उत्प्रेरकों में सर्वाधिक महिमामंडित एवं युगान्तरकारी व्यक्तित्व रामानन्द का है। डा0 बडथ्वाल के ये शब्द न केवल स्वयंसिद्ध सत्य हैं बल्कि स्वयं सह्रदयों और विचारकों के लिए रोमाचकारी भी है– "युग–युग से जमे हुए घने अंधकार की आकाश को छूती दृढ प्राचीरें आत्मा को बदी बनाये रहती हैं। अन्याय की कारा मे व्यक्ति स्वातंत्र्य–यंत्रणा की असहृदयता से कराहता रहता है।

---

1 डा0 श्रीकृष्ण लाल का लेख–"रामानन्द का जीवन चरित्र", (रामानन्द की हिन्दी रचनाऐं–सपा०–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0–49

2 वही, पृ0–50

अवसाद भरा जगत् परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पडता है कि हँसती–खेलती सरलता का दिन कभी लौटेगा नही। सहसा एक दिव्य–विभूति धरा पर उतर आती है और आन की आन दुर्भेद्य प्राचीरे खडखडा ढह पडती है, लौह श्रृंखलाएँ झनझन टूट गिरती है, व्यक्ति की यत्रणाये फू उड जाती है और स्वातत्र्य का सूर्य उसे तपाये सोने की आभा से मढ देता है। मध्ययुग के धार्मिक इतिहास मे रामानन्द ऐसी ही विभूति थे।[1]

वल्लभाचार्य :– एक स्वर से सभी विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1535 विक्रमी और मृत्यु स0 1587 वि0 मे माना है। पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। ये तैलंग ब्राहमण थे, जो उत्तर मे बस गये थे। ये वेदशास्त्र के पारगत विद्वान थे। काशी में यथोचित शिक्षा–दीक्षा के पश्चात् तरुण वय मे ही उन्होंने विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय की सभा मे मायावादियो तथा नास्तिको को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वैष्णव को समर्थित किया। इसके पश्चात् ही मत साम्य तथा प्रामाणिकता प्राप्ति हेतु उन्होने विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय मे दीक्षा ले ली। पर जैसे रामानन्द अपनी भक्ति–पद्धति आदि मे अपने आचार्य रामानुज से ही नही बॅधे वैसे ही वल्लभ जैसे लोक नेता को किसी विशेष मतवाद के साथ बॅधकर रहना पसन्द नही आया।[2]

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक आचार्य हुए, सबका लक्ष्य शकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुडाना था जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती है। शकर ने केवल निर्गुण भक्ति की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। बल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंशरुप जीवो में विखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। वह अपने सतचित और आनन्द इन स्वरुपो का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव मे सत् और चित् का अविर्भाव रहता

1 रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0–1

2 वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति का नूतन रुप और उसमे कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप मे प्रचलित नही थी। (डा0 विजयेन्द्र स्नातक–राधा वल्लभ सम्प्रदाय . साहित्य और सिद्धान्त, पृ0–50)

है पर आनन्द का तिरोभाव। जड मे सत का आविर्भाव रहता है, चित और आनन्द का दोनो का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्री कृष्ण ही परमब्रह्म है जो दिव्य गुणो से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते है। आनन्द का पूर्ण अविर्भाव इसी पुरुषोत्तम मे रहता है। अत. यही श्रेष्ठ रुप है। वह अपने भक्तो के लिए व्यापी बैकुठ मे (जो विष्णु के बैकुठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीडाए करते रहते है। गोलोक इसी व्यापी बैकुंठ का एक खण्ड है जिसमे नित्य रुप में यमुना, वृन्दावन, निकुज इत्यादि सब कुछ है। भगवान की इस नित्यलीला सृष्टि मे प्रवेश करना ही सबसे उत्तम गति है।

शकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक रुप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। बल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रुप को ही असली पारमार्थिक रुप बताया और निर्गुण को उसका अशत तिरोहित रुप कहा।

बल्लभ ने प्रेम लक्षणा भक्ति ग्रहण की है। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' मे सूरदास की एक वार्ता के अन्तर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को सहायक कहा। प्रेम साधना मे बल्लभ ने लोक, मर्यादा दोनो का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान का अनुग्रह होता है जिसे पोषण या 'पुष्टि' कहते है। इसी से बल्लभाचार्य ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा है। उन्होंने जीव के तीन प्रकार के माने है—**1. पुष्टि जीव**—जो भगवान के अनुग्रह का ही भरोसा रखते है और 'नित्य लीला' मे प्रवेश पाते है। **2. मर्यादा जीव**—जो वेदक की विधियो का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते है और **3. प्रवाह जीव**—जो संसार के प्रवाह मे पडे सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते है।

'कृष्णाश्रय' नामक एक प्रकरण ग्रंथ में बल्लभाचार्य ने अपने समय की अत्यन्त विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमे उन्हें वेदमार्ग या मर्यादामार्ग का अनुसरण अत्यन्त कठिन दिखाई पडा है। देश मे मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ हो चुका था। हिन्दुओ का एक मात्र स्वतंत्र और प्रभावकारी राज्य दक्षिण का

विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुल्तानों के पडोस मे रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुये दिखाई पडते थे। इस्लामी संस्कार धीरे–धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरो के द्वारा सूफी पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार कार्य धूम से चल रहा था। एक ओर 'निर्गुणपंथ' के संत लोग वेदशास्त्र की विधियो पर से जनता की आस्था हटाने पर जुटे हूए थे। अत बल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन बहुत कुछ देश–काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य जी के मुख्य ग्रथ ये है–1 पूर्वमीमांसाभाष्य 2. उत्तर मीमासा या ब्रह्म सूत्र भाष्य जो अणुभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धाद्वैत वाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रंथ है। 3. श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका 4 तत्वदीप निबंध तथा अनेक छोटे–छोटे प्रकरण ग्रंथ। इसमे पूर्वमीमासा भाष्य का बहुत थोडा सा अश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य जी पूरी न कर सके थे। अत के डेढ. अध्याय उनके उनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ ने लिखकर ग्रथ पूरा किया। भागवत की सूक्षम टीका नहीं मिलती, सुबोधिनी का भी कुछ अश ही मिलता है।

रामानुजाचार्य के समान बल्लभाचार्य ने भारत के बहुत से भागों में पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत मे अपने उपास्य श्री कृष्ण की जन्मभूमि मे जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का बडा भारी मंदिर निर्माण कराया।

बल्लभ सम्प्रदाय मे जो उपासना पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग, राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। भोगविलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक–सेविकाओ पर कहाँ तक अच्छा पड सकता था जनता पर चाहे जो प्रभाव पडे पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुन्दर–सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम संगीत धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिन्दू जीवन को सरस एवं प्रफुल्लित किया। सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुररुप ही

पर्याप्त समझा। महत्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव छोड देने के कारण कृष्ण के लोक रक्षक और धर्म संस्थापक स्वरुप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान के मर्म स्वरुप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण भक्तो में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्ण–भक्त कवि अधिकतर फुटकल श्रृंगारी पदों की ही रचना मे लगे रहे उनकी रचनाओ मे न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रुप स्फरित हुए, न अनेकरुपता आई। श्री कृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खण्ड काव्य, महाकाव्य आदि के लिए पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेम लीला ही सबने गाई।

श्रीमद्भागवत में श्री कृष्ण के मधुर रुप का विशेष वर्णन होने से भक्ति क्षेत्र मे गोपियों के ढंग से प्रेम का माधुर्य भाव का रास्ता खुला। इसके प्रचार मे दक्षिण के मदिरो की देवदासी प्रथा विशेष रुप से सहायक हुई। इन्ही देवदासियो मे कुछ प्रसिद्ध भक्तिन हो गई। दक्षिण में आंदाल इसी प्रकार की एक भक्तिन हुयी। आंदाल एक स्थल पर कहती है–'अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।'

इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो जायेगी। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्यभाव' की थी। मुसलमानी जमाने में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्तिभावना के स्वरुप पर बहुत कुछ पडा। 'माधुर्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्यभाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से 'अभ्यातंरमिलन', मूर्छा 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियो का प्रभाव पाया जाता है।

चैतन्य :– भक्ति के कर्मकाण्ड को बल्लभाचार्य ने सुदृढ किया एवं संवेग (इमोशन) पक्ष को चैतन्य ने। उनमें अद्भुत पांडित्य था और उसी आधार पर जो भक्ति विकसित हुई है उसमें दार्शनिक चेतना तो थी ही साथ ही सहजिया वैष्णवों की प्रेम–साधना भी ग्रहण कर ली गई। श्री कृष्ण चैतन्य उत्तर मध्ययुग के सबसे

प्रभावशाली व्यक्तियों मे प्रतीत होते है। लगता है कि उत्तर भारत मे बुद्धदेव के बाद चैतन्य से अधिक मोहक और प्रभावशाली व्यक्तित्व दूसरा नहीं हुआ। तुलसीदास की ख्याति दूसरे ढंग की है और उनके साहित्य के माध्यम से बढी है जबकि चैतन्य की सारी महिमा उनके प्रत्यक्ष व्यक्तित्व में निहित है। राधा–कृष्ण की लीलाओ का स्मरण और भावन, कृष्ण–संकीर्तन एव हरिबोल का निरन्तर उच्चारण–बस यही उनके नैमित्तिक कर्म, धर्म प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की साद्रता, आत्मा की गहनता एव गूढतम पुकार–जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। यह प्रसिद्धि रामानन्द एव बल्लभ को भी प्राप्त हुई थी, पर वे अपने शिष्यों–भक्तों तक सीमित थे। चैतन्य के चरित्र मे पर्वत–प्रवाहिनी का वेग था एव सर्वातिज्ञानी प्रसार भी था।

चैतन्य महाप्रभु का बाल नाम विश्वम्भर था। नवद्वीप के विद्वान पडित जगन्नाथ मिश्र के घर उनका जन्म संवत् 1542 (1485 ई0) में हुआ था जो ईश्वरपुरी (वृन्दावन) के विरक्त विद्वान भक्त माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। माधवेन्द्रपुरी बगाली थे तथा बलदेव उपाध्याय ने इनका जन्म 1400 ई0 माना है।

बंगाल और ब्रज का सम्बन्ध–सूत्र जोड़ने वाले ज्ञात महापुरुष माधवेन्द्रपुरी ही प्रतीत होते हैं, जो ब्रज में रहकर वहॉ के तीर्थो का उद्धार करने मे लगे थे। इन्ही माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी से चैतन्य को वैष्णव भक्ति की दीक्षा मिली। वैष्णव दीक्षा मिलने के उपरान्त उनका समस्त समय वैष्णव भजन, कीर्तन में व्यतीत होने लगा। भजनो कीर्तनों की परम्परा पहले भी थी, पर चैतन्य जिस आवेग को उसमे भर दिया, उसकी समता भागवत में वर्णित मात्र कृष्ण के वेणु–गायन से ही की जा सकती है।

निशम्य गीतं तदनंगवर्धन
वज्रस्त्रियः कृष्णग्रहीत मानसा।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।

इस प्रकार चैतन्य के इस सकीर्तन की सम्पृक्ति जिसे प्राप्त हो गयी वही इसकी माधुरी मे आकण्ठ मग्न हो गया। इसमें शान्तिपुर के प्रख्यात पण्डित अद्वैताचार्य तथा सन्यासी नित्यानन्द ही सम्मिलित नहीं हुए, मुसलमान भक्त हरिदास भी आ जुडे। चैतन्य सम्प्रदाय के विकास में आगे अद्वैत एव नित्यानन्द ने महत्वपूर्ण योग दिया है। नित्यानन्द की अधीक्षता में सहस्त्रो पथ भ्रष्ट बौद्ध, नाथ–पंथी एवं शाक्त इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये। चैतन्य का कीर्तन धीरे–धीरे नगर कीर्तन का स्वरुप धारण कर लेता है। चैतन्य के बढते हुए अनुयायायियो का यह सूचक है कि सहस्त्रो की सख्या में चैतन्य के नेतृत्व मे लोग सडको पर नृत्य ज्ञान एव कीर्तन करते–करते विह्वल होने लगे। चैतन्य का भी आवेश बढता जा रहा था और स0 1566 में काटवा ग्राम में ईश्वरपुरी के गुरुभाई केशव भारती से सन्यास दीक्षा लेकर वे घर गृहस्थी का मोह तोडकर निकल पडे। यहॉ फिर सिद्धार्थ की याद आ जाती है। अन्तर इतना है कि सिद्धार्थ जग के दुख से पीडित होकर घर से निकले थे पर चैतन्य ब्रह्मानन्द में डूबकर घर त्यागते है।

सन्यास लेने के पश्चात् चैतन्य जगन्नाथपुरी के लिए प्रस्थान करते है वहॉ पर वेदान्ती पडित, तर्कशास्त्री तथा न्याय के प्रतिष्ठाता 'वासुदेवसार्वभौम' इनसे प्रभावित होते है। अद्वैताचार्य के बाद सार्वभौम की वैष्णव परिणति चैतन्य और उनकी भक्ति को विद्वानों मे भी गहरी प्रतिष्ठा देती है। 'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक में कवि कर्णपूर ने सार्वभौम वासुदेव के कुछ अंश उस समय के उद्धृत किये है जबकि वे चैतन्य की शरण में आते हैं। उससे प्रतीत होता है कि चैतन्य को उनके समय तक अवतार माना जाने लगा था। अपने जीवन में ही इतनी जल्दी अवतार की प्रसिद्धि चैतन्य को छोडकर शायद ही अन्य किसी को भारत वर्ष के धार्मिक इतिहास मे मिली हो। पुरी ने कुछ दिन रहने के उपरान्त चैतन्य दक्षिण की तीर्थ यात्रा पर निकले। लगभग दो वर्ष तक वे इन यात्राओं मे रहे। इसी दक्षिण यात्रा में उनकी भेंट रामानन्द राय से हुई जो स्वयं एक उच्च पदस्थ शासक थे। राय रामानन्द से वार्ता करने के बाद सभवत चैतन्य की भक्ति–पद्धति का दार्शनिक–धार्मिक स्वरुप भी कुछ स्पष्ट हुआ। दक्षिण से ही चैतन्य ब्रह्म संहिता लाये थे जो आगे चलकर गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान उपजीव्य ग्रथ बना। रुप गोस्वामी ने अपने भक्ति

शास्त्र के ग्रथो मे इसका उपयोग प्रमाणपत्र के रुप मे किया है। इसी यात्रा मे चैतन्य दक्षिण भारत की भक्ति के निकट सम्पक्र में भी आये होंगे दूसरी महत्वपूर्ण बात इस यात्रा की यह है कि उन्होंने वैष्णवो के साथ ही शैव तीर्थो का भी भक्ति–भाव पूर्वक भ्रमण किया। यहाँ तक कि शकराचार्य के श्रृगेरी मठ मे भी वे गये लौटते–लौटते चैतन्य इतने जन प्रिय हो गये थे कि उडीसा के राजा प्रताप रुद्र देव भी इनके प्रभाव मे आ गये। इसने चैतन्य सम्प्रदाय को आगे बढने मे और सहायता दी।

चैतन्य के मन मे प्रारम्भ से ही वृन्दावन की यात्रा करने की इच्छा थी पर मार्ग मे बराबर अडचने आती रही। पुरी–यात्रा के तीन वर्ष पश्चात् वे वृन्दावन के लिए निकले इसी यात्रा के रास्ते बंगाल के मुसलमान के दो शासक उच्च पदाधिकारी चैतन्य के शिष्य थे जिनका नामकरण रुप और सनातन किया गया। आगे चलकर इन दोनो भाइयो ने सम्प्रदाय मे अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया। चैतन्य मत को दार्शानिक, धार्मिक और रस शास्त्रीय आधार उन्होंने ही प्रदान किया। चैतन्य ने जीवन मे महान कार्य किया। प्रेमाभक्ति के आवेश को उन्होने जन साधारण तक पहुचा दिया उनके मुख्य सहायक नित्यानंद ने इस परिपाटी को और बढा दिया। रामानन्द और बल्लभ के समान ही उनके भी महान शिष्य हुए। रुप, सनातन, जीव, गोपाल भट्ट, कृष्ण दास एव रघुनाथ भट्ट ये षट्गोस्वामी किसी भी सम्प्रदाय के लिए ईर्ष्या के विषय हो सकते थे। बिना इनकी मान्यता के बगाल तक कोई वैष्णव ग्रंथ चैतन्य मत मे प्रामाणिक नहीं माना जाता था।

रामानन्द, बल्लभ और चैतन्य की इस वैष्णवाचार्य वृहत्त्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी साधना और साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हुए है। गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास दो ऐसे ही व्यक्तित्व थे। ये आचार्य स्वयं कवि न थे। उनमे से एक ने केवल शिष्यो को दृष्टि दी (रामानन्द) दूसरे ने सम्प्रदाय का विधिवत निरुपण और स्थापन किया (बल्लभ) और तीसरे ने अपने व्यक्तित्व के पारस संस्पर्श से जिस जनता (लोहे) की सोना बना दिया उसने स्वय सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर दी (चैतन्य)। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इनकी अपेक्षा इनके शिष्यों

का महत्व अधिक है। (कबीर एवं रैदास, अष्ठछाप के कवि, तथा वृन्दावन के षट् गोस्वामी ऐसे ही महत्वपूर्ण शिष्य है) परन्तु हितहरिवश एव हरिदास, ऐसा लगता है, आचार्य एवं शिष्य के समन्वित रुप थें। वे सम्प्रदाय प्रतिष्ठापक भी है और स्वय उच्चकोटि के कवि भी, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन लगता है–कि वे चैतन्य एव अष्टछाप दोनो के मिले–जुले रुप है। वे चैतन्य की भॉति अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित करते है एव अपने साहित्य तथा कला से भी। उनमें चैतन्य जैसी तन्मयता है एवं सूरदास जैसा काव्य सवेग भी। स्वामी हरिदास तो अपने युग के श्रेष्ठतम सगीतज्ञ भी थे।

स्वामी हरिदास :– ये महात्मा वृन्दावन में निम्बार्क मतान्तर्गत तत्सुखी सम्प्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय मे एक सिद्ध भक्त और संगीत कला कोविद माने जाते थे। कविता काल 1600 से 1617 ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनका गुरुवत सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध कि अकबर बादशाह साधु के वेष में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिए गया था। इनका जन्म संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं है पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राहमण थे। इनके पद कठिन राग–रागनियों में गाने योग्य हैं।

सखी भाव की उपासना स्वामी जी की मुख्य देन है। दूर से ही लीला दर्शन एवं लीला गान के जो लक्षण गीतगोविन्द आदि से मिलने लगे थे। उनका श्रेष्ठतम परिपाक साधना के स्तर पर हरिदास जी में हुआ। उनकी साधना नितान्त एकान्तिक एव सम्पूर्ण अनन्यता की है। उनकी साधना को सगुणोपासना कहना बहुत उचित नहीं, क्योंकि कृष्ण के ब्रज लीला वाले सगुण रुप को वे स्वीकार नही करते। लीला का एक नितान्त गोपनीय रहस्यात्मक प्रकार उनको स्वीकार था।

स्वामी हितहरिवंश :– राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रसिद्ध भक्त हितहरिवंश जी है। इनके जन्म–मरण की तिथि ठीक–ठीक ज्ञात नहीं है, पर अधिकतर विद्वान इनका काल ईसा की 16वी शताब्दी के प्रारम्भ मे मानते हैं। हितहरिवश की माता का नाम तारावती और पिता का नाम कुछ लोगों के अनुसार केशवदास मिश्र (उपनाम व्यास) था। ये राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना करते थे।

इनका प्रसिद्ध मदिर वृन्दावन में है। कुछ विद्वान इसी कारण इनके मत को निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा मानते हैं और कुछ चैतन्य मत की उपर्युक्त सभी मतों को वैष्णव सम्प्रदाय की शाखा मानते है परन्तु धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो में मतभेद है। हितहरिवश के चार ग्रंथ प्राप्त हैं। दो ग्रंथ सस्कृत मे हैं और दो ब्रजभाषा मे। 'राधासुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' दोनों सस्कृत मे प्रणीत हैं और 'हितचौरासी' एवं 'स्फुटवाणी' ब्रजभाषा में। इस सम्प्रदाय मे वस्तुत. कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। राधा का स्वरुप भी इसमें साधारण से विलक्षण है। यहॉ राधा नित्य विहरिणी तथा स्वतंत्र पराशक्ति हैं। प्रस्तुत सम्प्रदाय की अनुश्रुति है कि स्वय राधा ने हितहरिवंश को स्वप्न मे दर्शन देकर गुरुमत्र की दीक्षा दी और उन्होने स्वय उन्हे अपना शिष्य बना लिया। इसलिए हितहरिवश के परम गुरु स्वय राधा है। राधा की उपासना मे इतनी अधिक तल्लीनता प्रकट करते हैं कि इनका प्रतिज्ञा–पूर्वक कथन हे कि राधा को छोडकर कृष्ण की उपासना करना मूर्खता है।

इनके मतानुसार राधा से कृष्ण का पृथक्करण उस प्रकार असभव है जैसे जल से तरग का। राधा और कृष्ण दोनों मिलकर एक तत्व बनते है। राधा की समस्त चेष्टाओ का अत्याधिक प्रयोजन कृष्ण को रिझाना है। यह आत्म–विसर्जन के बिना संभव नहीं है। यही प्रेम या हित का सिद्धान्त है। हितहरिवश का सम्प्रदाय में भक्ति ही मुक्ति का साधन है, पर यह भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति का वह स्वरुप है जो अपने बाह्य रुप में पार्थिव प्रेम का आभास दे। राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम निरन्तर इस धारा के समान प्रवाहमान है और कृष्ण रसिको का अग्रणी है। उपषिदों ने उसे रस ही स्थापित किया है। रस ही जीव का परम ध्येय है। रस स्वरुप होने के कारण रस की उपलब्धि से ही वह आनन्दित हो सकता है। इसलिए प्रत्येक साधक उपासना में रसानुभूति का संचय करके ही जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है भगवान की उपासना और आराधना मे सरलता की प्रमुखता के कारण ही इस सम्प्रदाय को रसिक सम्प्रदाय भी कहा जाता है और इसमें दीक्षित साधको को रसिक रासिक्य की अधिकता के कारण ही राधाबल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण को परतत्व न मानकर राधा को परतत्व माना गया है।

वास्तव मे अपने नित्य जीवन में व्यक्तियों तथा वस्तुओ के प्रति जो कुछ रागात्मक संबंध जोडा जाता है वह अवश्य पार्थिव और ममत्व भावना सकलित होने के कारण निम्नस्तर का है। पर वही प्रभु के प्रति उन्मुख होने पर दिव्य और वासनाहीन हो जाता है। वही हमारे मोक्ष का कारण भी होता है अतएव वह भक्तो के लिए वरणीय है। जीव और प्रभु दोनों एक ही प्रेमतत्व के दो पार्श्व है। प्रेम या हित ही ब्रह्म है। वह निरन्तर और नित्य प्रेम केलि मे चार रुपो मे व्याप्त है। जड चेतन–मय दृश्य प्रपच केवल प्रेम का प्रति स्फुरण है।

निष्कर्ष रुप मे कहा जा सकता है कि 16वी शती मे भक्ति मे प्रेम का अप्रतिहत प्रवाह दिखाई देता है। निम्बार्क की राधा इस युग मे रसोपासना की इष्ट बन गई। चैतन्य का राधा–भाव ही गोस्वामियो द्वारा श्रेष्ठतम रस–प्रतिपादित होता है? हितहरिवंश और हरिदास की माधुर्य–उपासना छोटे–बडे सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी। पुष्टि–मार्ग के मूल मे मधुर भाव का प्रचार–प्रसार ही है। राधा–कृष्ण की भक्ति के इस स्वरुप ने सगुण मत के दूसरे मुख्य आराध्य राम के उपासकों भक्तो को भी बहुत प्रभावित किया। सगुणोपासक न होने के कारण संत मत में इन दम्पति लीलाओ की सीधी अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, परन्तु माधूर्य–भाव की जो मूल धारणा थी, उसका प्रकाशन साधक एवं आराध्य के मध्य प्रतीक रुप में अवश्य हुआ। इस प्रतीक पद्धति के लिए तत्कालीन साधनाओं मे सूफी प्रेम–भावना सीधी प्रेरक शक्ति के रुप मे विद्यमान थी। सूफी प्रेम–भावना स्वयं इन प्रेमाभक्ति की विविध साधनाओं को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रुप से प्रभावित कर रही थी और स्वयं भी प्रभावित हो रही थी। वास्तव में ये सभी साधनाएँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती रही है।

अध्याय–2

प्रेम का स्वरूप

मानव समाज को रागात्मक सम्बन्ध से जोडने वाला प्रेम–भाव बहुत प्राचीन काल से ही कवियों का प्रेरणा स्रोत रहा है। मानव की अनुभूतियों में जितनी तीव्रता प्रेमानुभूति में व्यंजित हो सकती है, उतनी किसी दूसरी अनुभूति में नही। मानव–कल्याण के लिए प्रेम–भावना सिद्ध औषधि है। यही प्रेम–भावना भक्ति–भावना के भीतर प्रवेश कर और भी निर्मल और उज्ज्वल हो जाती है।

भक्ति काव्य में प्रेम–भावना और भक्ति–भावना के बीच सीमा रेखा खीचना कठिन है। यहाँ ये दोनो भावनाये एक–दूसरे मे अन्तर्निहित हो गयी है। अत भक्ति काव्य के विवेचन के संदर्भ में भक्ति एवं प्रेम इन दोनों भावनाओ का स्पष्ट विवेचन समीचीन लगता है।

प्रेम की स्पष्ट, विशद और उपयुक्त परिभाषा देना कठिन है। कारण तो यह है कि प्रेम मानव मन मे उत्पन्न एक भावानुभूति है, जिसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कठिन तथा दुरूह है। देवर्षि नारद ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम का स्वरूप गूँगे के स्वाद की भॉति अनिवर्चनीय है। प्रेम वाणी का विषय नही है, वह केवल अनुभवगम्य ही है। उसका जन्म–स्थान प्रत्येक प्राणी का मन है और वह एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में बाहर प्रकट होता है। उसका प्रत्यक्ष प्रतिपादन कठिन है। वह हमारी बुद्धि के बाहर की वस्तु जान पडती है। फिर भी अनेक विद्वानों ने अपने–अपने अनुसंधान तथा चिंतन के अनुसार प्रेम के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, और अब भी करते आ रहे हैं। यहॉ भारतीय–अभारतीय विद्वानो की कतिपय उक्तियॉ उद्धृत करना सगत होगा।

भारत के सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य में प्रेम शब्द का नितांत अभाव है लेकिन भिन्न प्रसगो में प्रेमार्थसूचक 'प्रिय', 'प्रिया', 'प्रेय' जैसे शब्दो का प्रयोग दृष्टिगत होता है।[1] इससे केवल किसी व्यक्ति या वस्तु से अच्छा लगने मात्र का बोध होता है। 'प्रेम' 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' का अर्थ यह सूचित करता है कि जो आनन्द या तृप्ति प्रदान करता है, वही 'प्रिय' है। अत 'प्रेम' शब्द आनन्द या तृप्ति का बोधक है। 'प्रेम' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सर्वप्रथम महाभारत में दृष्टिगत होता है।[2] प्रेम भावना की मूल उत्पत्ति हमारी आत्मा ही है। आत्मा की प्रेरणा के बिना कोई भी आनन्ददायक इन्द्रिय व्यापार नहीं हो सकता। प्रेम–भावना के मूल में इन्द्रिय व्यापार का बहुत बडा हाथ है। आचार्य दण्डी का मत है–'प्रेम मन का एक विकल्प मात्र है।'[3] कविकुल गुरु कालिदास ने प्रेम–पीडित प्राणी की मानसिक दशा की व्याख्या करते हुये समझाया है कि प्रेम में सतप्त प्राणी जड और चेतन का भेद करने में सर्वथा असमर्थ होता है। भवभूति का मत है–'दो हृदयों को मिला देने वाला प्रेम अज्ञात् कारणों से उत्पन्न होता है, किसी बाह्य कारण से सौन्दर्यादि पर आश्रित होकर प्रेम का उत्पन्न होना असंभव है।'

फारसी के कवि रूमी ने कहा है कि प्रेम के आचरण के बिना प्रियतम तक पहुचना असंभव है। उनके अनुसार प्रेम ईश्वरीय रहस्यों के प्रकाशन का एक साधन है। सूफी साधक अबू तालिब का कथन है कि– प्रियतम के दर्शन की लालसा प्रेम का ही लक्षण है। हसन सुहरावर्दी प्रेम और सौन्दर्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बताते है कि सौन्दर्य के गहरे चिन्तन के लिए हृदय का झुकाव ही प्रेम है।

अग्रेजी नाटककार विलियम शेक्सपीयर ने कहा है कि 'प्रेम बाह्य चक्षुओ के लिए अदृश्य है, पर प्रेमी साधक दिल से प्रेम का दर्शन कर सकता है।' वड्र्सवर्थ ने कहा है कि 'प्रेम सुन्दरतम को भी अधिक सुन्दर बना देता है।'

---

1. परशुराम चतुर्वेदी–मध्य कालीन प्रेम साधना (तृतीय सस्करण), पृष्ठ–92
2 डॉ० दशरथराज–दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा–काव्य, पृष्ठ–45
3. आचार्य दण्डी–दशकुमार चरित, पृष्ठ–292

हिन्दी के प्राचीन काल के कई कवियो ने भी प्रेम का विस्तृत निरूपण किया है। उनमें अधिकतर कवियो की परिभाषाओ मे आध्यात्मिकता की झलक मिलती है। कबीरदास ने कहा है –

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस दै लै जाय।[1]

उसमान ने कहा है –

प्रेम का पहाड़ स्वर्ग से भी ऊंचा है।
बिना आश्रय के इस पर चढ़ना कठिन है।

नूर मुहम्मद ने कहा है कि –

प्रेम समुद्र अथाह है, बूडैमिलै न अंत।
तेहि समुद्र में हौं, तीर न मिलत तुरंत।।[2]

जायसी कहते हैं कि –

प्रेमघाव दुख–जान न कोई।
जेहि लागे जानै पै सोई।[3]

सूरदास ने कहा हैं कि–

प्रीति न मरन विचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जलत अंग नहि तारै।[4]

बिहारी ने कहा है –

गिरि तें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजारु।
बहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम पयोधि पगारु।[5]

प्रेम की इन परिभाषाओं एव विवेचनो से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम का स्वरूप मनुष्य के स्वभाव, संस्कृति एव सामाजिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता है। यद्यपि प्रेम सार्वभौमिक है फिर भी मनुष्य की प्रकृति के अनुसार उसके

---

1 हरिऔध–कबीर वचनावली (सग्रह–9वॉ सस्करण), पृ०–103
2 उसमान–चित्रवली, पृ०–40
3 श्री गुलाबराय–हिन्दी प्रेमगाथा काव्य–सग्रह, पृ०–65
4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–भ्रमरगीत सार (सग्रह), पद–124, पृ०–50
5 लाला भगवान दीन–बिहारी बोधिनी (सपादित), दोहा–618

स्वरूप मे परिवर्तन होता रहता है। सभी विद्वानों ने प्रेम को एक मानसिक प्रक्रिया मानकर उसे किंचित मात्रा मे आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करते हुये विश्व का शाश्वत तत्व घोषित किया है।

प्रेम को परिभाषित करना भले ही कठिन है। लेकिन प्रेम की अनुभूति, प्रगाढता एवं स्वयं इसकी मधुरता का आस्वादन प्रेमी साधक कर सकता है। प्रेम मनुष्य की एक ऐसी अमूल्य निधि है जिसे ईश्वर का स्वरूप माना गया है। जिस प्रकार ईश्वर अदृश्य, अप्रकट एव सर्वव्यापी होते हुये सुन्दर सृष्टि की रचना कर देता है उसी प्रकार प्रेम भी मनुष्य मे अप्रकट रूप से रहकर उसके हृदय–दीप को प्रज्वलित कर उसे सुन्दर बना देता है।

प्रेम और सौन्दर्य :– प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध बताते हुये भारतीय काव्यशास्त्रियो ने प्रेम की उत्पत्ति का कारण सौन्दर्य का सामीप्य एव दर्शन माना है। जहॉ सौन्दर्य है, वहॉ प्रेम है। सौन्दर्य और प्रेम के सम्मिलन से ही आनन्द का उद्भव होता है। सूफी कवियो का मत है कि सासारिक प्रेम, ईश्वरीय प्रेम की प्रथम सीढी है, जिस पर चढकर मानव की सृष्टि भी होती है।[1] ईश्वर प्रेम स्वरूप है और समस्त सृष्टि प्रेम की प्रतिमूर्ति मानी जाती है। सासारिक प्रेम मानव मन में अवस्थित मूलभूत प्रेम भावना का परिचायक है। यह प्रेम भावना सौन्दर्य के दर्शन मात्र से ही जागृत हो जाती है। अत. इस संसार की समस्त सृष्टि का मूलाधार प्रेम और सौन्दर्य है। जायसी ने कहा है कि तीनों लोको तथा चौदहो खण्डों मे मुझे सर्वत्र यही सूझ पडता है कि प्रेम के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सुन्दर नहीं है।[2]

प्रेम की तरह सौन्दर्य की स्पष्ट परिभाषा देना अत्यन्त कठिन तथा दुरूह कार्य लगता है। सौन्दर्य एक भावात्मक शब्द है जिसकी परिभाषा देना असभव जान पडता है। वस्तुतः सौन्दर्य का सम्बन्ध हृदय से है, चित्त की वृत्ति से है। जहॉ चित्त की वृत्ति रम जाय, वहीं सौन्दर्य का आवास होता है। अतएव सौन्दर्य के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योकि सौन्दर्य कोई स्थिर या जड

1 डॉ० विमल कुमार–सूफी मत और हिन्दी साहित्य, पृ०–185
2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–जायसी ग्रथावली (सपादित), पृ०–39

पदार्थ नही है, उसमें निरन्तर गतिशीलता रहती है। यही जीवन का भी लक्षण है। चित्त का रमण बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा नहीं, हृदय की रागात्मकता से ही होता है, जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है– 'कुछ रूप रंग की वस्तुऍ ऐसी होती है, जो हमारे मन मे आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकर कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते है। हमारी अन्तर्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुकृति है।'[1]

इस अनुभूति के हृदय में आने पर समस्त विकार स्वत ही पलायन कर जाते है, इसलिए प्रसाद जी ने लिखा है– यह "चेतना की अनुभूति का उज्ज्वल वरदान है।"[2] कालिदास का भी यही मत है। सौन्दर्य भावना सतोगुणी भावना है, उसमे पाप वृद्धि के लिए स्थान नहीं है, जहॉ विकार है, पाप है, वहॉ सौन्दर्य हो ही नही सकता।

यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तदवचः

पन्त जी ने सौन्दर्य मे सत्य और शिव का दर्शन करते हुए कहा है –

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।

यहॉ कवि ने सौन्दर्य की अवस्थिति, विचार, भाव, कार्य और रूप सभी में स्वीकार की है। केवल किसी रूप में ही चित्त को रमाने की शक्ति नही होती, अपितु कोई भाव विचार या कार्य भी चित्त को रमा सकता है और उसी में सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है। इस अनुभूति मे आनन्द के कारण ही रमणीयता आती है। डॉ० हरद्वारी लाल का कथन है–"वस्तु का सौन्दर्य उसका आध्यात्मिक रूप है । वह जिस चेतना को जन्म देता है, उसे रस या आनन्द कहा जाता है।" गोस्वामी तुलसी दास की सौन्दर्य भावना ऐसी ही है जिसमें भावित होकर उन्होने जिस सौन्दर्य का चित्रण किया है। वह अनायास सहृदय–संवेद्य बन जाता है, चाहे वह रूप सौन्दर्य

---

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–रस मीमासा, पृष्ठ–25
2. जयशकर प्रसाद–कामायनी (लज्जा सर्ग), पृ०–102

हो, भाव सौन्दर्य या वस्तु सौन्दर्य। विशेषता यह है कि उसकी अभिव्यक्ति मे भी एक अपूर्व सौन्दर्य निहित है।

इस संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने की चेष्टा की गई है। सौन्दर्य का अर्थ सुन्दर होने की अवस्था गुण या भाव सुन्दरता–किसी वस्तु का वह गुण तत्व समूह जो उसके आकार या रूप को आकर्षक और नेत्रों के लिए सुखद बनता है, अग्रेजी में इसे ब्यूटी (Beauty) कहते है।"[1]

ऋग्वेद के कई मंत्रों मे 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो मे सुनर. (विशेषण) सुनरम (कारक) सुनरि (संबोधन) इत्यादि रूपो में हुआ है। इस शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ 'सुष्ठुनर. इति सुनरः' अर्थात् सुन्दर मानव है। इस व्युत्पत्ति से मानवीय सौन्दर्य ही लक्षित होता है। लेकिन कालान्तर मे इस शब्द का अर्थ–विस्तार भी हो गया है। वस्तुत. सुन्दररस्य भाव. सौन्दर्य, चरितार्थ होता है। अलंकारशास्त्र में चारुता तथा रमणीयता के अर्थ मे सौन्दर्य का प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त ने चारुत्व (सौन्दर्य) को काव्य की आत्मा बताया है। पं० जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ. प्रतिपादक : शब्द· काव्यम' बताया है।

किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहना सरल कार्य है, पर सौन्दर्य की रूप–रेखा खींचना सरल नहीं है। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए आधुनिक काल मे अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि,गहरे अध्ययन और चिन्तन का योग दिया है, फिर भी वे इस दिशा मे भारतीय मनीषियों से कहीं अधिक आगे बढ नही सके हैं।

भारत के सर्वप्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में उत्कृष्ट सौन्दर्य के तत्व निहित है। वेद मे सौन्दर्य तत्व की 'स्वस्ति' की सज्ञा दी गई है। 'स्वस्ति' शब्द सु' और 'अस्ति' के योग से बना है। 'सु' का अर्थ है– सुन्दर और अस्ति का अर्थ सत्य या सत्ता है।

---

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश, पाचवॉ खण्ड (सपादित), पृ०–462

अत 'स्वस्ति' का अर्थ सुन्दर सत्य या सत्य सुन्दर माना जा सकता है।[1] सुख और दुख की दो परस्पर विरोधी मनोवृत्तयों से समस्त प्राणियो का जीवन गतिशील बनता है। मानव में भी ये चित्रवृत्तियॉ जीवन–चक्र को आगे बढाती हैं। जिस वस्तु से मनुष्य का मन आकर्षित होकर आनन्द की अनुभूति मे मग्न होता है, वह सुन्दर कही जा सकती है। प्रकृति की कोमल तथा आकर्षण वस्तुएं मानव की आखों मे सुन्दर प्रतीत होती हैं क्योंकि ये उनके मन मे सुखद अनुभूति उत्पन्न करती हैं और वही सौन्दर्यानुभूति कही जाती है। सौन्दर्य के सम्बन्ध मे वैदिक दृष्टिकोण भी इस तत्व से अत्यन्त मिला–जुला है। यद्यपि वैदिक साहित्य मे 'सौन्दर्य' या सुन्दर शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि 'प्रिय' 'प्रमुद' 'मोद' आदि शब्दो के द्वारा जिस अनुभूति की ओर संकेत किया गया है, वस्तुत. वही सौन्दर्यानुभूति है।

पाश्चतात्य सौन्दर्य मीमासको ने सौन्दर्य को दो वर्गो मे बॉटा है–भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य। भौतिक सौन्दर्य वह है जो मनुष्य के मन मे बाह्य चक्षुओ द्वारा आनन्दनुभूति प्रदान करता है। उदीयमान सूर्य की लालिमा, चॉदनी रात की धवलिमा तारों का झिलमिलाना, मनमोहिनी प्रेयसी का प्रेमसिचित कटाक्ष आदि किसको आमोदित और विमोहित नही कर डालते। भौतिक सौन्दर्य के दो भेद है–प्रकृति सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य। प्रकृति का सौन्दर्य प्रेक्षक अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार अवलोकन करता है और आवास्वादन भी। सौन्दर्य का बोध पचेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। सुन्दर वस्तु देखने, सुनने और अनुभव करने से सुन्दर प्रतीत होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य का भी विविध रूपों में हमे अनुभव होता है। मानवीय सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्री और पुरुष दोनों का सौन्दर्य आता हैं।

सौन्दर्य का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है। प्राचीन यूनानी विद्वान सुकरात 'सत्य शिवम् सुन्दरम्' को एक ही मानते थे। वे वस्तुओ की उपयोगिता को प्रधान मानकर उपयोग की मात्रा के अनुसार सौन्दर्य का निरीक्षण करते थे। उनका मत था कि गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है जबकि सुवर्णढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से

---

1 डॉ० फतेहसिंह–भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ०–1

अपूर्ण है। इस प्रकार सुकरात उपयोगिता को सौन्दर्य का पर्यायवाची भी मानते थे। प्लेटो ने प्रत्यक्ष ससार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी अलौकिक शक्ति से संबंधित माना है। कबीर जैसे भारतीय रहस्यवादी साधकों के विचारो से भी यह पर्याप्त साम्य रखता है। लेकिन आधुनिक विद्वान इस विचारधारा का खण्डन करते है। हरवर्ट महोदय ने सौन्दर्य को वस्तु विशेष पर आधारित न मानकर द्रष्टा की भावना पर आश्रित बताया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने बताया है कि भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य मानव की मानसवृत्ति की महत्वपूर्ण देन है और वह हमारे मन मे उद्भुत होकर बाह्य वस्तुओ पर प्रकट होता है।

प्रेम सौन्दर्य पर आधारित है। प्रिया के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन अथवा श्रवण से ही प्रेमी के हृदय मे प्रेम की उत्पत्ति होती है। उसमान का मत है "जहाँ रूप है, वही प्रेम है, और जहाँ प्रेम है वहाँ बिरह भी है।[1] साहित्यिक दृष्टि से रूप और सौन्दर्य समानार्थक शब्द है। पर उनमें थोडी भिन्नताएँ भी है। रूप मे आकार और विविध अंगो के उचित संगठन और पुष्टि का सौन्दर्य रहता है। अर्थात् रूप मे आकारगत शोभा का महत्व रहता है और सौन्दर्य उस आकार मे स्थित छवि का बोधक है।[2]

संस्कृत साहित्य में जो कल्पना की गयी है, वह रूप पर आधारित है। यदि रूप दीपक की बत्ती है, तो प्रेम उसकी ज्योति है। प्रेमी पतंग उसकी प्रज्वलित ज्वाला की सुन्दरता मे आकृष्ट होकर उस पर कूदकर अपने आप को जला देता है। यह रूप अथवा सौन्दर्य के आस्वादन के लिए प्रेमविह्वल होकर मृत्यु का आलिगन करता है। यह मृत्यु भी उस प्रेमी साधक को आनन्ददायक है। अतः सौन्दर्य किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण, स्मृति या कल्पना से प्राप्त आनन्द की प्रतीति है। अलगजाली ने सौन्दर्य और प्रेम के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अपने मत को व्यक्त किया है–

---

1. उसमान–चित्रावली, पृ०–13
2 डॉ० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल–मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य मे रूप–सौन्दर्य, पृ०–10

'सौन्दर्य वह है जो वास्तव मे प्रेम को जन्म देता है। अतः आत्मा लौकिक सौन्दर्य पर टिकी नहीं रहती, बल्कि इस सौन्दर्य से गुजरते हुए उसकी दृष्टि अन्यत्र लगी रहती है। वह सर्वोत्तम से प्रेम करने के पक्ष में है जिसे ईश्वरीय सौन्दर्य कहते है। वही संसार के सौन्दर्य का मूल स्रोत भी है। जहाँ सौन्दर्य होगा, वहाँ प्रेम भी हो जायेगा, इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता और यह भी मानना होगा कि सौन्दर्य जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक प्रेम भी होगा। पूर्ण सौन्दर्य केवल उसमे ही है, अतः वही सच्चे प्रेम का अधिकारी भी है।[1] ईश्वर ने प्रेम के वशीभूत होकर समस्त ससार की सृष्टि की है, इस कारण यह संसार प्रेम का प्रत्यक्ष रूप है। अतः ईश्वर प्रदत्त सारी वस्तुएँ सुन्दर दीख पडती है और ये प्रेम में परिपूर्ण परिप्लुत भी हैं। सौन्दर्य जो वस्तुनिष्ठ सत्ता होने पर भी जीवन के विविध क्षेत्रो में स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत भी है। जो वस्तु एक व्यक्ति की दृष्टि मे सुन्दर दीख पडती है, वही वस्तु दूसरे की दृष्टि में कभी–कभी असुन्दर प्रतीत होती है। सौन्दर्य का मानदण्ड व्यक्ति की पसन्द है। सौन्दर्य का अनुभव सर्वप्रथम प्रेक्षक की ऑखो मे होता है।'

साहित्य में नारी सौन्दर्य का चित्र अधिक खीचा गया है। भारत के प्राचीन कवियो ने नारी–सौन्दर्य के चित्रण में शारीरिक रूप–लावण्य के साथ मानसिक सुन्दरता एव चरित्रगत आदर्श जीवन को भी स्थान दे दिया है। सौन्दर्य प्रत्येक व्यक्ति की रूचि पर पूर्ण रूप से अवलम्बित है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य विचारधारा भी भिन्न है। कारण यह है कि सामाजिक परिस्थिति तथा संस्कृति के अनुसार–सौन्दर्य का मानदण्ड परिवर्तित दीख पडता है। इस कारण यह जान पडता है कि सौन्दर्य व्यक्तिनिष्ठ ही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वस्तु परे से नही द्रष्टा मे निहित है।

सैन्दर्य की प्रधानत· तीन गुण होते हैं। प्रत्येक सुन्दर वस्तु मे भी ये गुण विद्यमान हैं। वे हैं–आकर्षण, नवीनता और आनन्द प्राप्ति। रमणीयता के कारण आकर्षण होता है और आकर्षण से सौन्दर्य की प्रतीत होती है। जो वस्तु जितनी ही

---

1 डॉ० दशरथ राज–दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य, पृ०–47

रमणीय होती है, उतना ही उसका आकर्षण एव सौन्दर्य बढ जाता है। जिस वस्तु मे आकर्षण होता है उसमें प्रेमी पात्र नीवनता का अनुभव करने लगता है। नवीनता की अनुभूति भी मन और ऑख की प्रियता पर आश्रित है। सौन्दर्य मे प्रियता का भाव अधिक है, इसलिए हमारे साहित्यकारों ने सुन्दर कलाओ की सृष्टि के लिए माधुर्य भाव को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है। सुन्दर वस्तु वह है, जिसमें रामणीयता एवं नवीनता के साथ माधुर्य भी उपस्थित है। रमणीयता का रूप क्षण–क्षण मे उत्पन्न होने वाली नवीनता से ही प्रकट होता है। नर–नारी की शारीरिक एव मानसिक भिन्नता ही उनके पारस्परिक आकर्षण का मूल कारण है। यह आकर्षण अनादि काल से बना हुआ है।[1] सुन्दर वस्तु हमेशा आनन्ददायक बनी रहती है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य भी आनन्द प्राप्ति है। नितान्त नवीन तथा आकर्षक सौन्दर्य आनन्दप्रद भी बन जाता है। इस सौन्दर्य की आनन्दानुभूति के कारण मन मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य और आनन्द को प्राय· पर्याय माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र का विषय भी वह सौन्दर्य है जो इन्द्रियो को सुख देता है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की शब्दावली में कला का मूल तत्व सौन्दर्य है और भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार–'रस'। नर–नारी का आकर्षण ही इन्द्रिय सुख की नीव है। अत इनके पारस्परिक आकर्षण से मंगलमय काम वृत्ति का आविर्भाव होता है।

प्रेम और काम :– मनुष्य अपने सामाजिक जीवन मे प्रेम भावना के कारण एक दूसरे से संबंधित रहते है इस प्रेम भावना के मूल में काम विद्यमान है। परन्तु जब तक यह काम परिष्कृत, परिमार्जित और निर्मल नही हो जाता तब तक वह प्रांजल प्रेम–भावना नहीं बन पाती।

भारत जैसे धर्म प्राण देश मे वैदिक काल से ही मानव काम को धर्म प्रेरित प्रक्रिया मानता आया है। ऋग्वेद मे 'काम' शब्द कामना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मानव सृष्टि के मूल में भी यही 'काम' कार्य करता है। आदि पराशक्ति की कामना

---

1 रामबहोरी शुक्ल & भगीरथ मिश्र–हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास, पृ०–125

के कारण आदि मानव की सृष्टि हुई और कामना के फलस्वरूप मानव की सृष्टि का विस्तार भी होने लगा। वस्तुत· काम शब्द सृष्टि के परमतत्व के लिए ही प्रयुक्त होता है।[1] 'काम' शब्द का प्रयोग इच्छा अभिलाषा, कामना, मनोरथ वासना आदि अर्थो में भी किया जाता है।

वैदिक साहित्य में 'काम' और 'प्रेम' पर्यायवाची शब्द हैं। यद्यपि प्रेम शब्द का प्रयोग उसी रूप मे वैदिक साहित्य दीख नही पडता, तथापि उसके अर्थ में काम शब्द का प्रयोग यत्र–तत्र दुष्टिगत होता है। ऋग्वेद मे काम से बने 'कामी' शब्द का अर्थ वासनामय पुरुष के लिए प्रयुक्त है।

अथर्ववेद के काम–सूक्त मे काम को सकल्पमय अर्थ में ग्रहण किया गया है। तैत्तरीय ब्राह्मण मे काम को समुद्र के समान विशाल एवं अगाध माना गया है।।

भगवान कृष्ण ने भी भगवद्गीता मे काम को धर्म के मार्ग मे एक बडी रुकावट के रूप में कहा है। भारतीय धर्म शास्त्र मे काम की गणना चार पुरुषार्थो में (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) करके उसका महत्व स्पष्ट कर दिया गया है।

'काममय एवायं पुरुष' अर्थात् पुरुष काममय ही है, काममय एव इच्छामय. अर्थात्–काम इच्छामय ही है। इन उक्तियो मे काम की सर्वव्यापकता परिलक्षित होती है। अथर्ववेद मे काम को देवता के रूप प्रतिष्ठित किया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मानवीय अन्तर्वृत्तियों में काम का महत्वपूर्ण स्थान है। काम मानव की एक नैसर्गिक प्रेरणा है जिसका मूल कारण प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति करना है। नर–नारी का आकर्षण, काम समन्वित प्रेम भाव और मिलनेच्छा काम की प्राकृतिक प्रेरणा है, जिसकी उत्कट तीव्रता यौवन में ही संभव होती है। नर अकेले अधूरा है, उसकी पूरणी है नारी। सर्वशक्तिमान शिव भी अकेले अपूर्ण है, शक्ति के मिलन से ही सम्पूर्ण बन जाते हैं, इसलिए उनको अर्धनारीश्वर' भी कहा जाता है। कोशों में 'अर्धनारीश्वर' शब्द शिव के लिए पर्यायवाची शब्द भी बन गया

---

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ०–510

है।[1] नर–नारी की मिलनेच्छा उनकी आन्तरिक प्रेरणा है, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक है। सन्तान प्राप्ति के मूल में अमरता की इच्छा भी होती है। इसी काम भाव को साहित्य मे रतिभाव भी कहा जाता है।

काम भाव को बौद्ध दर्शन मे कामतृष्णा और चरक संहिता मे प्राणेषणा कहा गया है।[2] भोग की इच्छा मनुष्य मन की सबसे प्रबल और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जिसके कारण वह दूसरे की ओर आकर्षित होने की प्रबल इच्छा रखता है। यही मूलभूत इच्छा कालान्तर में कामशास्त्र के निष्पति का कारण बनती है एवं विद्वानो की लिए चर्चा का भी विषय बनती है। काम मनुष्य के स्वभाव में निहित है जिसका प्रकाशन स्त्री–पुरुष के शारीरिक संयोग से स्पष्ट होता है। कामशास्त्र के अनुसार–स्त्री–पुरूष के मन में व्याप्त विषय–वासना को ही काम कहा जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि काम शास्त्र के प्रथम आचार्य महादेव के अनुसार नन्द किशोर थे।[3] लेकिन इनकी कोई रचना उपलब्ध नही है।

कामशास्त्र के सर्वप्रथम लेखक उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को माना जाता है। परन्तु कामशास्त्र के विषय में सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप मे ग्रथ रचने का श्रेय महर्षि वात्स्यायन को प्राप्त है। देवव्रत शास्त्री ने लिखा है–वात्स्यायन ने काम और प्रेम को एक ही माना है। उन्होंने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर 'कामसूत्र' की रचना की थी।[4] अज्ञानता के कारण मनुष्य कभी–कभी बडी–बडी गलतियॉ कर डालते है इसलिए ऐसे लोगों को मार्ग निर्देश देना ऋषि–मुनियो अथवा विद्वानो का कर्त्तव्य रहा है। अतः मानव जीवन की सबसे शक्तिशाली काम तत्व के उपयोग का विशद अध्ययन प्रस्तुत करके वात्स्यायन ने इहलोक जीवन की सफलता का मार्ग–निर्देश किया है। वात्स्यायन ने काम भावना उत्तेजित करके जीवन को सदाचारहीन बनाने का कभी प्रयास नही किया, लेकिन 'कामसूत्र' मे जो अश्लील चर्चा की गयी है, वह अनभिज्ञ और अनुभवहीन लोगो की कामशास्त्र और

---

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश (प्रथम खण्ड), पृ०–184
2 डॉ० रामलखन पाण्डेय–मध्यकालीन सत साहित्य, पृ०–408
3 डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी–शृगार रस का शास्त्रीय विवेचन, पृ०–76
4 देवदत्त शास्त्री–हिन्दी कामसूत्र (आमुख), पृ०–6

रति रहस्य का महत्व समझने के लिये ही है। प्रो० चाकलधर ने कामसूत्र की रचना मे वात्स्यायन के उद्देश्यों का स्पष्ट करते हुये लिखा है–'उन्होंने स्वय विशुद्ध ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत किया था। कामजन्य वासना की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिये नही परन्तु विश्व मंगल की महत्वपूर्ण भावना से प्रेरित होकर ही उन्होने 'कामसूत्र' की रचना की थी। इसकी रचना करते समय वे निगूढ चिन्तन में समाधिस्थ से हो जाते थे।'

मनुष्य के आदर्शपूर्ण इहलौकिक जीवन की सफलता, धर्म, अर्थ और काम के उचित भोग और उपभोग में ही सन्निहित है। एक निर्मल चित्त वाला मनुष्य काम के उपभोग के समय अर्थ और धर्म का निषेध नहीं करता। काम किसी प्रकार के धर्म का बाधक नहीं है बल्कि वह धर्म से नियंत्रित है। भगवद्गीता मे भी कहा गया है कि ईश्वर ऐसी कामनाओं मे विद्यमान है, जिसमे धर्म का निषेध नही होता। इससे स्पष्ट है कि धर्म के क्षेत्र मे भी काम का महत्व पूर्ण स्थान है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है, "पडितो का कथन है कि काम प्रेम का ही वैदिक रूप था, यद्यपि पीछे इसका प्रयोग क्रमशः संकुचित अर्थ में होने लगा और इससे हेय अथवा कुत्सित अर्थ की भी व्यंजना होने लगी।[1]

वस्तुतः काम मनुष्य के लिए आनन्द का उपाय है। आदि मनुष्य मनु ने भी काम की व्यापकता को समझा था कि 'इस ससार में कहीं भी अकामता नही है। कोई भी क्रिया कहीं भी अकाम नही देखी जाती।'

महाकवि सूर की दृष्टि मे प्रेम और काम अभिन्न हैं। प्रेम के व्यापक अर्थ को सुस्पष्ट करते हुए सूर ने 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया है जो कि प्रेम का पर्याय ही है। 'प्रीति' अथवा प्रेम की मूल प्रेरक वृत्ति स्त्री पुरुष की रति भावना या काम वृत्ति है।

प्रीति जानने जननी सुत, कारन को न अपनयौ हारे?
सूर श्याम सो प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै।।[2]

---

1 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–हिन्दी काव्यधारा मे प्रेम–प्रवाह, पृ०–3–4
2. आचार्य रामचन्द्र शक्ल–भ्रमरगीत सार (सम्पादक), पद–121, पृष्ठ–50

सूरदास ने ब्रजभूमि के 'प्रेमी कृष्ण' को कामी कान्त के रूप में भी देखा है। सूर के कृष्ण, राधा और गोपियॉ सब किसी प्रकार की अलौकिक शक्तिशाली काम वेदना से पीडित है, जिनकी पीडा का हरण शारीरिक मिलन मे ही है।

डॉ० रूप नारायण ने यह सिद्ध कर दिया है कि माधुर्य भक्ति के मूल मे भी कामवृत्ति ही काम करती है और वह कभी उदात्त रूप भी प्राप्त करती है। डॉ० बच्चन सिंह की राय है कि "मनोवैज्ञानिक काम मे जहॉ मन और आत्मा का संश्लेषण होता है, वही प्रेम है। काम मूल प्रवृत्ति और प्रेमभाव है। भाव एक मानसिक स्थिति है, स्थूल सभोग प्रवृत्ति नही।"[1]

डॉ० मिथिलेश कान्ति ने धर्म और काम भावना का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है कि "यर्थाथ मे यदि भक्ति साहित्य से काम–भावना निकाल दी जाये तो उसके बाद जो कुछ बच रहेगा, वह अत्यल्प, नीरस, अनाकर्षक और प्रायः महत्वहीन होगा। इस काम भावना के निष्कासन से न जाने कितने भक्ति सम्प्रदायो की नीव ही हिल जायेगी।"[2]

जिन लोगो ने 'काम' और 'प्रेम' को एक ही माना है और मानव–जीवन की मूलवृत्ति के रूप मे उसे स्वीकार किया है, यह अनुभव की दृष्टि से युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। काम और प्रेम का सम्बन्ध अवश्य होता है पर इन दोनो को एक समान मानना उचित नही है।

इन दोनों वृत्तियों के कर्मक्षेत्र में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। काम केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है, जबकि प्रेम इससे ऊपर उठकर हृदय–हृदय के मिलन और एकात्मकता पर आधारित है। प्रेम मे दृढ़ता, एकोन्मुखता, गभीरता और नि.स्वार्थता होती है। पर काम वृत्ति क्षणिक, चचल और अस्थिर होती है।

---

1 डॉ० बच्चन सिह–रीतिकालीन कवियो की प्रेम व्यजना, पृ०–96
2 डॉ० मिभिलेश–'हिन्दी भक्ति शृगार का स्वरूप'

वृन्दावन की गोपियॉ केवल कृष्ण प्रेम ही चाहती थीं और उस प्रेम के लिए सारे सुख, सम्पत्ति और परिवार के भी परित्याग करने को वे तैयार थी। इस त्याग–भाव का महत्व केवल प्रेम में ही है, काम में नही। प्रेमतत्व (शृंगार) के दो पक्ष है सयोग एवं वियोग–शृंगार। भक्ति काव्य में सयोग से ज्यादा वियोग की व्यापकता दिखाई देती है।

हिन्दी के अधिकतर काव्य शात्रियों ने शृगार रस का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है–हिन्दी काव्य–शास्त्र मे रस को काव्य की आत्मा माना गया है नवो रसों मे सबसे व्यापक शृगार रस है। शृंगार के अन्तर्गत जितनी मानवीय वृत्तियो का समाहार होता है, उतना अन्य रसों मे नही। इसलिए शृंगार का रस राज नाम सार्थक सिद्ध होता है।

मध्यकालीन हिन्दी के आचार्यों का आदर्श स्वकीयाप्रेम ही है। शृगार का स्थायी भाव रति है और उसका व्यावहारिक रूप प्रेम है। 'रति' भाव जीवन का आकर्षण है। रति भावना के अभाव मे मनुष्य का जीवन चैतन्य हीन एव निर्जीव बन जाता है।

शृंगार का स्वरूप :– शृगार के दो रूप हो सकते हैं– (1) लौकिक शृंगार (2) अलौकिक शृगार

सामान्य स्त्री–पुरुष के मन में उत्पन्न रति भाव लौकिक शृंगार की निष्पत्ति करता है और ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना जिस भक्त के हृदय मे उत्पन्न होती है, उसके कारण जो भगवद विषयक रति या प्रेम भाव उद्‌भूत होता है, उसे अलौकिक शृंगार कहते है।

आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में भी लौकिक दाम्पत्य भावना पूर्ण रूप से विद्यमान है, अतः इसमें शृंगार के तत्व निहित है। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक संतों ने सर्वव्यापी निर्गुण परब्रहम के लिए मिलन–विरह के जो अनुपम गीत गाये हैं वे अलौकिक शृंगार या आध्यात्मिक शृंगार की श्रेणी मे माननीय है।

वियोग शृंगार :– रस सिद्धान्त मे वियोग शृगार का स्थान सार्वोपरि है। व्यापकता, गहराई, महत्व और प्रभाव की दृष्टि से काव्य शास्त्र मे भी विप्रलम्भ शृंगार ही शृगार रस का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

मानव मन को क्रियाशील बनाने वाली प्रेम–भावना की अभिव्यक्ति संयोग की अपेक्षा वियोग मे अधिक हो सकती है। शृंगार रस की पुरिपुष्टि के लिए वियोग अत्यन्त आवश्यक है।

वियोग और विप्रलम्भ दोनों साहित्य में समानार्थी शब्द है। लभ् धातु का अर्थ है 'प्राप्ति' 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष'। 'वि' का अर्थ 'वचना' अर्थात् जहॉ प्राप्ति की इच्छा का प्रकर्ष होने पर भी 'बंचना ' होती है अर्थात् अप्राप्ति होती है वही विप्रलम्भ होती है।[1]

सभी कवियो ने नायक–नायिका के अलग होने पर होने वाले सताप को ही विप्रलम्भ माना है। वस्तुत. उत्कट अनुराग के होने पर भी जब प्रिय–प्रिया सयोग का अभाव रहता है उस अवस्था को विप्रलम्भ मानना चाहिए।

इसके चार भेद माने गये है– (1) पूर्वराग (2) मान (3) प्रवास (4) करूण।

पूर्वराग में नायक–नायिका के मिलन के पूर्व ह्रदय में अनुराग उत्पन्न होता है। इस संकल्पमय प्रेम–भाव को पूर्वराग कहते है। सूफी काव्य में प्रेम का उदय साक्षात् दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन या रूप–गुण श्रवण से होता है। मर्यादावादी तुलसीदास ने भी भगवान राम और सीता के प्रथम दर्शन को प्रेमांकुर का कारण बताया है। जनक की वाटिका मे राम तो सीता के नुपूरों की ध्वनि ही सुनकर अपने ह्रदय में रति का प्रभाव अनुभव करने लगते है। सीता भी उन्हे एकटक निहारती रह जाती है। राधा–कृष्ण का प्रेम भी प्रथम दर्शन से उत्पन्न होता है, सूर ने उनके पूर्व–राग का खूब चित्रण किया है।

---

1. डॉ० मधुर मालती सिह–आधुनिक हिन्दी काव्य मे विरह भावना, पृ०–31

ईर्ष्या या क्रोध के कारण नायक–नायिका के सयोग–प्रतिबद्ध की दशा को मान कहते है।

प्रवास विप्रलम्भ में नायक–नायिका में से किसी एक का परदेश में होना प्रवास कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप जो वेदना होती है, उसे प्रवास विप्रलम्भ माना जाता है। प्रिय के प्रवास काल में उत्पन्न विरह वेदना बहुत गंभीर तथा व्यापक होती है। हिन्दी के सूर, जायसी, घनानन्द आदि मध्यकाल के कवियों ने प्रवास विप्रलम्भ का अनुपम वर्णन किया है।

नायक–नायिका में से किसी एक के दिवगत हो जाने पर दूसरा जो दुखी होता है तो उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते है। अत स्पष्ट है कि जहॉ प्रेम है, वहॉ विरह है और वह विरह पीडा, तडपन आदि रूपो मे प्रकट होता है विरह की सर्वव्यापकता की स्पष्ट करते हुए महाकवि सूर ने कहा है–

उधौ विरहौ प्रेम करै[1]

उसमान कवि ने कहा है–

रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा
दुनहूँ मिलि बिरहा उपजावा।।
जहाँ प्रेम तहाँ विरहा जानहुँ
बिरह बात जनि लघुकरि मानहु।।

आगे उसमान कवि कहते है–

रूप प्रेम विरहा जगत, मूल सृष्टि के थम्भ

इस प्रकार जहॉ सौन्दर्य है, वहॉ प्रेम है और प्रेम का परिपाक विरह मे ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य और विरह का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है प्रेम मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है और विरह उसकी आत्मा है। प्रेम का वास्तविक गौरव विरह में है, क्योंकि विरह के बिना प्रेम का अस्तित्व ही निर्मूल है। प्रसिद्ध सत दादू दयाल ने इसलिए कहा है–

---

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–भ्रमरगीत सार (सपा0), पद स0–202

पहिला आगम विरह का, पीछइ प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लवलीन मन, तहाँ मिलन की आस।

विरह की दस मानसिक–अवस्थाएँ हैं। इन्हें विरह की दस दशाए कहना युक्ति सगत होगा–

वियोगावस्था में नायक–नायिक परस्पर मिलन की अभिलाषा करने लगते है। यह अवस्था पूर्वराग मे विशेष रूप से होती है। यह विरह दशा के प्रथम सीढी है।

प्रिय दर्शन के अभिलाषा से मिलन के विविध उपायो को चिन्तन या चिंता कहते है। मिलन के मार्ग मे आने वाली रूकावटों को हटाने की चिता भी होती है।

प्रिय के अभाव में अपने विगत संयोग सुख की याद की स्मृति कहते है। नायिका प्रेमाधिक्य के कारण प्रिय का स्मरण किये बिना नहीं रह सकती। इस स्मृति मे आनन्द भी है।

वियोगावस्था मे प्रिय के गुणो का वर्णन करना गुणकथन कहलाता है।

प्रिय–वियोग के कारण मन मे उत्पन्न उत्कट इच्छा और विवशता के सघर्ष से व्याकुल होकर किसी विषय मे चित्त के न लगने और अस्वस्थ होने का नाम ही उद्वेग है।

विरह जन्य वेदना के कारण मन की असंतुलित अवस्था मे नायिका अपने प्रिय की अनुपस्थिति में भी उसे उपस्थित मानकर जो निरर्थक बातें करने लगती है उसे प्रलाप कहते हैं।

जब विरहिणी प्रलाप करते–करते असंयमित एवं असतुलित व्यवहार करने लगती है तब उसे उन्माद कहते हैं।

विरह वेदना से प्रिया उन्मादिनी वन जाती है और अनियमित चेष्टाओ तथा व्यापारो से उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल होने लगता है। शरीर दुर्बलता और थकावट के कारण रोग ग्रसित हो जाता है। इसी अवस्था को व्याधि कहते है।

वियोगजन्य पीडा के आधिक्य के कारण शरीर के स्तब्ध होने को जडता कहते हैं।

प्राण—त्याग का नाम 'मरण' है प्रायः कवि विप्रलम्भ में मरण का वर्णन नही करते क्योकि वहॉ शोक का स्थायी भाव है और इससे करूण रस की निष्पत्ति होती है। अत. विरह में मरण को विरही की मरणासन्न दशा माननी चाहिए।

विरह के आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्ष :— विरह भावना और रहस्यावाद का सम्बन्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त निकटतम है आध्यात्मिक दृष्टि से विरह भावना को रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है। रहस्यवाद की चर्चा आगे की गई है। यहॉ विरह की दार्शनिक अवस्था का निरूपण किया गया है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए मानव के हृदय में सहज आकांक्षा और उत्कठा होती है। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य जिस परम सत्ता का अंश है उसी में पुन. समा जाने की इच्छा प्रकट करता है आत्मा और परमात्मा के मिलन से ही आनन्द की प्राप्ति होती है इसलिए दाम्पत्य प्रेम का माधुर्य इस आध्यात्मिक मिलन का प्रतीक माना गया है। आत्मा और परमात्मा के संयोग के लिए जहॉ रूकावट है, वहॉ उनका विरह भाव शुरू होता है आध्यात्मिक दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा के मधुर सम्बन्ध को ही रहस्यवाद माना जाता है।

रहस्य—भावना शुद्ध प्रेम भावना ही है। वह प्राणी प्राणी का प्रेम न होकर, जीवात्मा और परमात्मा का विशुद्ध प्रेम है। आध्यात्मिक प्रेम का माधुर्य उसके विरह में ही हैं। विरह तो आध्यात्मिक प्रेम का चरम सौन्दर्य है इसलिए जायसी ने कहा है— कि प्रेम में विरह का सरस रस होने के कारण उसमे माधुर्य पूर्ण अमृत भरा है और उसकी मादकता भी मौजूद है। प्रेम की तीव्रता के अनुसार विरहानुभूति की उज्जवलता एवं गहराई होती है। विरह को जायसी ने 'प्रेम की पीर' कहा है।

भक्ति और विरह भावना :— भक्ति तो प्रेम का आध्यात्मिक रूप है और विरह प्रेम को पवित्र और उज्जवल बनाता है। विरह के द्वारा शुद्ध हुआ प्रेम—भक्ति का रूप

धारण करता है। स्पष्ट है कि प्रेम और भक्ति के विकास और उज्जवलता के लिए विरह अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति का महत्वपूर्ण सार तत्व प्रेम है। दक्षिण के आलावार सन्तों की भक्ति भावना मे प्रेम का भाव अत्यन्त समृद्ध था। और सूफियों की भक्ति भावना मे भी प्रेम की पीर खूब चित्रित होती है। राधा कृष्ण की प्रेम लीलापरक भक्ति मे भी प्रेम का सुन्दर चित्रण है।

भक्ति में प्रेम और श्रद्धा–श्रद्धा इन दोनों का सम्मिलन होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार – श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यबुद्धि की वृद्धि के साथ श्रद्धा–भजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, इसकी सत्ता के कई क्षणो के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय की वासना हो तब हृदय मे भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिये।[1]

सभी सन्त कवियों ने भजन को अपनी भक्ति साधना में मध्य माना है लेकिन ज्ञान के अभाव मे भक्ति की भावना अव्यवस्थित एव निर्मूल बन जाती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य भाव मे ही दृष्टिगोचर होती है, इसलिये यह प्रेम प्रायः ईश्वरीय प्रेम का स्थान ग्रहण करता है। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्य प्रेम आत्मदृष्टा कवियो में सब कहीं अपनाया जाता है।[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेम और भक्ति एक ही साधना के दो अंग है। प्रेम भगवद् प्राप्ति का सबसे सुगम साधन है। भक्ति स्वतः पूर्ण है। वह साधन नही साध्य है और उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इतिश्री है। प्राचीन काल के ऋषि मुनियों ने भक्ति के द्वारा माया के बन्धनों से मुक्त होकर भगवद्साक्षार्त्कार प्राप्त करने का प्रयास किया।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–चिन्तामणि, भाग–1, पृ०–1945
2 डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल–हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ०–353

अध्याय–3

भक्ति का स्वरुप विवेचन

मनुष्य स्वभावतः आनन्द की प्राप्ति एव दुःखों से निवृत्ति चाहता है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति है। सभी शास्त्राचार्यों ने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि वास्तविक आनन्द तो भगवद् सानिध्य से ही प्राप्त हो सकता है। सांसारिक सुख सदा क्षणिक एव अस्थाई होते है। रोग, मृत्यु, बुढापा, ऋण आदि मनुष्य के मन में अशान्ति उत्पन्न करते है। जीवन के हर पहलू मे ही मानव दुःख का दर्शन करता है। इसीलिये भारतीय दार्शनिकों ने विश्व की सुखात्मक अनुभूति को भी दुखात्मक कहा है। यदि इन दु खों का कारण जानकर इनका निरोध (दुःख–निरोध) कर दिया जाय तो मनुष्य को दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इस प्रकार सांसारिक दु.खो की समाप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी को मोक्ष भी कहा गया है।

वास्तविक आनन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब मनुष्य अपनी आसक्तियो को सासारिक विषय–वासनाओ से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करे। ईश्वर से प्रेम करने का नाम ही भक्ति है। जीव का ईश्वर से संबंध स्थापित करने के चार साधना मार्ग बताये गये है–ज्ञान मार्ग, योग मार्ग, कर्म मार्ग एवं भक्ति मार्ग। इनमें भक्ति मार्ग को सहज साध्य स्वीकार किया गया है। ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया था। यह निवृत्ति का मार्ग है। ज्ञान मार्ग के द्वारा जीव और शिव का आत्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है, अर्थात् दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है। ज्ञान मार्गी आत्मा को ही परमात्मा समझते है। सृष्टि ही ईश्वरमय है। सृष्टि और स्रष्टा में कोई भेद नही है। भेद मिथ्यादृष्टि है। अभेद ही यथार्थ दृष्टि है। ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। उसे समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार सन्यास–मार्ग को अपनाना सभी के वश की बात नही है।

दूसरा मार्ग योग मार्ग है। पतजलि इसके प्रणेता माने जाते हैं। चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग कहलाता है। गीता में योग का अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन माना गया है। योग दर्शन में योग का अर्थ–राजयोग है। योग के आठ साधना मार्ग बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। समाधि योग की अंतिम अवस्था है। इस

अवस्था में मन अपने ध्येय विषय मे पूर्णतः लीन हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से चित्त–वृत्ति का निरोध हो जाता है और मनुष्य को आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। योग मार्ग भी सरल नहीं है।

तीसरा मार्ग कर्ममार्ग है। मीमांसा दर्शन मे कर्मकाण्ड के सिद्धान्त की पुष्टि पायी जा रही है इसलिये इसे कर्ममीमासा कहा जाता है। गीता मे कर्मयोग का सबसे गभीर विवेचन किया गया है। मीमांसा दर्शन के विकास का कारण कर्म की यथार्थता को प्रमाणित करना कहा जाता है। इसीलिये मीमांसा को कर्म का दर्शन कहा जाता है। तिलक के अनुसार–गीता 'कर्म योग प्रधान ग्रंथ' है। अर्जुन के हृदय में शोक और मोह का उदय हुआ था और वे कर्म मार्ग से हट रहे थे। अत. श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्मयोग का पाठ पढाया। अनासक्त कर्म ही कर्मयोग है। हम सुख–प्राप्ति और दुःख–परिहार के लिये ही कर्म करते हैं। अत आसक्ति को ही कर्म का मूल बताया गया है। भगवान कृष्ण का कहना है कि कर्मयोगी को इस आसक्ति पर विजय प्राप्त करनी चाहिये और अनासक्त कर्म का आचरण करना चाहिये। कर्मयोगी को सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय रुपी द्वन्द्व से ऊपर उठकर कर्म करना चाहिये। लेकिन यह मार्ग साधारण मनुष्य के लिये सभव नही है।

अत मे भक्ति मार्ग ही एक ऐसा मार्ग बचता है जो सभी के लिये सहज साध्य एव सर्वसुलभ है। भगवान का भजन, अर्चन, उपासना आदि करना ही भगवान की भक्ति है। अनन्य भाव की भक्ति ही ईश्वर के प्रति प्रेम है। निष्काम भक्ति ही सबसे उत्तम भक्ति मानी गयी है। सन्तों एवं भक्तो द्वारा भक्ति मार्ग के प्रतिपादन का एकमात्र उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म की जगह सगुण ब्रह्म की उपासना करना था। क्योकि सगुण ईश्वर की उपासना करना सभी के लिये सुलभ था। इसलिये सर्वप्रथम भक्ति का प्रतिपादन रामानुज द्वारा किया गया जिनका सिद्धान्त विशिष्टताद्वैत कहलाया। रामानुज के अनुसार–'भक्ति ईश्वर के प्रति मात्र प्रेम विषयक सवेग एव श्रद्धा का भाव नहीं है जो ज्ञान शून्य है, अपितु यह एक विशेष प्रकार ज्ञान है जो मानवीय मन को ईश्वर के प्रति अत्यधिक आसक्ति का भाव निर्मित करता है। इसलिये उन्होंने भक्ति को ध्यान और उपासना के तुल्य माना है रामनुज ने भक्ति,

ज्ञान एवं उपासना तीनों को पर्यायवाची शब्द माना है। 'श्री भाष्य' मे उन्होंने कहा है कि ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में प्रेमपूर्ण। चिन्तन करना भक्ति है। अपने मन को ईश्वर मे पूर्णत केन्द्रित करना उपासना कहा जाता है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्ण स्मरण करना तथा ईश्वर का ध्यान करना भक्ति हैं यह भक्ति भाव निश्रित ज्ञान है। इन्होने भक्ति को ज्ञान की पराकाष्ठा कहा हैं। मन मे भक्ति का संचार तभी होता है जब साधक ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में निरन्तर मनन, चिन्तन एव विचार करता है। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, प्रगाढ प्रेम एवं अविचल श्रद्धा के द्वारा निर्मित होती है। एक मुनष्य के हृदय में प्रेम का उदय तभी होता है जब वह अपने प्रेम के विषय के गुणों के सम्बन्ध में जानकारी रखता है। इस प्रकार ज्ञान उपासक के मन मे भक्ति के सचार के लिये परम आवश्यक है।

ज्ञान भक्ति के लिये पृष्ठभूमि का कार्य करता है। रामानुज ने भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म की भूमिका पर भी बल दिया। वे निष्काम कर्म की बात आत्म ज्ञान एवं आत्म प्राप्ति के लिये करते हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्म भक्ति कर्म भक्ति के विरोधी नही अपितु वे भक्ति के तत्वों के रुप में प्रतिष्ठित है।

'भक्ति' शब्द 'भजसेवायाम्' घातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है, जिसका अर्थ है– भगवान की सेवा। शांडिल्य भक्तिसूत्र में ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति माना गया है।–"सा परानुरक्तिरीश्वरे।" नारद भक्ति–सूत्र के अनुसार–भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरुपा है और अमृत–स्वरुपा भी। जिस परम–प्रेमरुपा और अमृत–स्वरुपा भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध जाता है और अमर हो जाता है, इस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु मे आसक्त होता है, विषय भोगो के प्रति उसको कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मग्न रहता है। भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है– "मनुष्य के लिए श्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान श्री कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द, स्वरुप भगवान की

उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।" 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि अविवेकी पुरुषो की विषयों मे जैसी अविचल आसक्ति रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदय से कभी भी दूर न हो।" भक्ति की परिभाषा वैष्णव सम्प्रदाय में इस प्रकार दी गई है–"भक्ति का सार है–प्रपत्ति। प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा संपादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होती है।" महाप्रभु बल्लभ ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है–"भगवान में महात्म्यपूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है।" और भी अनेक आचार्ये ने भक्ति के लक्षण किये है, परन्तु उन सभी लक्षणों में दो लक्षणों पर विशेष जोर दिया गया है– 1 ईश्वर के प्रति अन्नय प्रेम, 2. सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के तीन स्वरुप मिलते है– 1. विशुद्ध भक्ति, 2. नवधा भक्ति, 3. प्रेमाभक्ति। श्रीमद्भागवत मे विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानो पर हुआ है। एकादश स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में भक्ति को योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान आदि से भी ऊपर माना है। नवम स्कन्ध में भगवान ने घोषणा की है कि मै भक्तों के अधीन हूॅ। मुझे केवल भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है। श्रीमद्भगवतगीता मे भी इसी प्रकार की भक्ति की ओर संकेत किया है। श्रीमद्भागवत की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है तथा भक्ति–सहित ज्ञान का निरुपण हुआ है। ज्ञान की अन्तरंग साधना मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी "न तत्रोपायसहस्त्राणाम्" कह कर भक्ति को ही मुख्य माना है। ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य भागवतकार ने स्थान–स्थान पर किया है।

भक्ति के तत्व :– भक्ति के प्रमुख तत्व इस प्रकार है– 1. प्रेम, 2. सेवा, 3. महात्म्य ज्ञान, 4. अविच्छिन्नता, 5. निष्काम भक्ति, 6. भाव भक्ति, 7. सख्य भक्ति, 8. वात्सल्य भक्ति। इन तत्वों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है–

भक्ति का सार्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रेम है, यह कहना तनिक भी अनुचित न होगा। वास्तव में यह तत्व ही आधार है जो भक्ति को अन्य साधना मार्गो से पृथक

ही नही करता, श्रेष्ठ भी बनाता है। यों तो भागवतकार ने कहा है, "जो पुरुष भगवान में निरन्तर काम,क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द्र का भाव रखते है वे भी तन्मयता को प्राप्त हो जाते है।" श्री बल्लभाचार्य ने लिखा है, "सर्वदा सर्व भावेन भजनीय" बज्राधिपः। परन्तु जैसा कि पूर्व कथित परिभाषाओ से ज्ञात होता है कि रागतत्व का, भक्ति के क्षेत्र मे, जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेमभावना में होता है वैसा अन्यत्र कही नही। यह प्रेम भावना अनेक रुप ले सकती है। पुष्टिमार्गीय गोपेश्वर महाराज ने अपने 'भक्ति मार्तण्ड' नामक ग्रंथ में प्रेम सवधी कतिपय विचारों का सकलन किया है। इस संकलन के अनुसार 'भक्ति चितामणि' में योग वियोग–वृत्ति को प्रेम कहा गया है। इन मंतव्यों मे एक विशेष आकर्षण या आकांक्षातत्व को प्रेम के मूल मे स्वीकार किया गया है, एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। आर्कषण जो जड के प्रति है वह चिद् के प्रति हो जाय– शर्त केवल इतनी हैं। जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति संदर्भ मे कहा है "जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावत ही विषयो के प्रति विषय–संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है जैसे ऑखो आदि का सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आर्कषण उत्पन्न होता है तब उसे 'राग' कहते है। परन्तु गोपेश्वर महाराज इस राग के इस आकांक्षा तत्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकांक्षा एक दूसरी आकांक्षा (पुरुषार्थ) का विषय नहीं बन सकती है। उनके अनुसार भक्ति मे 'भज्' धातु है एव 'क्तिन प्रत्यय हैं। धातु का अर्थ है सेवा और प्रत्यय का अर्थ है प्रेम। इन दोनो से मिलकर यह शब्द बनता है, और दोनो ही अर्थो को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर होती है एव सेवा के बिना प्रेम पूर्ण नहीं होता।[1]

गरुड पुराण की परिभाषा में व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा है। वास्तव में जहॉ भी सखी–भाव की उपासना स्वीकृत है वहॉ पर सेवा भावना अनिवार्य है। निम्बार्क, चैतन्य, राधाबल्लभी, हरिदासी एव रामभक्ति के मधुरोपासक, इन सम्प्रदायों मे सखी द्वारा युगल रुप की सेवा स्वीकृत है। पुष्टि मार्ग को तो सेवा मार्ग भी कहते हैं। बल्लाभाचार्य के अनुसार सेवा के तीन

1. एन०एस० दासगुप्त–भारतीय दर्शन का इतिहास (चतुर्थ खण्ड), पृ०–351

फल प्राप्त होते है—अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह। इनमें प्रथम सबसे श्रेष्ठ है जो कि मानसी सेवा का परिणाम है। दास्य—भाव की भक्ति का तो मुख्य आधार ही सेवा—तत्व है। वात्सल्य में पुत्र की सेवा होती है और सख्य—भाव मे सेवा या तो प्रिय की होती है या फिर महत् की।

बिना महात्म्य—ज्ञान के जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा, एव जब तक अहंता विद्यमान है तब तक प्रभु—प्राप्ति होती नही। महात्म्य ज्ञान होने पर ही प्रेम 'तत्सुखी' बनता है।

यदि प्रेम भावना सेवा या महात्म्य ज्ञान कभी—कभी ही मन में आवे तो मन मे वह तीव्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान को निजी संबंधों मे बॉध देती है इसी कारण भक्ति के व्याख्याताकारो ने भक्ति की अनन्यता एव सातत्य की ओर सकेत किया है।

भागवतकार के अनुसार सागर में स्वत प्रवाहित गंगा जल की धारा के समान जब मनोगति अनन्य भाव से भगवान मे निहित होती है, तो उसे निर्गुण—भक्ति कहते हैं। गंगा की धारा जहॉ नैरन्तर्य का द्योतक है, वही सागर मे ही गिरना उसकी अनन्यता है। वास्तव में प्रेमी भक्त के मन मे अपने प्रियतम को छोडकर और किसी की कल्पना ही नहीं होती। अनन्य या अविछिन्न भाव से किये जाने वाले प्रेम और सेवा की यह स्वाभाविक परिणति है कि भक्त अपने को सम्पूर्णतया भगवान के चरणों में अर्पित कर दे। इस अपर्ण का सर्वश्रेष्ठ रुप शरणागति हैं, "जहॉ कि भगवान पर ही अपने सारे योग —क्षेम का भार सौपकर वह निश्चित हो जाता है। भक्ति का सार प्रपत्ति है। इस बात को रामानुज भी स्वीकार करते है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि "मनुष्य जब सारे कर्मो का त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन मुक्त होकर मत्सदृश एश्वर्य की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। भक्ति का सातवा तत्व प्रभु—अनुग्रह सिद्ध होता है। मध्य—काल के लगभग सभी भक्ति सम्प्रदायों मे प्रभु की कृपा स्वीकार की गई है। बल्लभ सम्प्रदाय का पुष्टि मार्ग नाम ही प्रभु—कृपा पर आधारित है।

भगवान के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय मे भक्ति का उदय होता है। इसलिए भक्त को अपना सब कुछ भगवान को ही समर्पित करना होता है। बल्लभ ने स्पष्ट कहा है, पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु–अनुग्रह द्वारा ही साध्य है,[1] तथा भगवान का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यो का नियामक है। राधाबल्लभीय सम्प्रदाय के बारे में विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है, "सहचरी या सखी' शब्द राधाबल्लभ सम्प्रदाय मे जीव के निज रुप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। जब तक वह जीव रुप मे अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है, किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है, तब वह सहचरी रुप को प्राप्त होकर लौकिक सुख–दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनन्द को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य–बिहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है।"[2]

निष्काम भक्ति :– यद्यपि श्रीमद्भागवत में सात्विक, राजस और तामस भक्तो को सकामभावना से युक्त बताया गया है, पर उसे श्रेष्ठ नही माना गया है। वहॉ पर निर्गुण भक्ति को अहैतुक व्यवहिता कहा गया है। गीता मे भक्ति का उद्देश्य भगवान की प्राप्ति कहा गया है। मध्व ने सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य माना था। नारदभक्तिसूत्र मे भी कहा गया है कि मुक्त होने की इच्छा रखने वालो को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए। बल्लभ की परिभाषा मे भी मुक्ति को स्थान दिया गया है। पर इन सबने भक्ति को निष्काम भावना ही माना था। ऐसा लगता है कि मुक्ति की बात को भी धीरे–धीरे भगत्प्रेम एवं सेवा के आगे छोटा करार दिया जाने लगा भक्त जब प्रसन्न हो गया तथा भगवान ने उसके योग–क्षेम को वहम करने का भार ले लिया तब फिर मुक्ति की कामना क्यों? भागवत में कहा गया है–ऐसे भक्त जन मेरी सेवा के सिवा सालोक्य, सामीप्य सारुप्य और कैवल्य मोक्ष को दिये जाने पर ग्रहण नहीं करते।[3] इसी भाव की और अधिक विवृत्ति आगे होती है जब भक्ति काल के भक्त एवं आचार्य मुक्ति को छोडकर भक्ति को ही अपनाने की बात कहते है।[4] पुष्टि

---

1 'अनुग्रह' पुष्टि मार्गे नियामक इति स्थिति (बल्लभ सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक–18)
2 राधाबल्लभ सम्प्रदाय–'सिद्धान्त और साहित्य, पृ0–219
3 बलदेव उपाध्याय–भागवत् सम्प्रदाय, पृ0–226
4 जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव।
कहै कबीर वे क्यू मिलै निहकामी निज देव। (कबीर ग्रथावली, पृ0–19–20)

मार्ग मे भावभक्ति द्वारा पराभक्ति (निष्काम प्रेम) का प्राप्त करना ध्येय माना है। पराभक्ति अहैतु की है। उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम पदार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नही चाहिए।[1]

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में तो प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है–"प्रेमा पमुथो महान"। राधाबल्लभीय भक्त ध्रुवदास का कहना है कि गोपियो के प्रेम मे भी सकामता थी, इसी कारण निष्काम भाव सम्पत्ति वाली सखियो की भावना उनसे भी श्रेष्ठ है। इस प्रकार हम देखते है कि इस तत्व के दो विभाग है'–प्रथम, निष्काम भाव, दूसरा, कामना के क्षेत्र में केवल भगवान की सेवा या प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा अर्थात् भक्त का प्रयोजन भक्ति ही इस युग में स्वीकार कर लिया गया था।

सर्वजन अधिकारित्व भक्ति–भावना प्रारम्भ से ही लोक चेतना के साथ सम्पृक्त रही है। जो भी धर्ममत लोक के निकट आता है, निश्चय ही भक्ति भाव को स्वीकार करता है। गीता में भगवान कृष्ण ने भुजा उठाकर घोषणा की है–"हे अर्जुन स्त्री, वैश्य, शुद्र तथा पाप योनि में कोई भी हो वो मेरी शरण में आकर परमगति को प्राप्त होते है। बल्लभाचार्य ने भी कहा, "किसी साधन–सम्पत्ति द्वारा भगवान भक्त से संतुष्ट नहीं होते परन्तु उसके केवल दैन्य भाव से ही वे संतुष्ट होते है।" गौडीय वैष्णव मत मे भी जीव मात्र का साध्य भगवत् प्रेम ही बताया है।

भागवत में भक्ति के साध्य और साधन दोनों ही पक्षो का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य–निरतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान मे परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष हैं साधन रुपा भक्ति को नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति भी कहते है और साध्य रुपा भक्ति को प्रेमाभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कन्ध में भक्ति के चार भेद माने गये है। सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुण। फिर सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद ने भक्ति के नौ भेद बताये हैं। नारदभक्तिसूत्र मे प्रेमा भक्ति का विशद विवेचन हुआ है। और ग्यारह आसक्तियॉ

---

1 डा० दीनदयाल गुप्त–अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ0–538

है—गुणमहात्म्यासक्ति, रुपासक्ति; पूजासक्ति; स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति; तन्मयतासक्ति एव परमविरहासक्ति। जो भक्त पराभक्ति की प्राप्ति कर लेते है, उनमें ये सभी आसक्तियाँ रहती है। जैसेः— ब्रज की गोपियों मे एवं अन्य भक्तो मे कोई न कोई आसक्ति अवश्य ही रहती है। श्रीमद्‌भागवत मे इन सभी प्रकार के भक्तो का उल्लेख है।

भक्ति के साधना—क्रम का सबसे व्यवस्थित और प्रारम्भिक उल्लेख भागवत पुराण मे ही मिलता है। ये साधन नौ प्रकार के है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद—सेवन, अर्चना, वन्दन, दास्य, संख्य, एवं आत्मनिवेदन इनमें से प्रथम तीन भगवान के नाम और लीला से सबधित हैं, दूसरे तीन उसके रुप में सबंधित है एव अतिम तीन साधन वास्तव में भक्त के मनोजगत से सबधित वृत्तियाँ है। इन साधनो को ही नवधा भक्ति कहा गया है। नारदभक्तिसूत्र की ग्यारह आसक्तियो मे गुणमहात्म्यासक्ति मे श्रवण और कीर्तन का तत्व प्राप्त है। रुपासक्ति और पूजासक्ति में पादसेवन, अर्चन और वन्दन निहित हैं। स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति नवधा के स्मरण, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन ही है। कान्तासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति बाद मे भक्ति के विवेचको द्वारा स्वीकार की गई है। तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति वास्तव में पराभक्ति की स्थितियाँ है। ये साधना मार्ग नही है। नवधा के आधार पर ही भक्तिकाल के कवियों ने दशधा भक्ति की चर्चा की है। यह दसवी प्रेमलक्षणा भक्ति है। गौडीय वैष्णव मे वैधी के जो ग्यारह लक्षण बताये गये हैं उनमे से अतिम नौ भागवत के ही है एवं प्रथम दो शरणागति तथा गुरु—सेवा और बढा दिये गये है। उन दोनों ही बातो को भक्तिकाल में अत्यधिक मूल्यवान समझा गया था।

भक्त और भगवान के मध्य एक वैयक्तिक संबंध की कल्पना भक्ति मार्ग की सबसे बडी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमे सम्भ्रम भय पवित्रता, निर्भरता प्रेम विश्वास आदि अनेक वृत्तियाँ और गुण गुम्फित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रुपो में हो सकती है और उसके स्वरुप की

अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य सबंध भाव (रिलेशनसिप) क्या रहे? जीवन मं अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधो के सम्पर्क में हम आते हैं। इन संबंधो के सॉचे व्यवहार में उपस्थित रहते हैं और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है है। उसी रुपान्तर के माध्यम से ही उस परमरुप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चितता तब और बढ जाती है जब ईश्वर धर्म "संस्थापनार्थाय" एवं "विनाशाय दुष्कृताम" इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार के साथ जब रक्षक का रुप मिल जाता है तब उसकी प्रभुविष्णुता सहस्त्रगुणित हो उठती है। उसको हम माता, पिता शिशु, गुरु, स्वामी, प्रिय, प्रेमिका या मित्रादि सामाजिक सबंधो के रुप में भक्ति करने लगते है। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीको के माध्यम से दिव्य प्रेम एव अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मो की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलत अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत एव लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत होते है।

नारद–भक्ति सूत्र मे परम–प्रेम रुपा मे रुप शब्द साहचर्य पर बल देता है एवं परम शब्द से ज्ञात होता है कि इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव मे जब यह धारणा बल पकडती है कि भगवान भजनीय ही नही सर्वभाव से भजनीय है तभी सबंधों पर अधिक बल दिया जाने लगता है, क्योंकि हमारा भाव जगत हमारे प्रत्यक्ष व्यावहारिक संबंधो से ही अनुशासित होता है।

यों तो भगवान सर्वभाव से भजनीय है पर प्रेमभाव ही वास्तविक है क्योकि जीवन का सबसे गहरा और स्थायी भाव रति है। वैष्णव विचारको के अनुसार रति पॉच प्रकार की होती है, जिसके अनुकूल ही पॉच रस–भक्तियॉ हो जाती है। शम, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य और मधुरा ये पॉच रतियॉ है जिनसे कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की पॉच भक्तियॉ (भक्तिरस) उद्रिक्त होती है। वास्तव मे शान्त का स्थायी भाव शम एक मानसिक अवस्था का द्योतक है, जहॉ पर परमात्मा के साथ एकत्व की चेतना तो आ जाती है पर राग का आवेश नही होता। सकल्प विकल्प से रहित मन की वृत्ति शान्त रति है इसे शम भी कहा जाता है। यह ममता

गन्ध शून्य होता है। भागवत में उसे निष्ठा बुद्धि कहा गया है इस मानसिक स्थिति को ही गीता में 'ब्रह्मभूत' और प्रसन्नात्मा कहा गया है।

भक्ति वास्तव में मन मे 'वैराग्य–भावना को उत्पन्न करती है। सारे ससार के रहस्वादियो ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर–कामनाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्यमूलक है, पर यह निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है, तथा प्रेमभावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। निर्गुण साधको मे ही मुख्य रुप से हम इस भक्ति को देख सकते है। इनमे भी सूफी एवं कृष्णोपासक प्रेमभक्तो के प्रभाव एव प्रेम प्रतीकवाद के आग्रह से यत्रतत्र दास्य भाव या कान्ताभाव का स्वरुप मिलता है निर्गुण कवियो मे 'पतिव्रता को अग' तथा इसमें भक्त के मन में सदैव यह धारणा रहती है कि भगवान मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाले है। और मैं अनुग्राहय हूँ। वे मेरे स्वामी है मैं उनका सेवक हूँ। जब प्रीति इतनी गाढ एवं बद्धमूल हो जाय कि उसको ह्रास की तनिक भी आशंका न रहे तब उसे प्रेमा कहते हैं।

दास्य भक्ति में प्रभु के महात्म्य ज्ञान के साथ शरणागति या प्रपत्ति का भाव मिला रहता है। शरणगति या आत्मसमर्पण प्रेम के राज्य में एक ऊँची चीज है। इसके अतिरिक्त दास्य भक्ति में सेवा का जो अंश है, वह भक्ति का एक अनिवार्य तत्व है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है–

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि"

गौडीय भक्ति में भी दास्यभाव अमान्य नहीं है। इस भक्ति रस को रुप गोस्वामी, कृष्णदास, कविराज, एवं जीवगोस्वामी आदि ने पॉच मुख्य भक्ति रसो मे ही माना है पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकासक्रम में दास्य का भी अन्तर्भाव मधुरभाव मे हो जाता है।

निर्गुण कवियों ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। दास्य के दैत्य, विनय, आत्मदोष कथन शरणागति आदि के अतिरिक्त राजा, स्वामी, पिता,

जननी आदि रुपों मे जहाँ कल्पना की गई है वे स्थल भी दास भाव के ही है। इन प्रतीकों के माध्यम से दास्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

दास भावना मे प्रभु के गौरव एवं महत्ता की अनुभूति के कारण साधक का बहुत समीपी सम्पर्क नही हो पाता। स्वामी और सेवक के मध्य एक प्रकार का दुराव अवश्य रहता है। अतः भक्ति की और विकसित स्थिति में जिस सामाजिक–भाव सम्बन्ध की कल्पना की गई वह सख्य भाव हैं सखाओ में परस्पर सामीप्य–बोध अधिक होता है। उनमे पारस्परिक अंतरंगता हो जाती है। अगाध विश्वास वाली यह सख्य रति बढकर प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा राग मे परिणत होती है। ब्रज सखाओ के पुनः चार भेद हैं–सुहृत, सखा, प्रियसखा, प्रियनर्म सखा। इनमे अतिम सर्वश्रेष्ठ होते है।

इन सभी सखाओं के आलम्बन कृष्ण सुन्दर भेष धारण करने वाले अत्यन्त प्रतिभाशाली, दक्ष, विदग्ध–बुद्धिमान समृद्ध एंव सुखी हैं ऐसे भगवान के साथ उपर्युक्त सबधों का अनुकरण करते हुए जो भाव प्रतिभा मन मे स्थापित होती है, वह सखा भक्ति की होती है।

इसमे शान्त भक्ति की विरक्ति भी है दास का सेवा भाव है (सखा सेवा भी करता है) और साथ ही मित्रता का खुलापन और आत्मीयता भी है– इसी कारण इसे पूर्वोक्त दोनो से श्रेष्ठ माना गया है।

पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य भावना को सबसे अधिक स्वीकृति और पूर्णता मिली हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की गोप–लीलाओं की ही चर्चा नहीं की है बल्कि–पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र और मित्रता की समस्त छायाओ को उन्होने अत्यधिक यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। बल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों को अष्टसखा भी कहा जाता है। और कृष्ण के आठ सखाओं का ही प्रतिरुप उन्हे मानते हैं।

सखी सम्प्रदाय में भी सख्य भाव की स्वीकृति है। सख्य रसावेशी भक्तों ने अन्य रसों को सख्य के अन्तर्गत ही माना है। उनकी धारणा है कि श्रृंगार में जो

गन्ध शून्य होता है। भागवत मे उसे निष्ठा बुद्धि कहा गया है इस मानसिक स्थिति को ही गीता में 'ब्रह्मभूत' और प्रसन्नात्मा कहा गया है।

भक्ति वास्तव में मन में 'वैराग्य—भावना को उत्पन्न करती है। सारे संसार के रहस्वादियों ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर—कामनाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्यमूलक है, पर यह निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है, तथा प्रेमभावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। निर्गुण साधको में ही मुख्य रुप से हम इस भक्ति को देख सकते हैं। इनमें भी सूफी एवं कृष्णोपासक प्रेमभक्तो के प्रभाव एवं प्रेम प्रतीकवाद के आग्रह से यत्रतत्र दास्य भाव या कान्ताभाव का स्वरुप मिलता है निर्गुण कवियो मे 'पतिव्रता को अंग' तथा इसमें भक्त के मन में सदैव यह धारणा रहती है कि भगवान मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाले है। और मैं अनुग्राहय हूँ। वे मेरे स्वामी है मै उनका सेवक हूँ। जब प्रीति इतनी गाढ एवं बद्धमूल हो जाय कि उसको ह्रास की तनिक भी आशका न रहे तब उसे प्रेमा कहते है।

दास्य भक्ति में प्रभु के महात्म्य ज्ञान के साथ शरणागति या प्रपत्ति का भाव मिला रहता है। शरणगति या आत्मसमर्पण प्रेम के राज्य मे एक ऊँची चीज है। इसके अतिरिक्त दास्य भक्ति मे सेवा का जो अंश है, वह भक्ति का एक अनिवार्य तत्व है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहॉ तक कहा है—

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि"

गौडीय भक्ति में भी दास्यभाव अमान्य नही है। इस भक्ति रस को रुप गोस्वामी, कृष्णदास, कविराज, एवं जीवगोस्वामी आदि ने पॉच मुख्य भक्ति रसों मे ही माना है पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकासक्रम मे दास्य का भी अन्तर्भाव मधुरभाव मे हो जाता है।

निर्गुण कवियों ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। दास्य के दैत्य, विनय, आत्मदोष कथन शरणागति आदि के अतिरिक्त राजा, स्वामी, पिता,

प्रिया के प्रति असक्ति है, वह वास्तव मे नारी विशिष्ट में केन्द्रित सख्यासक्ति है। इसी आधार पर उन्होंने सखी भाव और सखा भाव को एक माना है। सख्य भाव की परिणति अन्तत रास–भावना या मधुर उपासना की ओर है। साधक दम्पत्ति लीलाओ में सख्यभाव के आवेश में सम्मिलित हो सकता है, क्योकि सखी भाव और सखा भाव में उतना भेद नहीं किया गया है। परन्तु कृष्णोपासकों मे सखा भाव और सखी भाव में स्पष्ट अन्तर माना जाता है। स्त्री रुप मे ही सर्वस्त्र अर्पण है। स्वसुख और तत्सुख दोनो ही रुपो में। ब्रजभूमि के रसोपासको ने इसी कारण सखा भाव को महत्व नही दिया है।

निर्गुण मतावलम्बी चूंकि सगुण लीला पर विश्वास नही करते। अत भगवान के साथ सख्य संबंध बनाना भी उनके लिए कठिन होता है।

वात्सल्य भक्ति में पुत्र के स्नेह न करने पर भी माता–पिता उससे प्रेम करते रहते है। अतएवं निष्कामता की अभिव्यक्ति पुत्र–स्नेह मे सबसे अधिक होती है। इसके अतिरिक्त माता–पिता पुत्र की सेवा दास से भी अधिक करते हैं, सखा के समान उनका मनोरजन करते है, उसके साथ खेलते–खिलाते है। इस रुप मे पूर्व कथित भाव–दशाएँ भी वात्सल्य में अन्तर्भुक्त हो जाती है। जिस समय भक्त परमात्मा को पुत्रवत मानकर (नंद, यशोदा, दशरथ, कौशल्या आदि) निष्काम भाव से उनके प्रति स्नेह रखता है, तब ऐसी भावभक्ति को वात्सल्य भक्ति कहा जाता है। कृष्ण इस भाव के आलम्बन है। माता–पिता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरुजन आदि इस भाव के आश्रय होते हैं।

रामोपासक मे वृद्ध वात्सल्य एवं लघु वात्सल्य–ये दो भाग किये गये है। वृद्ध वात्सल्य से तात्पर्य ऊपर विवोचित वात्सल्य से है, पर लघु वात्सल्य है, जब राम सीता को पिता–माता मानकर साधक स्वंय को शिशु रुप में कल्पित करता है।

सूरदास तो इस चित्रण के अधीश्वर ही है। बाल–लीला एव माता–पिता की अनुभूतियों का उनसे बड़ा चितेरा ससार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ है। पर मानसिक धरातल पर इस भाव की साधना अत्यन्त कठिन है जो भगवान है, ईश्वर,

परमात्मा है उसे एक नगण्य साधक शिशु मानकर व्यवहार करे– यह स्थिति तनिक कठिन है।

रामोपासक सम्प्रदाय मे वात्सल्य भावना को रामोपासना के भीतर पर्याप्त स्थान मिला है। निर्गुणोपासको मे न तो बाल–लीलाओ का स्थान है और न प्रभु को पुत्र मानने का ही प्रश्न है। इसी कारण वात्सलय भाव की विवृत्ति वहॉ पर नहीं के बराबर है। कान्ताभक्ति में जितना सान्द्र प्रेम एकात्मानुभूति सर्वस्व समर्पण होता है उतना किसी अन्य में नही। स्त्री–पुरुष के मध्य काम–भावना जीवन की गहनतम व्यापकतम एव सार्वभौम वृत्ति है। इस भावना मे पूर्ववर्ती सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा–सखी की भॉति मन–रंजन भी करती है मॉ के समान हितचिता भी करती है एव पत्नी के रुप में अपना सपूर्ण व्यक्तित्व पति को अर्पित भी कर देती है। प्रेम भाव की यह सर्वोच्च अवस्था है एव ससार के सभी आस्तिक धर्मो मे इस प्रतीक का व्यवहार किया गया है पर वैष्णव मे यह प्रतीक के स्तर पर न रहकर वास्तविकता के स्तर पर ले आया गया है।

उपर्युक्त परिगणित भाव–भूमियॉ वास्तव में उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित हैं, जिसमें अनुभूति और कल्पनाएँ तथा इन पर उसका विश्वास एक दूसरे के सहारे बढते जाते हैं तथा इन्हीं के साथ उसकी संवेगात्मक जिन्दगी और उसकी श्रद्धा भी समय के साथ बढती जाती है। इस प्रकार प्रेम का उज्ज्वल स्वरुप लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों रुपो के विविध पक्षो के साथ भक्ति काव्य का केन्द्र विन्दु रहा है।

ईश्वरीय प्रेम के लिये प्रेम की अनुभूति और उसके स्वरुप का बोध आवश्यक है। व्यक्ति, समाज और सम्पूर्ण सृष्टि के साथ व्यक्त लौकिक प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होकर भक्ति का रुप धारण कर लेता है। प्रेम जोडने और मिलाने की शक्ति है और यही शक्ति भक्त और भगवान के बीच सक्रिय होती है। ईश्वरीय प्रेम मे भक्त भगवान के साथ संयुक्त होकर पूर्ण हो जाता है। फिशर ने प्रेम की परिभाषा करते हुये बताया है कि 'प्रेम एक अनुभूति है जिसमें आकर्षण एव समर्पण का भाव होता

है, जो उस वस्तु (या व्यक्ति) की आवश्यकता से उत्पन्न होती है और उसी की ओर उन्मुख होती है, जिसमें व्यक्ति के आनन्द की आशा निहित रहती है।'

ईश्वर असीम, अनन्त और सर्वव्याप्त है। व्यक्ति ससीम और लोकबद्ध है। लेकिन असीम और ससीम, सर्वोच्च सत्ता और आत्मा का योग प्रेम से ही सभव है। प्रेम के लिये द्वैत आवश्यक है। यानि भक्त और भगवान दोनों की सत्ता आवश्यक है। प्रेमी प्रिय में अपनी आत्मा को खोजता और पाता है। प्रेमानन्द में प्रेमी अपनी आत्मा का प्रिय की आत्मा से संयोग करता है। ऐसा प्रेम–भक्ति में ही संभव है। ईश्वरोन्मुख प्रेम वैयक्तिक प्रेम से निवैयक्तिक प्रेम होता है। यह वैयक्तिक प्रेम भी ईश्वरोन्मुख होकर विश्व प्रेम बन जाता है, क्योकि प्रेमी सम्पूर्ण विश्व में अपनी प्रिय की सत्ता की अनूभूति करता है। भक्ति काव्य में धर्म का जो रुप है उसका आधार प्रेम है। यहाॅ प्रेम का रुप रहस्यवादी तथा लीलात्मक दो प्रकार का है। निर्गुण भक्ति काव्य मे प्रेम का रहस्यात्मक स्वरुप मिलता है एवं सगुण भक्ति काव्य मे लीलात्मक स्वरुप मिलता है। इसके भाव और रुप को माधुर्य कहा जाता है और यही सान्द्र माधुर्य भाव प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार देखा गया कि भक्ति एवं प्रेम तत्वत. एक है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। प्रेम सम्पूर्ण मध्यकालीन भक्ति साहित्य का केन्दीय भाव है। प्रेम ही भगवान की सम्पूर्ण लीला का कारण तत्व है। भक्ति काव्य मे प्रेम के मानवीय और ईश्वरीय दोनों रुपों की अत्यन्त, व्यापक गंभीर और वैविध्यपूर्ण अभिव्यंजना हुई है।

इस प्रकार भक्ति के स्वरुप से प्रेम का स्वरुप स्वत निर्धारित हो जाता है, क्योकि ईश्वर के प्रति अनुराग का नाम ही भक्ति है। भक्ति स्वत· पूर्ण है, वह साधन नही साध्य है भक्ति की प्राप्ति हो जाने पर सभी इच्छायें स्वत. पूर्ण हो जाती है। प्रेमपूर्वक भक्ति में ही आनन्द की प्राप्ति सभव है। आनन्द प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

अध्याय –4

भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूप

भारतीय साहित्य में प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा प्राचीन काल से विद्यमान रही है। संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि के काव्यों में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रुप मिलते है। इन परम्पराओं को सक्षेप में इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है–

वैदिक परम्परा :– वैदिक परम्परा में यम–यमी प्रसंग, प्रेम और काम की उस उत्ताल तरंग का परिचायक है जो मातृत्व की समाज निर्मित दीवार से टकराकर उसे चूर–चूर कर देना चाहती है। इसके मूल में उत्तेजित अदम्य कामवासना नायिका की रति याचना की भूमिका है। पुरुरवा–उर्वशी विवाह वन्धन–निरपेक्ष, अस्थिर, परन्तु प्रेमाश्रित दाम्पत्य की सूचना देने वाले नायक–नायिका है। ये आर्यों की देव सभ्यता के प्रेम रुप को स्पष्ट करने वाले प्रसंग है।

वैदिक साहित्य में स्वच्छन्द प्रेम का स्थान विवाह सस्था धीरे–धीरे लेती जा रही थी। ऋग्वेद मे सूर्य के विवाह की कथा इस तथ्य की ओर सकेत करती है पर यह प्रतीत होता है कि वैवाहिक बन्धन मे भी स्वच्छन्द प्रेम दास्य भाव से समाविष्ट होकर रुढ नही हो गया था। पत्नी का प्रेयसी रुप भी इस वातावरण मे सुरक्षित था। विवाहोपरान्त वर–वधू देवताओं से दो हृदयों को मिला देने की प्रार्थना करते थे पर धीरे–धीरे दाम्पत्य भाव का संतुलन बिगडता गया। पति का अतिचार पत्नी की दुर्दशा का कारण हुआ।

अथर्ववेद मे पत्नी, पति को अपने वश में करने और सौत के तत्र से विमुक्त करने की तंत्र–मंत्र प्रक्रिया का आश्रय लेती है। वैदिक प्रेम कथाओं की औपनिषदिक परिणति में एक आदर्श या एक उच्चतर उद्‌देश्य जोड दिया गया है। उर्वशी के प्रेम के कारण पुरुरवा जन कल्याण में प्रवृत्त हो सके। इस प्रकार शुद्ध प्रेम कथा के साथ धार्मिक और दार्शनिक अभिप्राय संयुक्त होने लगे।

पौराणिक परम्परा :– पौराणिक परम्परा स्वच्छन्द प्रेम के ह्रास की ही परम्परा है। विवाह संस्था का जन्म महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु से हुआ। ऋग्वैदिक विवाह में कन्या को वर चुनने का अधिकार था। पौराणिक युग में प्रेम कथाओं से स्वच्छन्द प्रेम के रुप धीरे–धीरे लुप्त होने लगे और विवाह एक रुढ संस्था के रुप मे स्थापित हो

गया। अब प्रेममूलक विवाह का आधार खिसकने लगा और विवाह का आधार कहीं शौर्य प्रदर्शन हो गया तो कहीं कामुकता हो गयी। मर्यादा के तत्व प्रेम की तथाकथित आदर्शगत सीमाये बनाने लगे। महाकाव्यो मे मर्यादाप्रधान प्रेम वाल्मिकी ग्रथ मे विकसित हुआ। वर्ण व्यवस्था की जटिलता को भी मर्यादा विधान मे स्थान मिला। स्वयंवर प्रेम की परीक्षा पर नही क्षत्रीत्व की परीक्षा पर आधारित होने लगे। इस प्रकार स्वंयवर का नया रुप बना।

राम और सीता की मर्यादित प्रेम कथा 'उत्तररामचरितम्' और तुलसी के 'रामचरितमानस' में विकसित होती गई। महाभारत में प्रेम कथाओ के अनेक रुप मिलते हैं। सत्यवती और शान्तनु के विवाह में अनार्य, शूद्र और क्षत्रिय का विवाह ही ध्वनित है। कुन्ती और सूर्य का संबन्ध कौमार्यकालीन ही है। अपहरण भी प्रेम–कथा का आधार बनता है। कृष्ण मुख्यत· धर्म और प्रेम के सघर्ष के समय एक सबल नेता के रुप में उपस्थित होकर स्वतत्र व्यवस्था देते हैं। कृष्ण के इस नेतृत्व मे अनेक प्रेम–कथाओं को जन्म दिया। पुराणों मे अधिकाश इन्ही प्रेम कथाओं का विस्तार किया गया है। इन्ही प्रेम कथाओं से कुछ अंश लेकर शास्त्रीय सस्कृत साहित्य मे श्रृंगार रसपरक होकर प्रेम कथायें नाटक और काव्यों मे आयी हैं।

संस्कृत साहित्य परम्परा :– इस साहित्य में प्रेम कथा के धर्म–प्रेरित उच्चतर अभिप्राय भी समाप्त हो गये और मर्यादा के तत्व भी शिथिल हो गये। प्रेम कथा की परम्परागत संरचना मे नारी के कायिक सौन्दर्य उसके बाह्य प्रशासन और अलकरण सम्भोग के काम शास्त्रीय विधि–विधान विशेष उभरने लगे। कालिदास के काव्य जगत मे नारी सौन्दर्य और वासना अपने समस्त उभार के साथ व्याप्त है। फलत कालिदास की रचनाओं मे प्रेम का इतना उत्कर्ष नहीं जितना कामुकता और रसिकता का। 'मालविकाग्निमित्र' में दो रानियों की पति अग्निमित्र अपनी रानी की सखी के शारीरिक सौन्दर्य पर आसक्त हो जाता है। कालिदास शास्त्रीय साहित्य का निर्विवाद रुप से प्रतिनिधित्व करते है जिसमे कामशास्त्रीय प्रभाव इतना सघन है कि शुद्ध प्रेम के तत्व जुगनू की भॉति चमक कर छिप जाते हैं। हिन्दी की प्रेम

गाथाओं मे इन तत्वों का नितांत अभाव नहीं है। रत्नसेन पद्मावती के नख–शिख वर्णन से ही मूर्छित होकर प्रेम–पथ पर चल पडता है।

उपर्युक्त परम्परा में प्राप्त प्रेम कथाओं का प्रभाव लोक साहित्य परम्परा में भी चल पडा। वे या तो धर्म गाथाओं के रुप मे घटित हुई या शुद्ध साहित्यिक कथानक के रुप में। एक परम्परा लोक धरातल पर भी चलती रही। इसकी प्रथम कडी कथासरित्सागर के रुप मे मिलती है। ये समस्त कथायें शिव ने पार्वती से कहीं। इसी परम्परा मे बौद्ध जातक आदि कथाये आती है। जैन कथाओ का तो अपार भण्डार ही मिलता है। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मे प्रेम कथाये अनेक नवीन तत्व लेकर प्रस्तुत हुई।

पारलौकिक तथा योगतंत्र आदि के तत्व इन कहानियों में समाविष्ट हो गये। निर्वाण प्राप्ति की साधना में भक्ति एवं साधक, स्त्री और पुरुष या नायिक–नायिका के प्रतीक को लेकर प्रस्तुत हुए। इन तत्वों से आगे चलकर कृष्णाश्रित और रामाश्रित प्रेम कथायें बहुत अधिक प्रभावित हुई।

जिस प्रकार सत्काव्य में मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, उसी तरह उपासना के लिये भी अमूर्त ब्रह्म के मूर्त आलम्बन की आवश्यकता होती है, क्योंकि उपासना का मूल लक्ष्य है–भगवद् सानिध्य प्राप्त करना, उनका प्रेम पात्र बनना।यह तब तक नही चरितार्थ हो सकता, जब तक कि अव्यक्त, निराकार, निर्गुण ब्रह्म सगुण–साकार न हो जाये।

भगवत्प्रेम ही जीवन का निःश्रेयस् मंगल है। इस मंगल अभियान के लिये उस अमूर्त आलम्बन का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, क्योकि ज्ञान या परिचय के अभाव मे न तो उस अमूर्त आलम्बन से भावात्मक तादात्म्य ही स्थापित हो सकता है और न आनन्दानुभूति ही हो सकती है।

प्रेम व्यंजना के लिये अमूर्त का मूर्त रुप होना आवश्यक है। उपासना या भक्ति द्वारा उसका सान्निध्य प्राप्त कर प्रेम पात्र बना जा सकता है। उपासक को

यह प्रेम पात्रता तभी प्राप्त होती है, जब उपास्य भावधर्मी बन जाता है। इस प्रकार भगवान को भावधर्मी बनाने वाला सबसे सहज मार्ग भक्तिमार्ग ही है।

भक्ति काव्य की दो प्रमुख धाराये–निर्गुण भक्ति काव्य एव सगुण भक्ति काव्य है। ये बाह्य दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते हुये भी तत्वत एक ही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एव मीरा–सभी सन्तों एवं भक्तो का साध्य एक ही है, वह है–प्रेम के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति। प्रेम के अनेक रुप है। जैसे–दास्य, वात्सल्य, सख्य एव माधुर्य। इन सभी भावों का मूल दैन्य भाव है। भक्ति काव्य में ईश्वर के प्रति अभिव्यक्त प्रेम के विविध रुपो को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा के सन्दर्भ मे समझा जा सकता है। कबीर में निर्गुण निराकार भक्ति होते हुए भी दाम्पत्य प्रेम की प्रधानता है। यही दाम्पत्य प्रेम जायसी और मीरा मे भी है। सूर मे सख्य एव वात्सल्य भाव का प्रेम है जबकि तुलसी मे दास्य भाव का प्रेम है।

भक्ति' "हृदय का धर्म है। हृदय के धर्मो मे सर्वाधिक व्यापक, उदात्त और मानवीय धर्म है प्रेम। प्रेम ही भक्ति का मूल भाव है। प्रेम मनुष्य को सबसे ऊपर उठाता है और यही प्रेम मनुष्य की एकता का आधार बनता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन का मूल कारण भी प्रेम ही है।

कबीर :– कबीर के भक्ति में प्रेम के विविध रुप दिखते है। यों तो कबीर की भक्ति निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना से जुडी हुयी है। लेकिन सगुण भक्ति के सभी उपादान उनके काव्य में मिल जाते है। कबीर की भक्ति निर्गुणिया होते हुए भी सगुण की तरफ झुकी हुयी है। निर्गुण निराकार की भक्ति असम्भव है। इसे भक्ति का विषय बनाना कबीर जैसे उच्चकोटि के साधक के ही वश की बात है। कबीर को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने निर्गुण निराकार की भक्ति को सम्भव बनाया।

कबीर ने आत्मा एवं परमात्मा के प्रेम को दाम्पत्य प्रेम के रुप में चित्रित किया है। अत. प्रेम के इसी रुप को अभिव्यक्त करने के लिये कबीर ने ईश्वर और आत्मा को पति–पत्नी के सम्बन्ध का रुपक दिया है। लेकिन कबीर ने अपने काव्य

मे सौन्दर्य प्रेरित काम–भावना को कुछ भी स्थान नही दिया है। इनकी प्रेमाभिव्यक्ति अश्लीलता के स्पर्श से कोसों दूर है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को अत्यन्त दार्शनिक ढग से चित्रित किया है। ज्ञानमार्गी कवि होने के कारण कबीर ने ज्ञान के पश्चात् प्रेम की अनुभूति को आवश्यक माना है। ईश्वर सबंधी धारणाओ की विभिन्नताओं के अनुसार प्रेम के स्वरुप मे भी अन्तर होता है।

प्रेमी की एक विशेषता होती है कि वह अपने प्रेमपात्र कोएक क्षण के लिये भी अलग नही होने देना चाहता। यदि प्रेमपात्र अलग होता है तो विरह की आग धधक उठती है। विरह की यह ज्वाला कबीर जैसे भक्तो को अमृत के समान लगती है। कबीर की प्रेम–भावना मे सम्पूर्ण समर्पण का भाव विद्यमान है। उनकी निर्गुण भक्ति मे यही भाव प्रकट हुआ है।

निर्गुण भक्ति से तात्पर्य ज्ञान योग और भाव की समन्वित साधना से है। सिद्ध साधना के कुछ प्रतीकों को निगुर्ण भक्तो ने अपनाया है। दूसरी बात यह है कि नाथो के योग को शुद्ध रुप मे इन सन्तों ने न अपनाकर राघवानन्द और रामानन्द के द्वारा प्रचारित योग और भक्ति की समन्वित धारा को ही अपनाया। योग का महत्व मन को एकाग्र और इन्द्रियो को अन्तर्मुख करने में है। बिना इस मानसिक परिष्कार के प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति की उपलब्धि नही हो सकती। भक्ति और प्रेम के स्वस्थ वातावरण के लिये विवेक और वैराग्य भी सन्तो के द्वारा आवश्यक माने गये हैं। विवेक से संत और असत का निर्णय होता है और वैराग्य के द्वारा असत् का परित्याग होता है। कबीर मे वैराग्य भावना बलवती दिखती है। किन्तु वैराग्य अपने आप में लक्ष्य नही हैं। लक्ष्य है–आत्मस्थ ईष्ट देव के प्रति प्रेम भावना को जागृत करके उसकी प्राप्ति और इस प्राप्ति के अनन्तर महासुखमय लय। इसी से हृदय मुक्त होता है और अनन्त प्रियतम हृदय मे प्रविष्ट होता है।[1] भौतिक इन्द्रियों की गति प्राय. बर्हिमुखी है, योग साधना इस गति का निरोध है। प्रेमाधारित प्रिय समागम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति मे योग साधना का यही महत्व है।

---

1 सुरति समानी निरति मे निरति रही निरधार
सुरति–निरति परचा भया, तब खूले सभु दुवार। (कबीर ग्रन्थावली–सपा०–डॉ० पुष्पपाल सिह, पृ०–107)

प्रेमी वही है जो योग साधना के द्वारा चित्त वृत्तियों को अन्तरस्थ प्रियतम की ओर अग्रसर करे। कबीर ने ज्ञान की तलवार को लिये हुये चेतना रुपी अश्वारोही का चित्रण किया है जो प्रेम के घोडे पर चढकर लक्ष्य की ओर सघर्ष करता हुआ बढता है।[1] दास्य भाव को भी विवेक से सम्पन्न करके ही कबीर ग्राहय मानते है। योगी भी वह है जो समस्त जगत से अलग है। अर्थात् असत के जाल से मुक्त हो गया है। इस प्रकार कबीर की प्रेम भक्ति मे योग और ज्ञान को प्रेम के विरोधी तत्वो के रुप में नही, साधक तत्वो के रुप में ही गृहीत है। प्रेम के क्षेत्र के शूरवीर ज्ञान और वैराग्य के अस्त्र–शस्त्रो से सुसज्जित होकर ही उन समस्त विरोधी तत्वों का निराकरण कर सकते है, जो प्रेम के क्षेत्र की उपयुक्त सरचना में बाधक होते है। कबीर ने इसी रुप मे आध्यात्मिक शूरवीर का चित्रण किया है। वह सहज योग का कवच धारण करके ज्ञान के हाथी पर आरुढ होकर वीर गति प्राप्त करना चाहता है।

कबीर ने ज्ञान वैराग्य और योग को भक्ति की साधना के अगो के रुप मे स्वीकार किया है। कबीर की भक्ति भी नारदीय भक्ति की तरह प्रेमाभक्ति है, उन्होंने मुक्ति की भी उपेक्षा करके प्रेम साधना को महत्व दिया है। कबीर को परम प्रिय चाहिये, बैकुण्ठ नहीं। हरि–भक्ति को ही इस नश्वर संसार मे कबीर ने सारवस्तु माना है। बिना भक्ति के जीवन व्यर्थ है। बिना भक्ति के अच्छे ज्ञानी भी डूब जाते है। हरि–भक्ति सासारिक विषय–वासनाओं को त्याग कर ही सम्भव हो सकती है। भक्ति करना किसी कायर के वश की बात नही है। भक्ति की प्राप्ति आत्म–बलिदान से ही होती है।[2]

कबीर ने प्रेम और भक्ति दोनों शब्दो का प्रयोग किया है। कबीर के प्रेम के रुप को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि वे सूफी प्रेम दर्शन से प्रभावित थे।[3] किन्तु कही भी सूफी प्रेम दर्शन का पूर्ण निर्वाह करने की दृष्टि कबीर मे नही दिखती।

---

1 अवधू जोगी जग ते न्यारा। (कबीर ग्रन्थावली–सपा०–डॉ० पुष्पपाल सिह, पृ०–330)

2 भगति दुहेली राम की नहि कायर का काम।
सीस उतारै हाथ करि, सो लेही हरि नाम। (कबीर ग्रथावली–सपा०–डॉ० पुष्पपाल सिह, पृ०–252)

3 प्रेम की सूफियो के समान ही उन्होने साधना की है तथा प्रेम और विरह–तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है। (डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत–कबीर की विचारधारा)

जीव–ब्रह्म संबंधी अद्वैतवादी धारणा जिसे कबीर ने ग्रहण किया, सूफी दर्शन और भारतीय दर्शन मे समान है। इन समानताओ के आधार पर कबीर को सूफी दर्शन से अत्याधिक प्रभावित मानना युक्तिसंगत नही है। कबीर मे भारतीय अद्वैतवाद तथा तांत्रिक योग के साथ वैष्णवों व रामानन्द से प्रेरित भक्ति भावना समन्वित हो गई है और उनके लिये प्रेम और भक्ति एक प्रकार से पर्याय हो गये।

यह भक्ति तत्व कबीर को वैष्णवों व रामानन्द से बीज रुप में प्राप्त हुआ, पर रामानन्द जी के भक्ति दर्शन का भी पूर्ण निर्वाह कबीर मे नही मिलता, किन्तु उनकी भक्ति भावना से कुछ प्रभावित होकर कबीर ने प्रेमाभक्ति और योग की मिली–जुली परम्परा का हिन्दी मे प्रचलन किया। कबीर ने अनेक स्थानों पर भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

कबीर की प्रेम पद्धति मे भक्ति की समस्त आवश्यक बाते और स्थितियॉ स्पष्ट रुप से मिलती है। नवधा भक्ति के तत्व भी कबीर के काव्य में मिल जाते हैं।

निःसन्देह कबीर ने ज्ञान, योग और भक्ति का समन्वय किया, पर प्रधानता उन्होंने भक्ति या प्रेम तत्व को ही दी। ज्ञानी कबीर ने बार–बार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी हैं। भाव प्रेम से युक्त पूजा के बिना योग की साधना वृथा है। भावना और भक्ति की यह प्रधानता साधक कबीर को आराधक कबीर बना देती हैं। उन्हें तत्व चिंतन की दुर्गम ऊँचाइयो से उतारकर उस सहज धरातल पर ले आती है, जहॉ तर्क की अपेक्षा विश्वास की प्रमुखता है। 'इडा' 'पिगला' और 'सुषुम्ना' की टेढी–मेढी वक्रता से जूझ कर त्रिकुटी मे ब्रह्म के साक्षात्कार का उपाय बताने वाले साधक कबीर उन्मुक्त कंठ से यह भी कहते है–

हरि महि तनु है तन महि हरि है सर्व निरंतर सोई रे।
कह कबीर राम नाम न छोड़ो सहजे होई सु होई रे।।

यह सहज भाव का स्वर कबीर के समस्त अन्य स्वरो पर छा गया है। योग, वैराग्य, तप, तत्व–चिंतन–इन सबका महत्व स्वीकार करने पर भी 'भाव भगति और विश्वास' की सहजता ही समस्त प्रश्नो के अतिम उत्तर के रुप में उपयुक्त सिद्ध होती है। वास्तव मे मानव के समस्त इहलौकिक और पारलौकिक सम्बन्धों का

क्रीडास्थल उसका हृदय है। बुद्धि तो केवल खरी–खोटी परखने की कसौटी मात्र है। यही कारण है कि बुद्धि पक्ष का पलड़ा भारी होने पर मानव बहुत कुछ सीख अवश्य लेता है पर हृदय पक्ष की सबलता के बिना उस सीखे हुए को जीवन के वास्तविक धरातल पर उपयोगी नही बना पाता।

कबीर ने भावना के क्षेत्र में बुद्धि को नही, हृदय को प्रमुखता दी है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उपनिषद् जिस ज्ञान और योग आदि की चर्चा करते हैं, उसी ब्रह्म को 'साहब सलोना' मानकर कबीर सहज भाव अर्थात् हृदय की सनातन वृत्ति प्रेम मे अधिष्ठित कर लेते है।

ज्ञान को कबीर आधार के रुप में लेते हैं, पर प्रमुखता प्रेम के दीपक की ही है जिसके बिना कदाचित पूजा के अन्य समस्त उपकरण फीके पड जाते हैं। प्रभु से संबधित सारे ज्ञान–ध्यान की दुनिया कबीर के अनुसार प्रेम के आलोक के बिना अंधेरी है। सभी भक्त कवियो ने प्रेम के महत्व को एक स्वर से माना है। किन्तु ज्ञान और प्रेम की यह समानान्तर धारा कबीर का निरालापन है। ज्ञान से कबीर ने जो कुछ जाना, प्रेम से उसकी गहराई तक पहुँच सके। ज्ञान ने उन्हें जो कुछ दिया, प्रेम ने उसे अमर कर दिया। प्रेम से विहीन शुष्क ज्ञान नही, वरन् प्रेममय ज्ञान कबीर की पूजा का कमल था। उस अनादि, अनन्त, अलौकिक को घर बैठे पाने का साधन ज्ञान नही, भक्ति है। तर्कपूर्ण मस्तिस्क नहीं, भाव भरा हृदय है।

कबीर दास जी निष्काम भक्ति का ही समर्थन करते हैं, जिसकी निर्गुण भक्ति से अभेदता स्वीकार की गयी है। उनके अनुसार सकाम भक्ति से की हुई भगवत् सेवा निष्फल ही रहती है। क्योकि हमारा इष्ट देव स्वंय निष्काम है।[1]

प्रेम का मार्ग भक्त के कवियों ने कठिन माना है। सूर ने कहा है–**'प्रेम करि काहू सुख न लह्यो'**। मीरा ने कहा **'नगर ढिढोरा पीटती प्रेम न करियो कोय'** और कबीर ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं–**'भगति दुहेली राम की**

---

1. जब लग भगति सकामता, तब लगि निष्फल सेव
   कहै कबीर वै क्यू मिलै, नि कामी निजदेव। कबीर ग्रन्थावली सपा० श्री पुष्प पाल सिह, पृ०–251

जेसि खाड़े की धार'। किसी रीति कालीन कवि ने भी कहा कि–**'यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनौ है'**। यह कठिनाई और प्रेम के मार्ग की दुखानुभूति वस्तुतः उसी के लिये है जो प्रेम के आस्वादन से वंचित रहा। इसका मूल कारण यह है कि प्रेम मे सब कुछ बलिदान कर देने की अपेक्षा रहती है। बलिदान का तात्पर्य है कि प्रेमी का प्रेमास्पद की सत्ता में विलीन हो जाना। अहं की भावना का विलय जब तक नही हो जाता तब तक प्रेम की परिणति अधूरी ही रहती है। प्रेम के सम्बन्ध मे यह बलिदान की भावना एक देशीय नहीं सार्वदैशिक कही जा सकती है। इसमें व्यक्तिगत सकुचित सीमाओ का विस्तृत हो जाना ही सिद्धान्त रुप मे व्याप्त है। सीमाओ का बलिदान ही असीम होने की सच्ची साधना है। कबीर के दोहो मे "सिर"[1] अहं का प्रतीक है। सिर को भूमि पर रखना अह से सम्बन्धित उद्धत भावनाओ का मोचन ही है। कबीर दास जी ने इसी बलिदान की ओर संकेत करते हुए कहा है–

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मै नांहि।
प्रेम गली अति सॉकरी जामै द्वै न समाँय।

प्रेम की साधना द्वैत को हटाकर भावात्मक अद्वैत स्थापित करने की ही साधना है। अज्ञान के कारण यह द्वैत उपस्थित हो गया था। यह द्विविधा विभक्त चेतना एकीकरण की साधना मे लगी रहती है और इस एकीकरण की स्थापना के लिये बलिदान आवश्यक है। किन्तु बलिदान का महत्व प्रत्येक व्यक्ति समझ नही सकता और बलिदान के अभाव में प्रेम मात्र आसक्ति रह जाता है। जिसने एक बार अपने आप को प्रिय के प्रति पूर्ण रुपेण निवेदित कर दिया, वही प्रेम की गली मे प्रविष्ट हो सका। इस दृष्टि से बलिदान और आत्मसमर्पण एक ही है। इसलिये कबीर ने अन्य भक्त कवियों की भॉति बलिदान की कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए प्रेम की कठिनाई बतायी है। प्रेम के मार्ग की कठिनाई को अहम् के बलिदान से ही दूर किया जा सकता है।

---

1 (क) कबीर यहु घर प्रेम का खाला का धर नाहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माहि। पृ० – 251, दो० 19
(ख) कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम–अगाध
सीस–उतारि पग तलि धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद। कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०–15

प्रेम का अनिर्वचनीय आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है, जब भक्त अपने सिर को उतार कर इष्ट के चरणो में समर्पित कर दे। केवल प्रेम ही नहीं भक्ति के लिये भी यह बाते कही गयी हैं। जिससे कबीर मे भक्ति और प्रेम की एकता सिद्ध होती है।

प्रेम मे अनन्यता का तत्व भी एक आवश्यक तत्व है। इस अनन्यता का प्रतीक तुलसी ने चातक को माना है। कबीरदास जी ने अनन्य प्रेम का प्रतीक पतिव्रता को माना है। जिस प्रकार पतिव्रता का प्रेम एकनिष्ठ होता है उसी प्रकार भक्त को भी अपने इष्ट में अनन्य भाव से रत रहना चाहिये। कबीर का मत है कि कलियुग मे उस एक से ही प्रेम करके निश्चिन्त हुआ जा सकता है। प्रेम द्वारा ही मुक्ति के पश्चात आवागमन से जीव–मुक्त हो जाता है। यह औपनिषदिक मान्यता भी कबीर ने स्वीकार की है। प्रेम का मार्ग यद्यपि सहज मार्ग है पर मन की इस सहज स्थिति तक पहुंचने मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है। अगम्य प्रेम मार्ग को देखकर अच्छे मुनीश्वर भी शान्त हो जाते है।[1] प्रेम की कहानी अनिर्वचनीय है। इसके संबंध में कुछ भी कह सकना संभव नहीं है। इस अगम अनिर्वचनीय मार्ग को समझाने मे केवल गुरु ही सहायक हो सकता है। गुरु की कृपा से ही प्रेम की अकथ कहानी निःसंशय रुप मे समझ में आ सकती है। इस आध्यात्मिक प्रेम विद्यान मे गुरु का स्थान दूती के समान है। कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तो ने कुछ ऐसे प्रतीक का प्रयोग भक्ति निरुपण मे किया है जिनकी परम्परा के सूत्र महायान से नाथो तक के विकास क्रम में बिखरे पडे हैं। ये प्रतीक अपने मूल रुप मे ही सन्त साहित्य मे प्रयुक्त हैं।

कबीर की प्रतीक योजना मे मुख्य रुप से सुरति, शून्य सहज, अमृत, महारस आदि आये हैं। 'सुरति' वह शब्द है जो साधना में चित्व को संलग्न करता है और निरति वह निरालम्ब अवस्था है जो चित्त के नाद मे लीन हो जाने पर उपस्थित होती है। इसलिये चित्त को सुरति की ओर उन्मुख रहने का आदेश किया गया है।[2]

1 कबीर मारग अगम है, सब मुनि जन बैठे थामि कवि ग्रन्थावली,, दो 9, पृ०–31
2 अवधू सुरति मुषि बोले, सुरति मुषि चलै। गोरखबानी, पृ०–196

कबीर ने मुख्यतः नाथ सम्प्रदाय के अर्थ को ग्रहण किया है। यह सुरति उस ढेकुली के समान है जिसके सहारे मन बार–बार प्रेम रस का पान करता है। कबीर ने सुरति निरति के परिचय की बात कही है अर्थात् वह अवस्था जब अनाहद और चित्त वृत्ति से पृथक् रहते है पर एक दूसरे की ओर आकर्षित रहते है।

'सुरति' उस अवस्था मे परिणति होती है जब चित्तवृति नाद मे लय हो जाती है। 'निरति' प्रेम की दृष्टि से सुरति मन की वह अवस्था है जब साधक के चित्त की बर्हिमुख दृष्टियॉ प्रिय में लीन होने के लिये तीव्रता और आतुरता के साथ आगे बढे। यह अवस्था प्रेमी भक्तों के लिये अत्यन्त स्पृहणीय रही है क्योंकि एकाकारिता से पूर्व की इस स्थिति मे प्रेम का महारस व्याप्त रहता है। इसलिये योगी के लिये यह परम गतव्य है इसका स्थान बहुधा त्रिकुटी माना गया है। 'शून्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध और बौद्धेतर दोनो प्रकार की दार्शनिक परम्पराओं मे मिलता है। महायानियो मे शून्य परमात्मा या समष्टि चेतन का पर्याय माना जाता है–नाथ सम्प्रदाय मे परमतत्व के रुप मे ही शून्य गृहीत हुआ किन्तु यहॉ इसको भी नाद तत्व से समबद्ध कर दिया गया। एक और अर्थ शून्य के साथ नाथों ने और सम्बद्ध किया–ब्रह्मरन्ध्र। यही शिव का वास है। सन्त तथा सूफी सम्प्रदाय मे इन तीनों ही अर्थो का विकास मिलता है। कबीर ने शून्य से संसार की उत्पत्ति का रुपक दिया है। इस प्रकार कबीर का शून्य आदि तत्व का प्रतीक है। शून्य के अतिरिक्त शून्य मण्डल का भी प्रयोग मिलता है। शून्य से सम्बन्धित कई स्थल शरीर में माने गये है। त्रिकुटी में शिव या शून्य का स्थान माना गया है। ब्रह्मरन्ध्र को पार करने के उपरान्त सहस्रार कमल के मध्य में भी शून्य मण्डल की कल्पना की गई है। सन्तो ने इस अर्थ में शून्य का प्रयोग विशेष अर्थो में किया है कबीर ने गुफा के मध्य शून्य का आसन बताया है।

मीरा ने इसी सुन्न महल में सुरति सेज सजायी। कबीर ने इसी सुन्न मण्डल मे अपने अनन्त प्रियतम के साथ शान्ता भाव से प्रेम लीलाये की। उस दिव्य आध्यात्मिक केलि के लिये कोई सामान्य स्थल उपयुक्त नही हो सकता था। ब्रह्मरन्ध्र पर पहॅुचकर ही वह दिव्य नाद सुनाई पडता है। जो सुरति की स्थिति में चित्तवृत्तियों को स्थित कर देता है।

इन्ही प्रेम प्रक्रियाओ के परिणामस्वरुप निरति की अंतिम स्थिति आती है। कृष्ण भक्ति साहित्य मे शून्य मण्डल का रुपान्तर ब्रज मण्डल मे हो गया है। जिसके मध्य में राधा कृष्ण की नित्य क्रीडा–स्थली वृन्दावन स्थित है। यह गोलोक का अवतरित रुप ही है। कहीं–कहीं शून्य को 'गगन' भी लिखा हुआ है। उन्मन की प्राप्ति गगन मण्डल मे जाकर होती है। जहॉ चन्द्रमा के बिना चन्द्रिका रहती है और वह अलख निरजन का निवास है। इस शून्य मण्डल मे निरन्तर निवास की बात कबीर ने कही है। शून्य मंडल में एक लीलागत सहज भाव विकसित हो जाता है। जिसमे प्रियतम के साथ विभिन्न भावो के सम्बन्धो की मधुर अनुभूति होती रहती है। इसी मधुर अनुभूति की अवस्था को सहज समाधि की अवस्था कहा जाता है। 'सहज' शब्द सिद्ध और नाथ दोनों परम्पराओ में मिलता है। सिद्धों से पूर्व धर्म साधनाओं मे 'स्वाभाविक' के अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त रहा है। 'संत साहित्य' में प्राय सभी अर्थो मे सहज का प्रयोग मिलता है। कबीर ने परम तत्व के रुप मे सहज का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है। कबीर के परवर्ती साहित्य मे सहज की ईश्वर रुप कल्पना बहुत अधिक मिलती है। राम और कृष्ण दोनों को ही सहज रुप मे बताया गया है। पर कबीर ने सहज को ब्रह्म की संज्ञा दी है।

सहज समाधि का प्रयोग समाधि व भाव समाधि दोनो ही अर्थो मे मिलता है। नाथ परम्परा मे 'उन्मनी' अवस्था समाधि के लिये प्रयुक्त है। यह अवस्था शून्य और अशून्य दोनों से परे है। कबीर ने 'उनमन' समाधि को सहज समाधि से उत्पन्न बताया है यही सहज समाधि मनुष्य की भावात्मक सहज वृत्ति हैं यही स्वाभाविक अवस्था है। जिसमें परम तत्व की अनुभूति स्वभाव का अंग बन जाती है। परमपद के अर्थ मे भी सहज का प्रयोग हुआ है। अतिम रुप सहज जीवन पद्धति का है जिसकी परम्परा "कबहु कहौं या रहनिरहौगो" तक चली गई है। सन्त लोग "उन्मनी" समाधि की साधना तो अवश्य करते थे पर सहज स्वभाव से भक्ति करने का उपदेश शिष्यो को देते थे। यह वैष्णव पद्धति का ही प्रभाव माना जा सकता है। वैष्णवी पद्धति मे अनासक्त और निष्काम भाव से किये गये सभी कार्य सहज माने जाते थे।

सहज के इन प्रयोगों और अर्थो में दिव्य प्रेम की भूमिका ही है। परम तत्व की शास्त्रीय व्याख्याये और निरुपण पद्धति को त्यागकर सहज रुप मे स्थित करके उसे प्रेम सम्बन्ध के योग्य ईश्वर रुप में लाया गया । इस परम तत्व का भावात्मक परिचय ही स्वाभाविक ज्ञान या सहज के अन्तर्गत आता है। सहज समाधि मन की वह दिव्य अवस्था है जो दिव्य अनुभूतियों की क्रीडा स्थली बन सकती है। सहज की समस्त भावना पर वैष्णवी प्रेम भावना छायी रही। और योग तंत्रात्मक पारिभाषी अर्थ भाव योग मे समाविष्ट होती गयी।

वास्तव में सहज योग का संदेश देकर कबीर ने मानव–हृदय की सहजता को ही महत्व दिया है, जो अलभ्य होकर भी सर्वथा सुलभ है। मानव की मूल प्रवृत्तियॉ, वैर, द्वेष, क्रोध आदि नहीं, प्रेम और विश्वास है। प्रेम और विश्वास के बल पर ही संसार में जीवन है। प्रथम सास से अन्तिम सांस तक प्रत्येक जीवन प्रेम का ही प्रमाण होता है। जप, योग, वैराग्य सबके लिये सुलभ नहीं किन्तु सहजता तो सबके लिये सहज है। यह सहजता हृदय की सहज प्रवृत्ति प्रेम और विश्वास का ही पर्याय है। और सहजता तभी सार्थक है जब –

सहज–सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोई।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कही जै सोई।।[1]

जिस सहजता से हरि मिले उसे ही वास्तव में सहज कहना चाहिये निश्चय ही यह सहजता उस परम के प्रति हृदय का सहज स्वाभाविक निर्मल प्रेम ही हो सकता है जिसके लिये व्यक्ति को किसी बाहरी आडम्बर की आवश्यकता नही होती।

प्रेम का महत्व इस कारण से है कि वह मानव प्रकृति की दृष्टि से अधिक सहज और स्वाभाविक है। 'सहज' और 'सप्रयत्न' का स्वरुप भारतीय आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदि काल से मिलता रहा है। मन एक ओर मूल वृत्तियो से सम्बद्ध होता है और जन्मजात वृत्तियों की प्रेरणा से ही इन्द्रियो के माध्यम से वह सांसारिक विषयों की ओर चलता है किन्तु साधक का लक्ष्य होता है–मन की गति

---

1 कबीर–सहज कौ अग, दोहा–4, पृ०–179

को नियत्रित करना होता है। यदि किसी ने जगत को मिथ्या कहकर मन को रोकना चाहा तो किसी ने मन को योग साधना से मारने का आदेश दिया। इन दोनों ही दृष्टियों में सहज प्रक्रिया का अभाव है। अतः किसी भी क्षण ज्ञान और योग के प्रयत्नो का भवन ढह सकता है।

अत कबीर ने ज्ञान और योग के संस्कारों से युक्त होते हुये भी सहज साधना का समर्थन किया यह साधना मनुष्य की सहज वृत्तियो का निराकरण नहीं करना चाहती वरन उन्हीं वृत्तियों को साधना के रुप मे परिणत करना चाहती है। सहज का यह तत्व केवल साधना का ही अग नही है उस साधना की भावभूमि से भी सम्बद्ध है। इस प्रकार शून्य सुरति और सहज ये तीनों प्रतीक कबीर की प्रेम पद्धति मे आये है। एवं उन पर प्रेम की दृष्टि से विचार किया गया है। चूँकि प्रेम अविभाज्य है। तत्वतः उनकी श्रेणियॉ नही हो सकती लेकिन परिणति के रुपो में आलम्बन के आधार पर भेद प्रस्तुत हो जाते है। प्रेम का विस्तार आत्मा का ही विस्तार है। कबीर का आत्मस्थ प्रेम कभी रहस्यात्मक आलम्बन के आश्रित होकर प्रकट होता है और कभी समस्त मानव जाति के आलम्बन के रुप में ग्रहण करके स्फुरित होता है। जहॉ आलम्बन रहस्यात्मक है वहॉ जैसे कबीर के प्रेम का पंछी अपनी उडान में अनन्त आकाश का नाप लेना चाहता है और जहॉ मानव उसका आलम्बन है वहॉ उसका प्रसार जन–जन में होता है साथ ही प्रेम मार्ग के बाधक तत्वों के प्रति एक वीर भाव भी जुड जाता है। कबीर के उस अलौकिक प्रेम के कई रुप है। इन रुपो से तात्पर्य इन समबद्ध भावानाओं का विश्लेषण है जो कबीर ने अपने इष्ट के प्रति प्रदर्शित किया है। इन सम्बन्धो की स्थापना ही भक्ति साधना की विशेषता है।

यद्यपि कबीर का प्रियतम निर्गुण निराकार ही है फिर भी उसके सम्बन्ध मे जो भावनाये कबीर साहित्य में व्यक्त हुई है वे किसी न किसी सम्बन्ध कल्पना के आधार पर ही हैं। ये सम्बन्ध प्रेम से प्रेरित मानवीय सम्बन्धों से भिन्न नहीं है। काव्य मे उनकी जो रुप–रेखा बनायी गयी है वह उन्ही उपकरणो से बनी है जिनसे हमारे मानवीय सम्बन्ध निर्धारित होते है।

रामानन्द सम्प्रदाय में यद्यपि भक्त और भगवान के नौ प्रकार के सम्बन्ध स्वीकृत किये गये है किन्तु इन सभी भावों का तीन भक्ति पद्धितियो में समाहार हो जाता है। ये है–शान्त, दास्य एवं माधुर्य। कबीर ने मुख्यत इन्हीं तीन रुपो मे प्रेम भक्ति की अभिव्यजना की है। रामानन्द जी ने शान्त भक्ति पर स्वतत्र रुप से विचार नही किया पर इस सम्प्रदाय मे इस भक्ति रुप का प्रचलित होना स्वाभाविक था क्योंकि ज्ञान और वैराग्य की उद्बद्ध परम्पराये इस सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि मे थी। ज्ञान और वैराग्य शान्ता भक्ति के दो आधार स्तम्भ है। इसमें सम्बन्ध भावना ब्रह्म–जीव अंश–अंशी आदि रुपों मे प्रकट होती है। वेदान्त में भी यही सम्बन्ध मान्य है कबीर में सबसे अधिक यही सम्बन्ध व्यक्त हुआ है इस भक्ति पद्धति और वेदान्त ज्ञान, योग वैराग्य की पद्धतियों के बीच विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है, अन्तर केवल इतना ही है कि जीव और ब्रह्म का शुद्ध निरुपण न करके शान्ता भक्ति के अनुगामियों ने जीव की भगवान के साथ सम्बन्ध भावना को अधिक भाव रंजित करके और लौकिक रुपकों से अधिक तीव्रता प्रदान करके जीव की मिलनेच्छा पर अधिक बल दिया है।

इस प्रकार शान्त भाव की प्रेमपरक परिणति ही शान्ता भक्ति है। मूल भाव आध्यात्मिक रति ही है। इस रति के बाधक असत तत्व और अज्ञान है। मन इस असत और नश्वर तत्वों की ओर आसक्त होकर अध्यात्मिक रति को विस्मृत कर देता है। इस भ्रम से पडा हुआ जीव मन को एकाग्र नहीं कर पाता, इसलिये भ्रम विषयक सत्य, विवेक और संसार विषयक मिथ्यात्व की अनुभूति करने के पश्चात उस आत्म रति को जागृत कर सकता है। इस प्रकार शान्त भाव साक्ष्य बनकर नही प्रेम की साधना का अनिवार्य अंग बनकर आता है। साध्य, प्रेम रुप ही बना रहता है पर साधना पथ साधन निर्वेद वश आच्छादित रहता है। रागानुगा प्रेम भक्ति से शान्ता भक्ति का यही अन्तर है।

दास्य भक्ति :– रामानन्द सम्प्रदाय में सबसे अधिक मान्यता दास्य भक्ति को ही प्राप्त थी एवं कबीर को दास्य भक्ति के सस्कार इन्ही से प्राप्त हुये थे। इस भक्ति के अनुसार भगवान के साथ जीव का सेवक–स्वामी सम्बन्ध मान्य है। कबीर ने

अपने को कुत्ते के रुपक से व्यक्त किया है।[1] नारदी भक्ति सूत्र मे भी दास्य भाव की महिमा गायी गयी है। जन्म जन्मान्तरों के पश्चात भी यदि प्रभु के प्रति दास्य भाव प्राप्त हो जाय तो समस्त लोक का कल्याण हो सकता है। दास्य भक्ति के दो रुप माने गये है। पहले का सम्बन्ध मूर्ति की सेवा–पूजा अर्चना आदि से है एव दूसरा रुप अपने मन के अंहकार का विनाश करके अपने को क्षुद्र समझकर, भगवान के प्रति अपने को निवेदित करने आदि से सम्बन्धि है।

कबीर का सम्बन्ध प्रथम रुप से नही, द्वितीय रुप से ही है क्योकि कबीर मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। दास्य भक्ति मे भगवान के एश्वर्य की स्वीकृति तो रहती है एव दास के बलिदान की भावना भी सबसे अधिक अपेक्षित होती है। लौकिक और अलौकिक दास मे एक मूल अन्तर होता है कि लौकिक दास विवशता का अनुभव करता है। लेकिन भगवान के दास के साथ इस प्रकार की स्थिति नही रहती है क्योंकि वह विवशता के स्थान पर प्रेम जन्य होता है। इसमें दास्य को मुक्त अनुभूति होती है। लज्जा के स्थान पर गर्व का अनुभव होता है। अत इस प्रेम प्रेरित दास में बडा से बडा बलिदान कर देना भी भक्त दास के लिये बडी बात नही होती। इसलिये कबीर ने दास के द्वारा प्राणोत्सर्ग पर अधिक बल दिया है। अपने सिर को भगवान को समर्पित कर देने में शूर–वीर को सोच–विचार नही करना चाहिये।[2] अन्तत· कबीर अपने को भगवान को समर्पित कर देते है। गुलाम का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। इसलिये कबीर कहते है हे राम! तुम मुझे बेच सकते हो किन्तु बेचने वाला और खरीदने वाला अलग–अलग थोडे ही है। यह भाव इस पद मे व्यक्त किया गया है :–

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाँई
तन, मन, धन मेरा राम जी के ताई।[3]

---

1 कबीर–हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर कूता राम का, मोतिया मेरा नाऊ
गले राम की जेवडी, जित खैचे तित जाऊँ।, पृ०–130

2 अब तो झूज्या ही बडौ, मुडि चल्या घर दूरि
सिर साहिब को सौपता, सोच न किजै सूरि। कवि ग्रन्थावली, पृ0 69

3 कवि ग्रन्थावली, पद–113, पृ०–124

अन्त में कबीर का विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जो सब लोगो का पालनकर्ता है वह मेरा भी प्रतिपालन करेगा इसलिये उसी एक की सेवा करनी चाहिये। यदि हरिजन से चूक भी बन पड़ती है तो वह भी भगवान का ही है। मन और जीवन माया के वश में आकर विषयों की ओर चलने लगता है। पर दास को इस माया से मुक्ति भगवान ही कर सकता है।

शान्ता भक्ति ने कबीर की मानसिक स्थिति को स्थिर करके अन्तत उनको दास बना दिया। शान्ता भक्ति यदि ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग पर प्रथम चरण है तो दास्य भक्ति में शान्ति भक्ति द्वितीय चरण है। इसमे प्रिय का अगम अगोचर रुप कुछ ऐसे अलौकिक गुणों से युक्त हो उठता है कि भक्त का विश्वास सुदृढ हो जात है और उसके प्रति आत्म समर्पण की भावना उत्कट हो जाती है। इस आत्मसमर्पण की गहराइयो में अनन्य प्रेम की धारा प्रवाहित रहती है। दास्य भक्ति के अन्य आवश्यक उपकरण कबीर के विश्वास को और बढा देते है जैसे.— 1 भगवान के अनन्त गुण 2. उसका अनुपम सौन्दर्य, उनकी उदारता एव उनकी भक्त वत्सलता। इस प्रकार दास्य भक्ति के माध्यम से कबीर ने अपने प्रेम को ईश्वर के प्रति अभिव्यक्त किया है।

कबीर में योग और नाथ सम्प्रदायों से दाम्पत्य भाव के पूरक, कभी अप्रस्तुत के रुप मे, कभी प्रस्तुत के रुप में काव्य मे प्रविष्ट हुये थे। यद्यपि उन्हें शान्ता भक्ति और दास्य भक्ति गुरु परम्परा से पहले ही मिल चुकी थी। संसार के अनेक रहस्यवादी, कवियो ने आत्मा और परमान्मा के सम्बन्ध को दाम्पत्य भावना के रुप मे ग्रहण किया है। भारतीय साधना पद्धति मे यह दाम्पत्य भावना कभी रुपकत्व और कभी भाव शबलता की अभिव्यक्ति के लिये अपनायी गयी। वेद, उपनिषद और आगम तीनो ही विचारधाराओं में स्त्री पुरुष संयोग को रुपक अथवा प्रतीक के रुप मे लिया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रियतमा द्वारा आलिगित होने पर सभी बाहरी व भीतरी बातों को एक दम भूल जाता हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाने पर सभी बाहरी व भीतरी ज्ञान को भुला देता है।

भक्ति कालीन हिन्दी साहित्य मे सबसे अधिक लोकिप्रिय भावना दामपत्य प्रेम की ही है। क्योकि प्रेम की चरम परिणति इसी सबंध में मानी गयी है। इस संबंध को मानने के अनेक कारण हो सकते है। पहला यह हैं कि–यह सबंध मानव का आदिम सम्बन्ध है। और उसका स्रोत मनुष्य की प्रबल मूलवृत्ति काम भावना से है। दूसरी बात यह है कि प्रेम के जितने रुप मिलते है उसमे सबसे अधिक तीव्रता व व्यापकता इसी सम्बन्ध द्वारा व्यक्त की जा सकती है।

कबीर की दामपत्य भावना कामशास्त्रीय व काव्यशास्त्रीय श्रृंगार निरुपण से प्रभावित नही है। उसका स्रोत लोक गीतो मे प्राप्त वैवाहिक आचार स्रोत लोक गीतो में ही विशेष रुप से दिखता है। कबीर अपने को राम की बहुरिया ही मानते है। इस स्वकीया भाव का स्रोत भी सिद्ध नाथ परम्परा मे दिखता है। भक्तिकालीन कवियों मे विरह की व्यापकता संयोग से अधिक महत्व पूर्ण है। विरह में तडपने के बाद ही आत्मा परमात्मा से मिल पाती है। इसलिये यहॉ पहले विरह की ही व्यापकता पर विचार किया गया है।

विरह–प्रेम :– संयोग की अपेक्षा विरह को महत्व देने का सबसे बडा कारण यह है कि यह भगवद् रति को उत्पन्न करके साधना को उत्कट बनाता हुआ साध्य की ओर ले जाता है। अर्थात् यह आत्मा को विरह मे तपाकर क्लेश मुक्त करके परमात्मा से मिलाता है। क्योंकि जीव, ब्रह्म से अलग है यही विरह की अवस्था है।

कबीर कहते है कि सच्चा साधु वह है जिसके हृदय को विरह सर्प ने क्षत–विक्षत कर दिया है फिर भी वह पीछे नहीं हटता।[1] कबीर ने विरह को सुलतान बताया है और जिस हृदय मे विरह सचरित नहीं है उसे श्मशान व्रत कहा है।[2] यह विरह भगवान से जीव का वियुक्त होना ही हैं चकवी रात को पति से वियुक्त होकर प्रभात मे उससे मिल जाती है पर राम से वियुक्त जीव विरह मे तडपता रहता है। इस प्रकार जीव विरह के अग्नि पुंज मे दग्ध रहता है। विरह का वेग जितना ही प्रबल

---

1 'विरह भुवगम पैसि करि, किया कलेजे घाव '। कवि ग्रन्थावलीपृ 9,, दो 19
2. बिरहा–विरहा जनि कहौ, विरहा सुलितान
जिस घटि बिरह न सचरै सौ घट सदामसान। कवि ग्रन्थावली दो – 91

होगा मिलन की उत्कंठा उतनी प्रबल होगी। इस विरह की ऐसी जलन है कि बाहर धुआ भी प्रकट नही होता। इस विरहाग्नि को प्रदीप्त करने का श्रेय गुरु को है।

गुरु के विरहाग्नि प्रज्वलित करने का अर्थ यह है कि जीव और ब्रह्म के रहस्यमय आदि सम्बन्ध का मार्मिक बोध गुरु के द्वारा ही होता है। इससे भ्रम मे पडा हुआ जीव परमतत्व के वियोग की पीडा का अनुभव करने लगता है। अर्थात ईश्वर से किस तरह मिला जाय इसका ज्ञान हो जाता है। कबीर ने आध्यात्मिक विरह का महत्व ही नहीं उसका सुन्दर चित्र भी खीचा है। सबसे पहले विरहिणी की ऑखे विरह का कमण्डल लेकर योगिनी ही बन गई हैं और हरि दर्शन की भिक्षा मॉग रही है। इन विरागी नयनों को देखते ही बनता है।

विरह कमण्डल कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगै दरस मधूकरी छके रहे दिन–रैन ।।[1]

इन ऑखों मे ऑसू भरे रहते है फिर भी जलते ही रहते है इन ऑखो को प्रतिक्षण प्रिय की राह देखनी पडती है। और इस प्रकार ये कुछ मद भी पड गयी है। पर प्रियतम नही आये –

अखंड़ियाँ झांई पड़ी पंथ निहारि–निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या राम पुकारि–पुकारि।।[2]

विरहिणी की ऑखे प्रेम के कारण कडुवा रही हैं। दुनिया तो यह समझ रही है कि वह दुख रही है। वस्तुत. ये यह प्रिय के लिये रोती–रोती लाल हो गयी है। विरहिणी के ऑखों का रोना तो उसका धर्म ही है क्योकि ये प्रेम के आंसू ही विरहिणी को उसके प्रियतम से कभी न कभी मिला सकेगे। यदि बिना रोये प्रियतम मिल जाता तो ससार मे सभी सुहागिने होती।[3] विरहिणी के सामने चित्र भी बहुत सजीव है। विरहिणी का ह्रदय तडप रहा है।

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०–252
2 कबीर ग्रथावली – दोहा 22, पृ०–91
3 हसि–हसि कत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हासेरी हरि मिलै, तो नही दुहागनि कोई।। ह प्र द्विवेदी– कबीर वाणी, पृ०–9 दो 29

तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहीं चैन रात नहिं निदिया,
तलफ–तलफ के भोर किया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
हरो पीर दुख जोर किया।[1]

कबीर ने विरहिणी के तडप को कभी मीन के समान एवं कभी चातक के समान बताया है। विरहिणी के प्रीतम के विरह मे अपने समस्त श्रृगार उपकरण भार लगते है। पतिव्रता नारी होने के नाते विरहिणी का समस्त श्रृगार प्रिय के लिये ही होता था अब किसकी प्रसन्नता के लिये श्रृंगार करे। इसके अतिरिक्त कभी–कभी रीतिकालीन नायिका की भॉति कबीर का विरहिणी को विरह ताप की शान्ति के लिये किये गये शीतल उपचार भी दाहक लगने लगते है।–

जरै सरीर यह तन कोई न बुझावै।
अनल दहै निस नींद न आवै।
चंदन घसि घसि अंग लगाऊँ
राम बिना दासन दुख पाउँ।[2]

इस प्रकार प्रेम और अध्यात्म दोनों प्रकार की अनुभूतियो की तीव्रता मे कबीर की विरहिणी को हिन्दी साहित्य की विरहणियों मे अनुपम स्थान दिला दिया है। जिस विरह को गुरु ने जागृत किया था वही विरह बढता–बढता उस स्थिति तक पहुंच गया जब विरह ही मिलन में परिणत हो जाता है। अब विरहिणी विरह की धनीभूत स्थिति में अपने प्रिय को अपने अंग–प्रत्यगो मे अनुभव करने लगी। प्रियतम विदेश में नहीं उसके मन में ही बसा है। विरह की यही चरमावास्था है।––

प्रीतम को पतिया लिखूं, जो कहु होय विदेश,
तन में, मन में, नैन में वाकों कहा संदेश।

विरह की यह अवस्था ही लौकिक प्रेम को अलौकिक बना देती है। सूर की गोपियॉ भी अन्त मे कृष्ण की लीलाओ का अनुकरण करके अपने को कृष्णमय देखने लगी थी। लौकिक और अलौकिक विरह का यही सूक्ष्म अन्तर है। शारीरिक संयोग

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी–परिशिष्ट कबीर वाणी (छठा सस्करण), पृ० – 250
2 ह प्र. शि कबीर–वाणी (परि0 2) पृ०–331

स्थूल है किन्तु विरह मे मिलने वाला संयोग सूक्ष्म है। विरह के पश्चात् प्रिय समागम की उत्कट इच्छाये विराहिणी के आत्मा में बस गयी है। इस प्रकार उसका मन एक प्रकार के विवाह मिलन के लिये उत्सुक हो उठा। एक दिन विरहिणी जगी तो उसने अपनी सखी से अपने स्वप्न की बात कही–

सुनि सखि सपिनै की गति ऐसी, हरि आये हम पास
सोबत ही जगाइया, जागत भये उदास।[1]

मिलनेच्छा की पीडा इस स्वप्न से और बढ गयी अब एक क्षण भी उस अनन्त मिलन के बिना वह नही रह सकती।

इस प्रकार प्रेम साधना के अत साध्य के समीप विरहिणी पहुची। निष्ठुर प्रियतम की निष्ठुरता विरहिणी की साधना की ज्वाला से द्रवीभूत हो गयी और उसने अपनी प्रियतमा बनाने के लिये विरहिणी का 'पाणिग्रहण' किया। अपने सानिध्य मे युग–युग की प्यासी विरहिणी पर उन्होने कृपा की– **'बाँह पकरि करि कृपा किन्ही आफ समीप लई'**। इसके पश्चात दिन प्रतिदिन प्रेम बढने लगा, घटने का तो प्रश्न ही नही था। इस प्रकार विरहिणी सुहागिनी बनी। उसके अनुसार – सुहागिनी वही है जो अपने तन–मन और जीवन को समर्पित कर दे।[2] प्रियतम के बिना वह सूनी सेज पर जब वह सोती है तो वह सेज सिंह जैसी लगती है कि सोते ही खा जायेगी। इस कल्पना से सूर की "सापिन भई सेजिया" वाली कल्पना स्मृति मे आ जाती है। कबीर की विरहिणी अत में प्रियतम का आकुल आवाहन करती है। समस्त लोक विरहिणी को राम की बहुरिया मानता है। पर जब तक प्रियतम से एकमेक नही हो जाती तब तक प्रियतम का श्रेय निरर्थक ही है। प्रियतम से मिलन ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ विवाह भी सम्पन्न हुआ। 'विवाह' भी यहॉ एक प्रतीक है। हिन्दू धर्म के अनुसार वैवाहिक ग्रथि में कभी विच्छेद नहीं होता। साथ इस ग्रथि मे बंधने के पश्चात् विवाहिता स्वतंत्र नही अर्धागिनी बन जाती है। इस प्रकार विवाह प्रियतम के अगीभूत होने का एक आध्यात्मिक प्रतीक बन जाता है –

---

1 कवि ग्रन्थावली, पृ०–190 पद 302
2 तन–मन जीवन सौपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा। कवि ग्रन्थावली पृ०–113 पद 139

दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजाराम भरतार।[1]

यह विवाह सांग रुपक है जिनमे यदि रहस्यवादी सकेत निकाल दिये जॉय तो एक शुद्ध लोकगीत बच जायेगा। इसमें विवाह पूर्ण हो गया है।

कुछ ऐसे भी रुपक हैं जिनमें विवाह की समस्त तैयारियां हो चुकी है पर विवाह पूर्ण नही हुआ है क्योकि बिना दुल्हा के विवाह नहीं हो सकता। यह अत्यन्त करुण स्थिति है। यद्यपि यह विरह को और उग्र बनाने वाला विवाह है। यहां विराहिणी अपने अनदेखे पति के नाम पर सती होकर परलोक मे मिलने की भूमिका प्रस्तुत करती है।

संयोग प्रेम :– अब सेज पर चलना है। सेज तैयार है। सम्भवत· प्रियतम प्रतीक्षा भी कर रहा है। प्रिया ने मिलने के लिये समस्त श्रृगार भी कर लिया है और प्रियतम के सम्बन्ध मे उसका विश्वास भी दृढ है :–

किया श्रृंगार मिलन के तांई
काहे न मिल्यो राजा राम गुसांई
अब के बेर मिलन जो पांऊं,
कहै कबीर भौ जलि गहि आंऊ।[2]

यहॉ कबीर ने अभिसारिका नायिका का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। अभिसारिका की सेज यात्रा अनेक मानसिक उहा–पोहो से युक्त रहती है। पर प्रेम की अविरल वषो में पूर्ण नायिका पूर्ण स्नात हो चुकी है। प्रियतम के मिलन के बिना अब वह रह नही सकती इसलिये आरती सजाकर प्रिय–मिलन को चली है–

भींजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन।
आरत साज के चली है सुहागिन प्रिय अपने को ढूंढन।[3]

---

1. कवि ग्रन्थावली परिशिष्ट पृ०–295
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीण वाणी (परि 2), पद–117, पृष्ठ–125
3 हजारी प्रसाद द्विवेदी–कबीर परि0 2 (कबीर वाणी पृ० 254)

प्रियतम की अटारी ऊँची है। अभिसारिका सलज्ज है अंगो मे कम्पन्न है। सावधानी से वह पैर आगे रखती है पर पैर ठहरते नही। अभिसारिका का इससे अधिक सुन्दर चित्र निर्गुण भक्ति साहित्य में तो नही मिल सकता :—

पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी।
ऊंचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।।
छोरो कुमति—विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु—शब्द सम्भारि चरन चित दिजिये।।
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाब री।
दिल—बिच दास कबीर मिलैं तोहि बावरी।।[1]

इसके पश्चात् रति—रीति मे भोली अभिसारिका को सत्गुरु रुपी दूती मिलती है जो उसे रति रीति समझा देती है और तभी प्रिय से आलिंगन करने की शक्ति उसे प्राप्त होती है —

दूती सतगुरु मिले बीच में दीन हों भेद बताय
साहब कबीर पिया सो भेंटयौ शीतल कंठ लगाय।[2]

इस प्रकार रस की अभिलाषा से आन्दोलित रति— भीता अज्ञात यौवना नायिका की भॉति झिझकती कबीर की दुलहिन पिय की सेज की ओर बढ रही है। और एक ही शैया पिग्र के साथ स्थित है। अब मिलन सम्भव हुआ। प्रियतम के मन का निगूढ प्रेम भी प्रकट हो गया। सुहागिन धन्य हो गई। इस प्रकार आध्यात्मिक मिलन के आवागमन से मुक्ति मिली। सुहागिन सब कुछ देकर अपने प्रियतम पर एकाधिकार रखना चाहती है इसलिये उसे अपनी आखों मे बसा लेना चाहती है कि उससे अधिक सुरक्षित स्थान नही मिल सकता है।

सेज पर चढने का निमंत्रण एवं प्रिय से मिलने की बात स्वयं मुक्ताभिसारिका नायिका ने की —

ये अखियाँ उलसानी, पिया हो सेज चलो।
धीरे पांव धरो पलंगा पर जागत ननद जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक—लाज बिलगानी।।[3]

---

1 कबीर वचनावली हरिऔध द्वारा सम्पादित — का. ना प्र स — 1916 पृ० 141—42
2 कबीर वचनावली (स0 हरिऔध) का न प्र सभा — 136—37
3. कबीर वचनावली (स. हरिऔध) क. ना प्र पृ० 166

इस प्रकार इस मिलन से महारस की प्राप्ति हुई। यही आध्यात्मिक प्रेम के पूर्ण परिपाक की स्थिति है। सिद्ध साधकों ने इस रस को महारस कहा था। यह महारस राम रस के समान है जिसके सहज कलाली (साकी) प्याली भर कर पिलाती है और जिसके पान से अद्‌भुत लोकोत्तर उन्मत्तता आ जाती है।

महारस से सिक्त परम प्रिय की नगरी का आकर्षण इतना बढ गया कि प्रियतमा को मैहर की बात भी नही सुहाती। वह सदैव उसी प्रेम नगर मे रहना चाहती है जहॉ निरन्तर महारस अमृत झरता रहता है।[1]

मानव प्रेम :– तत्कालीन युग की व्याकुलता जैसे कबीर के व्यक्तित्व मे भर गयी और कबीर ने एक सामान्य धरातल की खोज की जो पंडित और मौलवियों की अंध धर्म विधियो से परिचालित नही होता अपितु जहॉ प्रेम ही नियामक है, जहॉ मंदिर और मस्जिद मानव को विभाजित नही करते अपितु जहॉ प्रेम मंदिर में सभी सम्मिलित रुप से अर्चना कर सकते है। उस सामान्य धरातल की खोज मे कबीर को प्रेम का ही क्षेत्र मिला यह प्रेम वर्गीय स्वार्थो से कलुषित नहीं था इस धरातल पर राजा–रंक, एक ऊँच–नीच पंडित मौलबी सब मिल सकते है। जहां अन्य सगुण भक्त कवियों ने भू–भार निवारण के लिये भगवान का करुण आहवान किया है वहॉ कबीर का मानव प्रेम एक अन्य प्रकार से व्यक्त हुआ हैं। कबीर उन तत्वो से कभी समझौता नहीं कर सके जो मानव के मुक्त विकास मे बाधक थे।

यह कबीर का आध्यात्मोन्मुखी व्यक्तित्व समाजोन्मुखी होकर मानव प्रेम का सदेश सुनाने लगा। यह प्रेम केवल मनुष्य तक सीमित नही था वरन जीव मात्र तक विस्तृत हो गया था। कबीर का विश्वास था कि समस्त धर्मो का मूल तत्व प्रेम ही है। किन्तु कालान्तर मे बाह्याचारो की जटिलताओं ने उस मूल प्रेम तत्व को आच्छादित कर लिया है और उन बाह्याचारों के नाम पर ईर्ष्या–द्वेष संबंध को जन्म दिया।

---

1 नहरवा हमे का नहि भावै
साई की नगरी परम अति सुन्दर, जहॉं कोई जाइ न आवै। कबीर साहित्य की शाब्दावली इलाहाबाद 1900 पृ०–72 तथा कबीर डा0 द्विवेदी पृ० 199

इस प्रकार कबीर वैयिक्तक रहस्य साधना से सयुक्त होते हुये उनकी प्रेम पुकार ने समाज के सभी दिशाओ को स्पर्श किया और प्रेम की पुकार मे वह करुणा भरी कि उनके पश्चात आने वाले समस्त महापुरुषो का हृदय प्रेम की करुण पुकार से द्रवित हो गया।

कबीर की दार्शनिक चेतना :– कबीर के प्रेम मे चिन्तन पक्ष को समझने के पश्चात् उनकी दार्शनिक चेतना पर विचार करना आवश्यक समझा गया है। कबीर ने 'सत' के स्वरुप का उद्घाटन अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर लिया है। वह उनकी स्वय की अनुभूति थी जिसे प्रातिभ ज्ञान भी कहते हैं। यह ज्ञान तर्क एव बुद्धि पर आधारित नहीं होता है। कबीर ने कभी तर्क एवं बुद्धि से किसी तात्विक वस्तु के स्वरुप को निर्धारित करने की चेष्टा नहीं है। इसलिये वे दार्शनिक न होकर एक साधक ही ठहरते हैं। पर इतना अवश्य है कि कबीर परमतत्व, जीवन, जगत, माया आदि के विषय में अपने विचार व्यक्त किये है। इस आधार पर उन्हें दार्शनिक की कोटि मे रखा जा सकता है। क्योंकि जब वे ज्ञान की बाते करते है तो उनके विचार स्वय ही दार्शनिक की श्रेणी मे आ जाते है।

कबीर के दार्शनिक व्यक्तितत्व के बारे मे भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न मत व्यक्त किये हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास ने कबीर को 'अद्वैतवादी' माना है। डॉ० राभ कुमार वर्मा के अनुसार "अद्वैतवाद और सूफी मत में ईश्वर की जो भावना है, वही उन्होंने अपने दर्शन में रखी है।" उनका ईश्वर सर्वोपरि है – संसार के कण–कण मे विद्यमान होते हुये भी ससार से परे हैं।" परशुराम चतुर्वेदी ने स्वयं कबीर की पंक्तियों को उद्धृत करके यह प्रमाणित करना चाहा है कि कबीर के मत मे जो तत्व प्रकाशित हुआ था, वह उनके स्वाधीन चिंतन का ही परिणाम था।[1] इस प्रकार कबीर के दार्शनिक व्यक्तित्व के विषय मे निम्नलिखित मत व्यक्त किया जा सकता है। कबीर एकेश्वरवादी एव अद्वैतवादी थे। वे नाथा योग से प्रभावित द्वैताद्वैतविलक्षण समत्ववादी थे। कबीर द्वारा प्रतिपादित परमतत्व निर्गुण–सगुण से परे अनिर्वचनीय है।

---

1 कबीर साहित्य की परख, पृ० – 89 (सवत 2011)

कबीर ने अपने निर्गुण राम के लिये जितने शब्दों का प्रयोग किया है उन शब्दो के पीछे सैकडो वर्षों से चले आ रहे धार्मिक के सहारे आध्यात्मिक अनुभूति को ठीक–ठीक व्यक्त करना संभव नहीं है। कबीर का निर्गुण राम (परमतत्व) सर्वनिरपेक्ष होते हुये भी 'एक' है। वे कभी–कभी भेद–दृष्टि वालों की जडता पर खीझ जाते हैं और कहते है – अरे भाई, क्यो व्यर्थ में बीच में भेद पैदा करते हो? तत्व दो कैसे हो सकता है। हिन्दू और मुसलमानो का कर्ता एक ही है। परमतत्व एक है, किन्तु वह सबमे व्याप्त है। जो परमात्मा सारी सृष्टि मे समाया हुआ है। वही हमारे हृदय मे भी विद्यमान है। कबीर पूरे विश्व के कण–कण मे अपने परम तत्व का दर्शन करते है। इस प्रकार अपने एकेश्वरवादी प्रेम के माध्यम से कबीर तत्कालीन युग मे व्याप्त सामाजिक भेद–भाव को समाप्त करने का प्रयास करते हुये दिखाई देते हैं।

कबीर अपने परमतत्व को निर्गुण, निराकार कहते हुये भी उसमे गुणो की स्थिति मानते है जैसे अन्य सभी भक्त अपने आराध्य मे मानते है इनके निर्गुण राम कृपालु है, उन्ही की कृपा से कबीर जरा–भरण से मुक्त हो सके है। कबीर परमतत्व के प्रति अपने प्रेम का निवेदन करते हुये कहते हैं कि हे प्रभु न तुम्हारे समान कोई दाता है न हमारे समान कोई पायी। यहॉ पर कबीर का दैन्य प्रेम दिखाई देता है। उन्होंने अपने राम के लिये 'भक्तवत्सल', तरनतारन' आदि विशेषणो का भी प्रयोग किया है।

जब कबीर परमतत्व को निर्गुण कहते है, तब उनका तात्पर्य यह होता है कि परम तत्व 'सत', 'रज', 'तम', से परे है। अर्थात् वह माया के गुणो से रहित है किन्तु उसमे वे सभी गुण है जो उसके भक्तो का उपास्य बना सकते हैं। जगत की सृष्टि करने में भगवान को किसी की सहायता की आवश्यकता नही पडती। यह उनकी स्वय रचना शक्ति ही उनका 'तेज' है।[1] कबीर के परमतत्व की एक और विशेषता यह है कि वह आकार रहित और अव्यक्त होते हुये भी अर्थात् हाथ, पैर, मुख, कान, जिह्वा आदि के न होने पर भी वह संसार की सारी संवेदनाये ग्रहण करने में समर्थ

---

1. भारतीय दर्शन – प० बलदेव उपाध्याय पृ० – 555–56

है। वह बिना मुख के खाता है, बिना पैरों के चलता है और बिना जिह्वा के गुणगान करता है। अपने स्थान पर स्थिर रहते हुये भी दशों दिशाओ मे गतिशील रहता है।[1]

परमतत्व के सबंध में कबीर की मान्यतायें उनके निजी चितन का परिणाम एव उनके युग में व्याप्त आध्यात्मिक चेतना से प्रेरित थी। उनके युग में परम तत्व के स्वरुप के सम्बन्ध में होने वाले सारे वाद–विवाद, 'निर्गुण, 'सगुण' या 'द्वैत–अद्वैत' को लेकर ही चलते थे। परमतत्व को द्वैत–अद्वैत से परे निर्द्दिष्ट करने का अर्थ था सारे विवादों से ऊपर उठ जाना। यही कबीर का अभीष्ट था।[2] परमतत्व के बारे मे कबीर ने जो तर्क दिया है। वह एक आस्तिक भक्त तर्क लगता है। उनके तर्कों के पीछे सारे द्वन्द्वों, विवादो, रुढियों और सकीर्णताओ से ऊपर उठने की प्रवृत्ति कार्य कर रही है।

कबीर के जीव का स्वरुप शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से प्रभावित है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है। जब आत्मा उपाधि सम्पर्क के कारण अन्तःकारणावच्छिन्न होकर कर्म–फल का भोक्ता हो जाता है तो वह 'जीव' कहलाता है और जब वह उपाधि सम्पर्क रहित शुद्ध चैतन्य की स्थिति में होता है तब वह 'ब्रह्म' कहलाता है।

जीव माया–मोह के कारण अपने को ईश्वर से अलग समझने लगता है। यही उसका बंधन है। जब ज्ञान की प्राप्ति होती है तो यह बन्धन समाप्त हो जाता है एव जीव ही अपने को ब्रह्म समझने लगता है। इस प्रकार जीवन और ब्रह्म की तात्विक एकता को स्वीकार करते हुये कबीर यह मानते हैं कि जीवन अपने शुद्ध चेतन रुप को भूलकर विषयों में अनुरक्त है। ऐसे जीवन को हद का जीवन कहते है। बेहद जीव वह है जो असीम तत्व मे अनुरक्त रहता है। कबीर कहते है कि यदि ईश्वर मिल जाय तो यह ज्वाला समाप्त हो जायेगी। इसलिये जीव को जागृत होने की बात कहते है। जीव का ईश्वर से प्रेम तभी हो सकता है जब वह सांसारिक विषया सक्तियों से अपने मन को हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करे। 'माया' जीव को ब्रह्म

---

1 कबीर ग्रंथावली, पद 7, पृ० – 238
2. रामचन्द तिवारी – कबीर मीमासा, पृ० 122

से मिलने में अवरोध उत्पन्न करती है। माया के कारण ही जीव बन्धन में पडता है। इसलिये कबीर ने माया से दूर रहने की चेतावनी दी है। शंकर के अनुसार – माया ईश्वर की अव्यक्त शक्ति है जो गुणत्रय से युक्त अविद्या रुपिणी है। इसकी दो शक्तियॉ है – आवरण और विक्षेप। आवरण के द्वारा वह वस्तु के वास्तविक स्वरुप को छिपा देती है एवं विक्षेप वस्तु से वह उसमे नवीन वस्तु का आरोप कर लेती है।

इस प्रकार माया के कारण ही जीव बन्धन मे पड कर वास्तविक ज्ञान से विरत हो जाता है। शंकर से प्रभावित होकर कबीर ने जगत के मिथ्यात्व पर भी विचार किया है। इसे उन्होंने 'कागद की पुडिया' कहा है एवं इसके स्वप्न के समान माना है। ऐसा कहकर कबीर ससार की नश्वरता, निस्सारता और दु.खमयता प्रमाणित करना चाहते है। उनकी जीवन दृष्टि निवृत्तिमूलक है। भारतीय जीवन दृष्टि मोक्ष को चरम लक्ष्य के रुप में स्वीकारती है। मोक्ष का अर्थ है – जीवन–मरण–चक्र से छुटकारा। तत्वज्ञान होने मनुष्य आसक्ति रहित होता है, उसकी कर्म में प्रवृत्ति नही होती कर्म मे प्रवृत्ति न होने से उसका फल भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जीव को जन्म–मरण चक्र से छुटकारा मिल जाता है और वह संसार से मुक्त होकर परमतत्व से एकाकार हो जाता है यही कबीर का लक्ष्य भी है। वो चाहते है कि जीव ईश्वर के प्रेम मे इस प्रकार लीन हो जाय कि उनमें कोई द्वैत भाव ही न रह जाय। यही उनके प्रेम का मूल भाव है

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन का अतिम एव विकसित रुप है–सर्वव्यापकत्व से प्रेम, जिसमें आराधक अपने आराध्य से प्रेम करते–करते सृष्टि के कण–कण मे उसका दर्शन करने लगता है। कबीर कहते है कि जब मेरा आराध्य मेरी ऑखो मे समा गया है तो मुझे ऐसा लगने लगा कि समस्त ब्रह्माड मे केवल वही रम रहा है। इसके अतिरिक्त विश्व में किसी अन्य की सत्ता नहीं है। ऐसे भक्त की वृत्ति सर्वस्व प्रेममय हो जाती है। उसे सब ओर प्रेम के ही दर्शन होते है। उसे सकल विश्व प्रेममय, आनन्दमय एव कल्याणमय दिखाई पडता है।

जायसी :— हिन्दी के भक्ति साहित्य मे निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय की प्रेममार्गी शाखा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम के रहस्यवादी साधक सूफी नाम से प्रख्यात है।[1] 'सूफी' मुसलमान साधकों का वह दल है, जो परमात्मा को प्रियतमा के रूप में प्राप्त करने के लिये प्रेम साधना की पुष्टि करते है। सूफी साधक ससार में विरक्त, त्यागी एव परमात्मा के प्रेम मे तल्लीन रहने वाले है। उनके प्रेमाख्यानक काव्यो को सूफी काव्य कहा जाता है। सूफी काव्यों का प्रारम्भ अरब एव फारस मे हुआ। कालान्तर में सूफी परम्परा के मुसलमान कवियों ने जिन प्रेम–काव्यो का सृजन किया, वे ही हिन्दी के 'सूफी काव्य' के नाम से मशहूर हुए। इनमे जायसी का स्थान प्रमुख है।[2]

जायसी ने सूफी संत शेख मेहदी से दीक्षा ली। इनका सम्बन्ध निजामुद्दीन चिस्ती सम्प्रदाय से है। युग की दृष्टि से जायसी पर भक्ति एव प्रेम के प्रभाव सघन होते चले गये। जायसी ने जिन प्रेमाख्यानों को उल्लेख पद्मावत में किया है उनसे प्रतीत होता है कि भक्ति, योग और प्रेम की परम्पराओ का प्रभाव जायसी के व्यक्तित्व पर था। योग नाथ तथा सिद्धों को उल्लेख पद्मावत में यत्र–तत्र विखरा है। ईश्वर निरूपण में वेदान्त के अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप झलकता है। इस प्रकार जायसी को सूफी दर्शन प्राप्त हुआ और वह अनेक प्रभावो से युक्त था। ससार के प्रमुख दर्शनो का समावेश उसमें हो चुका था।

इन सभी तत्वों ने जायसी के प्रेम दर्शन और उसकी साधना पद्धति को प्रभावित किया। प्रेम मूलक रहस्यवाद और मूल सत्ता की सौन्दर्याभिव्यक्ति को वेदान्त के प्रतिविम्बवाद ने प्रभावित किया। सृष्टि रचना और सचालन मे प्रेम का जो स्थान है, उसको स्पष्ट करने मे भी सभी स्रोतो से प्रभाव ग्रहण किये गये है।

आत्मोपलब्धि के लिये मन को अनुशासित कर उसे सान्त से अनंत की ओर ले जाने का प्रयास ही साधना है। इस प्रयास मे सफलता साधक के प्रयत्न, परमात्मा की कृपा एवं सद्गुरु के मार्ग दर्शन पर अवलम्बित है। गंतव्य एक होते

1. हिन्दी साहित्य कोश – प्रथम भाग – पृ 936
2. हिन्दी साहित्य कोश – प्रथम भाग – पृष्ठ – 936

हुए भी प्रकृतिभेद के कारण अनेक मार्ग प्रचलित है जिन्हे स्थूलतः ज्ञान, भक्ति (भाव) एवं योग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें प्रत्येक साधना मार्ग का प्रथम सोपान है चित्तशुद्धि तथा अंतिम सोपान है–परमात्मा का साक्षात्कार। जायसी के अनुसार साधना वह है जो मानव को अल्प एव नाशवान से पूर्ण एवं अविनाशी की ओर ले जाये। इनके लिये दृश्यमान जगत मिथ्या तो नहीं, अस्थिर नाशवान अवश्य है। वह कहते हैं कि इस संसार का क्या भरोसा। यहॉ जो अस्ति है वह नास्ति हो जाता है। यहॉ जो भी उदित हुआ वह अस्त हो गया। उनकी मान्यता है कि मानव सुख तो उसी दिन समाप्त हो गया जिस दिन उसका जन्म हुआ। वास्तविक सुख किसी को प्राप्त नही है। राजा–महाराजाओं को भी नही। लेकिन इच्छाभाव से जब विश्व के अल्प नाशवान सुख ही प्राप्त नहीं होते तो वह चिरन्तन सुख का आगार परम तत्व कैसे प्राप्त होगा। जायसी कहते है कि उनकी प्राप्ति के लिये कठोर तप आवश्यक है। प्रश्न है कि साक्षात्कार की स्थिति को कृपासाध्य मानते है या प्रयत्नसाध्य। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा जिसे स्वयं–वरण करता है, वही उसे पाता है किन्तु इसके साथ ही जायसी साधक को बार–बार साधना पथ की दुर्गमता एवं कष्टों का स्मरण दिलाते रहते हैं।

गुरू की कृपा से सिद्धि प्राप्ति की चर्चा करते हुए जायसी लिखते है कि–"गुरू भृंगी के समान और शिष्य पतिंगे के समान है। भृगी वही है जो पतिगे को प्रथम स्पर्श मे ही नया जीवन दे दे। शिष्य पर गुरू ऐसी ही कृपा करता है। उसे नया जन्म और नया शरीर देता है। जो इस प्रकार मरकर जीता है वह शिष्य अमर जाता है। वह भ्रमर की भॉति कमल से मिलकर उसका मधुपान करता है। कीट भ्रमर के इस उदाहरण मे भ्रमर कीट का ही रूपान्तर कर सकता है, अन्य किसी का नहीं। इस रुपान्तर में कीट की अपनी भी विशेषता है। उसका अपने आप में निष्चेष्ट होकर सतत भ्रमर के ध्यान में तल्लीन रहना उसके रुपान्तर का एक प्रमुख कारण है। आराध्य की कृपा को आकृष्ट करने के लिये साधक का प्रयत्न आवश्यक है। कृपापात्र बनने के लिये साधक में सजगता एव साधनाजन्य क्षमता अपेक्षित है। रत्नसेन की साधना के प्रभाव से पद्मावती भी प्रेमवश हो गयी और बिना रत्नसेन को देखे ही वह विरह का अनुभव करने लगी। किन्तु जब वह प्रथम

बार महादेव के मठ मे उसके सम्मुख पहुँचती है तो उसके सौन्दर्य को देखकर रत्नसेन अचेत हो जाता है। पद्मावती उसके वक्षस्थल पर चदन से यह लिखकर लौट जाती है कि हे योगी तेरी साधना अभी भिक्षा लेने योग्य नहीं हुई। जब मै तेरे द्वार आयी, तू सो गया। इस प्रकार भला भिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है। वस्तुत जायसी परमात्मा प्राप्ति को न सर्वथा प्रयत्नसाध्य मानते है और न केवल कृपासाध्य। जब वह चार बसेरे एवं सप्त सोपानों वाली साधना पर जोर देते है तब सूफी शब्दावली में वह सफर–उल शब्द (साधक की ईश्वर की ओर यात्रा) की ओर संकेत करते है।

जायसी की मान्यता है यद्यपि यह समस्त विश्व परमात्मा की अभिव्यक्ति है, तथापि उस सृष्टा ने मानव को सब प्राणियो के ऊपर स्थापित किया है। **"कीन्हेसि मानुस दिहेसि बडाई"**[1] मानव को उसने अनमोल रत्न दिये है। सासारिक आकर्षणों के जाल में फॅसकर मानव अपना नाशकर लेता है। लोभ अहकार असावधानी के कारण जीव माया रूपी बहेलिये के जाल मे फस जाता है। सुख मे व्यक्ति सोचता है कि धन जोडना ही एकमात्र कर्तव्य है। यही नहीं समझता कि मृत्यु अनिवार्य है। धन सम्पत्ति पाकर वह देने वाले परमात्मा को ही भूल जाता है।

साधना के विघ्न :– जायसी ने साधक के मार्ग को अवरूद्ध करने वाले पचशत्रुओं की चर्चा बार–बार की है। इनके नाम है– काम, क्रोध, तृष्णा, मद, माया। इन्हे ही पांच चोर कहा गया है। सूफी साधना जिहाद का सोपान चित्त–शुद्धि का ही सोपान है। जायसी ने पद्मावत के सात समुद्र खण्ड मे जिहाद की प्रक्रिया का सूक्ष्म वर्णन किया है। प्रियतम के देश की झलक पाने से पूर्व साधक अपने मनोविकारो से सघर्ष करते हुए किस प्रकार क्रमश· आगे बढता है, षट समुद्र सतरण के बहाने जायसी ने इसी का वर्णन किया है।

क्षार समुद्र में पर्वताकार विशाल लहरे उठती है, जो आकाशो को स्पर्श करने लगती हैं। इन लहरो के थपेडे खाकर जलयान डगमगाते है। कभी वे उनके नीचे

---

1 जाससी ग्रन्थावली सपा० – राम चन्द्र शुक्ल, पद्मावत – स्तुति खण्ड – 31, पृष्ठ – 2

आ जाते है और कभी ऊपर पहुंच जाते है। जिसका ह्रदय सत्य से भरपूर है वही इस समुद्र को पार कर सकता है। ह्रदय में सत्य हो तो कायर भी सूर बन जाता है। सत्य ही जलयान को खेकर पार लगा सकता है। सत्य ही चारो ओर से रक्षा करता है।

क्षीर सागर के श्वेत मधुर जल मे हीरे माणिक्य मोती तैरते रहते है, जिन्हे देखकर मानव का मन स्थिर नही रहता है। मानव द्रव्य और भोग की खोज मे मार्ग भूलकर अपनी योग साधना की क्षति कर लेता है। बटोही के लिये द्रव्य शत्रु है। मार्ग मे ठग, लुटेरे उसके पीछे लग जाते है। जायसी कहते है – जिन्होने धन समेटा वे सब इस मार्ग मे लुट गये।

सप्त समुद्रो मे अन्य समुद्रो के वर्णन की भॉति कवि दधि समुद्र की लहरो का वर्णन नही करता और समुद्र के रूप में उसका अन्य प्रकार से चित्रण ही करता है। वह केवल इतना ही कहता है कि दधि समुद्र देखते ही मन दग्ध हो गया किन्तु प्रेम लुब्ध साधक दाह को सह लेता है। वह जीव धन्य है जो प्रेम मे दग्ध हुआ हो वही दही से मॅथकर घी निकाल लेता है।

उदधि समुद्र अपार था। उसमे आग की लपटे उठ रही थी जिससे धरती और आकाश सभी जल रहे थे जैसे आग पर चढी कडाह मे तेल खौलता है उसी प्रकार उदधि समुद्र का जल खौल रहा था। जायसी कहते है प्रेम के मलयगिरि से आने वाली पवन अग्नि ज्वालाओ से युक्त उस अपार समुद्र को विन्दुवत बना देती है। प्रियतम के विवाह की आग मे जलने वाला व्यक्ति किसी अन्य आग की चिन्ता नही करता। वह उसे अपने वक्षस्थल पर झेलता है घबराकर पीठ नही दिखाता। तात्पर्य है कि दैहिक दैविक, भौतिक तापो की ज्वाला से समूचा विश्व जल रहा है, किन्तु जो साधक प्रियतम परमात्मा के लिये व्याकुल है यदि उसके ह्रदय मे परम प्रियतम की विरह ज्वाला समाई हुई है, तो विश्व तापो एवं सतापो की आग उसे तुच्छ लगने लगती है।

सुरा–समुद्र का जल जो पी लेता है उसका सिर चकराने लगता है और मार्ग मे पैर सीधे नही पडते। जो प्रेम–मदिरा का छक कर पान कर चुका है, वह सरलता से सुरा–समुद्र के पार हो जाता है। प्रेम मदमत्त (साधक) पर महुए की मदिरा का नशा नही चढता।

प्रेम सुरा जोहि कै जिय माहाँ।
कत बैठे महुवा की छाहाँ।
गुरु के पास दारव रस चखा।
बैरि बबूर मारि मन कसा।

महुवा के छत्ते यहॉ सांसारिक विषय–वासना के प्रतीक है और बैर बबूल की मदिरा धन, सम्पत्ति, राज पद आदि के कारण उत्पन्न होने वाले अहकार की द्योतक है। जिस प्रकार अधिक तेज मदिरा पीने के अभ्यासी व्यक्ति को सामान्य मदिरा प्रभावित नहीं कर पाती उसी प्रकार प्रेम मद से छके हुए साधक को धन सम्पत्ति और राज्यादि लेश मात्र भी विचलित नही कर पाते।

इस समुद्र की लहरे जब किलकिलाहट की ध्वनि करती हुई उठती है तो लगता है जैसे– आकाश चारो ओर से टूटकर गिर रहा हो। इसकी विशाल लहरे एक लाख योजना तक घूमती है। इस समुद्र को देखकर सब डर जाते है इसमें प्रवेश करते ही साधक का सत् डोल जाता है। इस समुद्र को देखकर सब डर जाते हैं इसमें प्रवेश करते ही साधक का सत् डोल जाता है। अनेक साधक जो गतव्य स्थल तक पहुच नही पाते, उसका कारण इस समुद्र की भयकरता ही है समुद्र के मध्य से जो मार्ग गया है उसमें जीवन और मृत्यु आशा और निराशा दोनों है जो गिरा वह रसातल मे पहॅुच गया और जो तर गया उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। जायसी के अनुसार इसे प्राप्त करने के लिये गुरू कृपा आवश्यक है। जायसी के अनुसार–इसे प्राप्त करने के उपाय गुरू कृपा और गुण आवश्यक है।

ज्ञान से जायसी का तात्पर्य इस जगत का ज्ञान नही है क्योकि जगत के सम्बन्ध मे वह कहते हैं– 'छोडहु झगडा यह जग झूठा'। ज्ञान से उनका तात्पर्य है– उस परमतत्व का ज्ञान जिससे हमारा और इस सृष्टि का निर्वाण हुआ है। और

अन्तत जिसमें सब कुछ विलीन होने वाला है। उस परमतत्व का कोई रूप है न रग है। सूर्य या चन्द्र के प्रकाश मे उसे देखना संभव नही है। वह मन एवं वाणी से भी अगोचर है फिर उसे कैसे जाना जाय–

"जो यह खोज आप मह कीन्हा, तेइ आपुहि खोजा सब चिन्हा।"

ज्ञान मार्ग के साधको से जायसी के मतभेद वहॉ दृष्टिगोचर होता है जहॉ प्रथम प्रकार के साधक विश्व को मिथ्या मानते है। और आत्मा का ही ब्रह्म समझते है। जायसी जगत को अस्थिर कहते हुए भी इसे मिथ्या नही मानते। यह परमात्मा की स्वय को अभिव्यक्त करने की इच्छा का परिणाम है। जगत अंश है, परमात्मा अशी। अश का अशी से अपने इस सम्बन्ध का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। और उसके विरह की आग मे अपनी और उसके बीच में रहने वाले आवरणो को जलाकर उसके साथ तादात्म्य की स्थिति मे पहुच ही साधना है।

कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझ सो सिद्ध गियानी।

जायसी के अनुसार–साधक के लिये तब तक स्थूल एवं सूक्ष्म साधना क्रियायें आवश्यक जब तक कि सिद्धि की प्राप्ति न हो जाय। योग की कहानी कहने–सुनने मात्र से कोई लाभ नही। जब तक दधि का मंथन न किया जाय, घृत उपलब्ध नहीं हो सकता।

परमेश्वर के प्रति परानुरक्ति ही भक्ति है। प्रेम साधना के प्राय· पथिको का यह मत है कि यह 'परानुरक्ति' सबको सुलभ नहीं होती। इसके लिये कठोर साधना आवश्यक होती है। सगुणोपासक भक्त जो अपनी समस्त लौकिक अलौकिक आकांक्षाओ के लिये भगवान पर निर्भर रहते है। अपने आराध्य से एक ही वर की याचना करते हैं। ज्ञान और प्रेम नित्य सिद्ध कहे गये है। इन्हें कही से प्राप्त नही करना होता। ये घट–घट मे परमात्मा रूपी प्रकाश पुंज की किरण की भॉति अवस्थित रहते है। इनके ऊपर पडे हुये मनोविकारो के आवरण को हटाना ही इन्हे प्राप्त करना है। जहॉ स्वसुख की कामना होती है वहाँ "काम" है और जहॉ स्वय का सुख–दुख भूलकर केवल प्रियतम के सुख की कामना होती है वही सच्चा प्रेम है। प्रेमी की प्रियतम के प्रति सदा यही भावना रहती है कि–

जो तुम्ह चाहहु से करहु नहिं जानहु भलमंद
जो भावै सो हाइ मोहि तुम्हहि पैं चहों अनंद[1]

साधना के सभी मार्ग कठिन कहे गये हैं। उनमें प्रेम पंथ और भी कठिन है किन्तु अन्य मार्गों इसमे एक विशेषता हैं। जिस प्रकार मदिरा पान करने पर व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक कष्टो का भान नही रहता उसी प्रकार प्रेम–मद का पान करने वाले साधक को भी साधना पंथ की कठिनाइयो एव कष्ट उठने पीडित नहीं करते जिसने ज्ञान एव कर्म मार्गियों को। प्रेमी को दैहिक, दैविक और भौतिक तापो की आग चन्दनवत शीतल प्रतीत होती है जो प्रेमविहीन है, वे ही उससे डर कर भागते है।

जैहिं जिय प्रेम चन्दन तेहि जागी। पेम बिहून किरहिं
डरि भागी ।

किन्तु प्रेममद् की उपलब्धि स्वयं में एक बहुत कठिन कार्य है।

भय और अहंकार प्रेममार्गी साधक के सबसे बडे शत्रु है। अहकारी तो कभी परमात्मा का मित्र हो ही नही सकता।

जायसी मूलत· प्रेम साधना के पथिक हैं। प्रेम उनके लिये कठोर साधना का मार्ग है जिस पर चलने के लिये कर्म योग नितात आवश्यक है। जायसी ने इस्लामी स्थूल कर्मकाण्ड से लेकर भारतीय हठयोग की स्थूल एवं सूक्ष्म साधनाओ तक को अपना लिया है, किन्तु कर्म उनके लिये साधना मात्र है। साधक जब अपेक्षित स्थिति में पहुंच जाता है तो उसके लिये कुछ भी करणीय नहीं रह जाता। तब कर्म उसके लिये देह–धर्म मात्र रहता है, साधना की दृष्टि से उसका दिशेष महत्व नही रह जाता। जायसी के अनुसार ज्ञान का तात्पर्य अपने आराध्य को जान लेने से है। उनके अनुसार ज्ञान और प्रेम दोनो सहदेशी' होते है। जो इसे जान लेता है उसका अपना कुछ नही रह जाता। उसका सब कुछ आराध्य का हो जाता है।

---

1. पद्मावत – 319.8,9

परमाराध्य का दर्शन एकांत मे ही किया जा सकता है। जहॉ साधक का सासारिक प्रपच से परे होता है। जायसी जैसे रहस्यवादी ही नही तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी यही कहते है कि जब तक योग, मुक्ति, तप, मंत्र प्रभाव छिपाये नही जाते तब तक ये सफल नहीं होते।

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिय दुराऊ[1]

जायसी का यह दृढ मान्यता है कि प्रेम साधना के चार बसेरो और सप्त सौपानी वाले दुर्गम पथ पर वही सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है जिसको गुरू का मार्ग दर्शन प्राप्त है। जिसका मार्ग दर्शक गुरू नही होता शैतान उसका मार्ग दर्शक बनकर उसे कुमार्ग की ओर घसीट ले जाता है। गुरू की कृपा अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हुये भी जायसी का कहना है कि साधक को स्वय का अवसान आवश्यक है।

"आप मरे बिनु सरग न हुआ।"

उस परम तत्व की प्राप्ति के लिये साधक को अहंभाव का अन्त करके कठोर साधना मे सलग्न होना पडता है। इस प्रकार गुरू का मार्ग दर्शन, कठोर साधना और प्रभु कृपा तीनों के संमन्वय से ही साधक की सफलता निहित है।

जायसी के अनुसार प्रेम :– जायसी के अनुसार प्रेम क्या है। जायसी प्रेम को केवल विरह मिलन का रूप ही नहीं मानते बल्कि कहते है कि प्रेम– एक साधना है जिनमे तन का क्रियाओं एव मन की वृत्तियों की एकता आवश्यक है। यदि दोनो विपरीत दिशाओं में उन्मुख हो, तो यह प्रेम का एवं प्रेम साधका कच्चापन है। इसी बात की परीक्षा लेने के लिये पार्वती रत्नसेन के पास पहुँची थी।

"दहुँ यह बीच कि प्रेमहिं पूजा
तन–मन एक कि मारंग दूंजा।।[2]

---

1 राम चरित मानस, बालकाण्ड (168:4) दोहखण्ड
2 पद्मावत 209 2 दानबहादुर पाठक पृ0 429

रत्नसेन प्रियतम की प्राप्ति के लिये रो–रोकर हठपूर्वक प्राण त्यागने पर उतारू था। शिव ने उसे समझाया कि प्रियतम की प्राप्ति प्राणान्त करने से नहीं, अपितु प्राण–साधना द्वारा मन को वशीभूत करने से होती है।

प्रेम साधना के आदर्श दीपक की ज्वाला के ओठो से चूमने वाला पतिंगा, स्वाति बूद की प्रतीक्षा में प्यासा रहने वाला पपीहा, मादा से विछुडने पर प्राण देने वाला चक्रवाक, चन्द्रमा पर दृष्टि केन्द्रित करने वाला चकोर और सूर्य को देखकर प्रफुल्लित होने तथा उसके विछुडने पर मुरझाने वाला कमल– जायसी के अनुसार ये प्रेम साधना के आदर्श हैं।

प्रेम अमरबेल प्रेम को अमरबेल की उपमा दी गयी है और कहा गया है कि जिस प्रकार अमरबेल किसी वृक्ष पर छा जाये तो वह सूख जाता है, उसी प्रकार प्रेम अपने आश्रय को शुष्क कर देता है। जायसी ने भी प्रेम को अमर बेल से ही उपमित किया है यथा :–

"प्रीति बेलि जनि अरूझें कोई। अरूझै मुयें न छुटै सोई।।
प्रीति बेलि केइं अम्मर बोई, दिन–दिन बाढ़ै, खीन न होई
प्रीति अकेली बेलि चढ़ि छावा, दोसरि बेलि न पसरै पावा।।[1]

प्रेम की अमर बेल जहॉ छा जाती है वहॉ दूसरी किसी बेल के लिये अवकाश नही रह जाता। जायसी का कहना है कि प्रेमी के हृदय में अन्य कोई भाव लता पनपने नही पाती। काम क्रोध और अंहकार मानव मन के अत्यन्त प्रबल भाव है किन्तु जहॉ प्रेम रहता है, वहॉ ये तीनो नही रह पाते।

प्रेम की भाषा प्रेम का स्वभाव सुगंध जैसा होता है। वह कभी छिपता नहीं है अपने प्रकटीकरण के लिये प्रेम को किसी प्रचार की आवश्यकता नही होती न ही वाणी की आवश्यकता होती। प्रेम की भाषा ही भिन्न है। जायसी के अनुसार–विरह–बेदना से पीला पडा हुआ शरीर और ऑसुओ से डबडबाये नेत्र ही प्रेम की भाषा है।

---

1 पद्मावत 254 3

बदन पियर जल डभकहि नैना
परगट दुबौ प्रेम के बैना।।

प्रेमियो के पत्र भी नैनों की मसि, बरौनियो की लेखनी और सिसकियो की भाषा मे लिखे जाते हैं। इसी तरह कबीर ने अपने प्रेम की भाषा का वर्णन किया है–

गद्‌गद् वानी कंठ में, आंसू टपके नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन रैन।।[1]

भय और लज्जा दोनो की समाप्ति :–

प्रेमी के लिये भय और लज्जा दोनों समाप्त हो जाते है। उसे आग और पानी कुछ दिखाई नहीं पडता। "जिसके हृदय में प्रेम है, उसके लिये अग्नि चन्दनवत शीतल है, जो प्रेम विहीन होते हैं, वे ही डरकर भागते है। प्रियतमा के मार्ग मे पडने वाले सात भंयकर समुद्रो की चर्चा सुनकर साधक रत्नसेन कहता है। जिसने प्रेम का समुद्र देख लिया है उसके लिये ये सातों समुद्र एक बिन्दुवत है। अपने प्रियतम को पाने के लिये प्रेमी इतना उतावला रहता है कि उसे इस बात का मान भी नहीं होता कि उसका मार्ग समुद्र के समान असीम और अगम मार्ग गगा के समान सीमित एव सरल। प्रेमी को तीन लोक और चौदह भुवनों में प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी आकर्षक नही जान पडता।

प्रेम और सौन्दर्य :– सौन्दर्य जीवात्मा में स्थित प्रेम को जागृत करके उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। परमात्मा परम सुन्दर है और समस्त जगत दर्पण है, जिसमे उस परम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब पडता है। इस प्रकार समस्त जगत में जहॉ–जहॉ आकर्षण हो वहाँ–वहॅा उसी के सौन्दर्य की छाया है। सूफी परमात्मा के प्रतीक रूप में नारी का वर्णन करते है तथा उसके ससीभ सौन्दय मे असीमता की झलक दिखला देते है। पद्‌मावती के निख–शिख वर्णन मे ऐसे सकेत प्रायः सर्वत्र पाये जाते है। शशिमुखी पद्‌मावती के लिये सब पदार्थ दर्पण बन गये थे। वह जिसकी ओर देखती थी, उसी में अपने सौन्दर्य की परछाई डाल देती थी उसके

---

1. वियोगी हरि – प्रेमयोग पृ0.143

नेत्रो को जिसने देखा, कमल बन गये। उसकी शरीर की छाया से निर्मल जल निर्मित हुआ। इतना सब वर्णन करने के बाद भी हीरामन स्वीकार करता है कि उस पारस रूप का यथार्थ एव पूर्ण चित्रण करने मे वह असमर्थ रहा।

सौन्दर्य प्रेम का जनक है। पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन सुनकर रत्नसेन प्रेम के आपार समुद्र मे जा गिरा और लहर पे लहर आने से सुध–बुध खो बैठा। सूफी दर्शन मे ईश्वर को सौन्दर्याधिष्ठान मानागया है। सृष्टि और प्रकृति का सौन्दर्य उसी परमतत्व की प्रतिछाया है। अल गजाली ने ईश्वर को सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य मानकर यह कहा है कि लौकिक और अलौकिक सौन्दर्य के प्रति आत्मा की नैसर्गिक अभिरूचि है। इस प्रकार प्रेम का आधार सौन्दर्य ही है सूफी ईश्वर के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करता है। सौन्दर्य संबंधी सूफी विचार एकागी नही है जायसी ने प्रकृति के सरुम्य और प्रचण्ड दोनों रूपों का ही चित्रण पद्मावत मे किया है। प्रचण्ड रूप मे भी लक्ष्मी जैसी सौन्दर्य निधि का आविर्भाव हो सकता है।

सिद्धान्त रूप मे कहा जा सकता है कि सूफी दर्शन मे प्रेम का मूल कारण सौन्दर्य ही माना गया है सौन्दर्य प्रेमोदय और प्रेमीद्दीपन के लिये अपने को प्रकट करता है। इस प्रकार सौन्दर्य की मूल प्रवृत्ति अभिव्यक्ति हैं इसलिये ईश्वर अपने सौन्दर्य को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। सौन्दर्य की यह आध्यात्मिक महानता है कि वह प्रेम को जागृत करता है। सौन्दर्य की सृष्टि प्रिय दर्शन की लालसा उत्पन्न करती है। यह लालसा जब पूर्ण होती है तो आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधना का आरम्भ सौन्दर्य से ही सूफी कवियों ने दिखाया है इसलिये नख–शिख का नियोजन एक अनिवार्य तत्व साधन गया है। पद्मावती नायिका भेद की दृष्टि से अधिकतम मानवीय सौन्दर्य से युक्त होती है। उसका दिव्य सौन्दर्य रूपगर्विता नागमती के सांसारिक सौन्दर्य पर विजयी होता है और चित्तौंड के राजा में उत्कट प्रेम स्फुरित होकर उसे प्रेमयोगी बना देती है।

सौन्दर्य के श्रव्य रूप से ही रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का रूप भी कही–कही सकेत देता है। प्रतिपल परिवर्तित प्राकृतिक सौन्दर्य विश्व की अनित्यता का परिचय देता है। जायसी ने ऐसे सौन्दर्य का चित्रण भी किया है

जो शाश्वत है जैसे–प्रसाद कृत कामायनी में श्रद्धा मनु को प्रकृति के ऐसे लोक में ले जाती है जहॉ ऋतुओ के स्तर तिरोहित हो जाते है। षट ऋतुओ मे स्वभाव से फूलने वाली अमराइयॉ सिंहल के उपखण्ड में है। प्रकृति का यह रूप अनिर्वचनीय है। यह उस लोक का प्रतीक है जहॉं फना मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उस अनिवर्चनीय सौन्दर्य की छाया को एक बार प्राप्त कर लेने पर ससार का माया सताप छूट जाता है।

प्रेम और परमात्मा :– जायसी ने ब्रह्मांड की अवस्थिति इस देह में मानी है। और कहा है कि रक्त मांस तथा पंचभूतों से युक्त इस देह मे प्रेम का स्थान सबसे ऊपर है। परमात्मा का वर्णन करते हुये कवि लिखता है कि वह अलख, अरूप तथा वर्ण रहित है।

'अलख, अरूप अवरन सो करता'[1]

भारतीय परम्परा में प्रेम का रंग लाल माना गया है। कबीर अपने आराध्य को 'लाल' कहते है। उस प्रेम स्वरूप का साक्षात्कार जो करता है, वह भी प्रेममय (लाल) हो जाता है। जायसी ने 'रात' शब्द का प्रयोग लाल रग, सौन्दर्य और प्रेम तीनों के लिये किया है। रत्नसेन के विरहाग्नि में जो लंगूर जल गये उनके संबंध में जायसी का कथन है कि वे लाल हो गये और जो निकल भागे, उनके मुह काले पड गये। यहॉ लाल शब्द का प्रयोग रंग के लिया हुआ है। निम्नाकित पक्ति मे वह सौन्दर्यवाची है –

भलहि रंग तोहि आछरि राता।
मेहिं दोसंर सों भाव न बाता।।

यहॉ प्रेम विषयक दृढ विचार प्रकट होते है। रत्नसेन ने कहा है कि अप्सरा ठीक है तू रंग–रूपवती है परन्तु मुझे पदमिनी को छोडकर किसी अन्य सुन्दरी से बात करना भी अच्छा नहीं लगता है। रत्नसेन और पद्मावती के विवाह के अवसर पर रत्नसेन के चारों ओर जायसी ने जो लाल रंग का वातावरण निर्मित किया है वह निरूद्देश्य नही है। चारों तरफ लालिमायुक्त वातावरण के निर्माण द्वारा कवि

---

1. पद्मावत–दान बहादुर पाठक, पृष्ठ–201

आराध्य के निकटतर पहुँचने वाले साधक के अन्तर्बाह्य प्रेम की अवस्थिति की ओर ही सकेत करना चाहता है।

जायसी ने आराधक के रूप मे रत्नसेन की प्रेमभावना के रत्नसेन के प्रति रहने वाले प्रेम का वर्णन भी किया है। कहीकहीं पद्मावती के प्रेम और विरह की तडपन रत्नसेन की अपेक्षा अग्रतर जान पडती है। रत्नसेन और पद्मावती के प्रेमाभक्ति के स्वरूप मे जायसी ने कोई भेद नही रखा है। कही–कही पद्मावती के प्रेम को रत्नसेन के प्रेम की अधिक प्रगाढ चित्रित किया गया है। उसका यही तात्पर्य जान पडता है कि जीवात्मो में अवस्थित प्रेम परमाराध्य के प्रेम का अंश मात्र है।

सृष्टि का मूल कारण प्रेम :– सूफी कवियों के समान जायसी भी मानते है कि सृष्टि के मूल मे प्रेम है। जायसी ने इस बात को अधिक स्पष्टता से लिखा है –

> **कीन्हेसि पुरुष एक निरभरा नाउँ मुहम्मद पूनिउँ करा।**
> **प्रथम ज्योति विधि तिहि कै साजी, औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी।**[1]

(अर्थ–ईश्वर ने निर्मल पुरुष, मुहम्मद नाम की इस सृष्टि में अवतारणा की जो चन्द्रमा की कला जैसे उल्लवल थे। विधाता ने अपनी ज्योति का अश उन्ही में समाहित किया और उनके प्रेम से इस सृष्टि की रचना की।

प्रेम की परमावस्था वह है, जिसमें प्रेमी और प्रियतम एकरूप हो जाते है। सूफी प्रेम की विशेषता–वंदना और कसक है। हर्ष, उल्लास और आनन्द नही। निशकार के प्रति प्रेम का प्रारम्भ विरह जन्य कसक और वेदना से होना स्वाभाविक भी हैं लौकिक क्षेत्र मे प्रेम प्रथम होता है। विरह की स्थिति मिलन के पश्चात आती है। किन्तु अलौकिक साधना क्षेत्र मे मिलन अतिम स्थिति है एवं विरह प्रारम्भिक। जायसी के अनुसार – गुरू शिष्य के हृदय मे सर्वप्रथम विरह की चिन्गारी डालता है, शिष्य जिसे प्रज्वलित करके उसके प्रकाश में प्रियतम पथ पर बढ़ा चला जाता है। आचार्य शुक्ल ने पद्मावती का रूप वर्णन सुनकर मूर्छित होने तथा उसके विरह में योगी बनकर निकल पडने वाले रत्नसेन की इस स्थिति को अस्वाभाविक माना

---

1 पद्मावत –पद–11/1–2 पेज – 226 दान बहादुर पाठक

है। "राजा, रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का अलौकिक रूप वर्णन सुन जिस–जिस भाव की प्रेरणा से निकल पड़ता है वह पहले रूप–लोभ ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कवि जो उसके प्रयत्न को तप का रूवरूप देता डुआ आत्मत्याग और विरह – विह्लता का विस्तृत वर्णन करता है, वह एक नकल सा मालुत होता है।" किन्तु लौकिक श्रृंगार के पूर्वराग की और भक्ति की पूर्वराग की अवस्थाये एक सी दृष्टिगोचर होते हुये भी मूलत भिन्न होती है। लौकिक श्रृंगार मे प्रेम प्रथम अपनी आखों देखता है। अपनी आंखों देखने और ब्रह्मसाक्षात्कार करने की स्थिति अंतिम होती है।

अतएव रत्नसेन की उक्त विरह दशा अस्वाभाविक नही कही जा सकती। जब तक प्रिय का नाम नहीं सुना, तभी तक धर्य बना रह सकता है। सुनने के पश्चात् जो घडी भर भी स्थिर नही रह सकता –

तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ, सुनताहिं धरी रहै नहिं जीऊ।[1]

अलौकिक प्रेम–पथ के सभी पथिकों पर यह उक्ति धटित होती है। सद्गुरू के मुख से परमात्मा का नाम, गुण और रूप आदि की चर्चा सुनकर शिष्य को वैराग्य हो जाने तथा उसमें परमाराध्य को प्राप्त करने की व्याकुलता जागृत हो उठने के उदाहरण सन्त–साहित्य तथा सन्तो की जीवनी मे भरे पड़े है सन्तों की साखियॉ भी इसका साक्ष्य देती हैं। यथा चरण दास –

सतगुरू शब्दो बना है, अंग–अंग डारै तोड़।
प्रेमखेत घायल गिरै, तॉका लगै न जोड़।।

रत्नसेन ने पद्मावती के रूप–गुण की चर्चा सुनती तब उसमें बिरह की तडपन जागृत हुई। किन्तु पद्मावती ने तो रत्नसेन को न तो देखा या और न ही उसका नाम सुना था। फिर भी उसके मन में वियोग की अग्नि जागृत होने का क्या कारण हो सकता है। पद्मावती अपनी धाय से कहती है कि विरह की अग्नि यौवन और मन दोनों को जलाती है। इस प्रकार अज्ञात प्रियतम को संबोधित करते हुये वह कहती है– हे प्रियतमा यदि तुम मलयागिरि चन्दन बनकर शीघ्र नही आते तो

1 पद्मावत–पद–226–4

विरह के खौलते हुये कडाह में पडे हुये प्राण पूर्णत भस्मीभूत हो जायेगे। पद्मावती की इस विरह वेदना का कारण बतलाते हुये जायसी कहते है कि रत्नसेन के प्रेम योग के प्रभाव से पद्मावती प्रेमवश हो गयी थी और विरह का अनुभव करने लगी थी –

पद्मावती तेहि जोग संजोगा।
परी पेम वस गहैं वियोगा।।

जायसी की मान्यता है कि जबसे यह सृष्टि निर्मित हुई है, तबसे समस्त जड–चेतना पदार्थ परमात्मा की वियोग अग्नि मे जल रहे है। सूर्य विरहाग्नि मे सतत धधकता रहता है। वह कभी आकाश मे उठता है, कभी पाताल मे जाता है। उस अपार विरहाग्नि के कारण ही वह स्थिर नही रह पाता।[1] ये वर्णन अत्युक्तिपूर्ण जान पडती है किन्तु जब हम इसे सूफी दर्शन के प्रकाश मे देखते हैं, समाधान हो जाता है इब्नसीना के अनुसार – "प्रेम केवल मानव–जाति तक ही सीमित वस्तुओं मे वह व्याप्त है। समस्त प्राणी, वनस्पति और खनिज पदार्थो तक में उसकी सत्ता दुष्टिगोचर होती है।"

जायसी ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि आराध्य ह्रदय मे निकट है फिर भी मिलन कठिन हो रहा है। कुछ ऐसा फेर पड गया है कि – वह प्राप्त होकर भी अप्राप्त है गीता और ईशोपनिषद मे इस प्रकार का भाव दिखाई पडता है। "वह क्रियाशील और अक्रिय भी। वह दूर है और पास भी। वह सबके भीतर है और बाहर भी। अर्थात् वह प्राणियो के अन्तर्बाहय अवस्थित है, वह चर भी है अचर भी। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसे जाना नही जा सकता। वह ह्रदय मे भीतर है और बाहर भी।" इस प्रकार जायसी के पद्मावत मे विश्व का सर्वव्यापाक तत्व प्रेम प्रकट और प्राप्त हुआ लगता है। और प्रेम से अधिक ऊँची प्रवृति और उससे ऊँचा कोई राग और उससे ऊचा कोई विराग लोक–लोकान्तर मे दृष्टिगोचर नही होता। इसी आशय से बडे–बडे कवियो मनिषियो ने भी प्रेम को ही अन्तत और अन्यतंम मूल्य प्रदान किया है। कालरिज ने कहा है–He prayetyh him best, who loveth fim

---

1 विरह की आगि सूर नहि हिका । रति हुँ दिवस जरा औ धिका।
खिनाहि सरग खिन जाइ पतारा । थिर न रहै तेहि आगि अपारा पद्मावत–180 4, 5

best.– अर्थात् ईश्वर की सच्ची प्रार्थना वहीं करता है जो उससे सच्चा प्रेम करता है। वैराग्य की मुक्ति से प्रेम के चिरबन्धन का आनन्द श्रेयस्कर है। इस प्रकार जायसी के "पद्मावत" रचने का उद्देश्य प्रेम की प्रतिष्ठा हैं पूजा है, परोक्षानुगमन है पद्मावत की प्रेमयोग आसक्तिजनक है। इसमे जीवन के तप सयम और संघर्ष की ऊंची अभिव्यंजना है। वैराग्य केवल आवरण है। पद्मावती के लिये रत्नसेन का सहज योगी बनना सघर्ष, तप, सयम आदि धारण करना और पद्मावती को पाना – यह राग के लिये विराग की स्वीकृति वाली दशा कही जायेगी और फिर नागमती के लिये रत्नसेन का पद्मावती के साथ चित्तौड लौट जाना इसके विपरीत की दूसरी दिशा है। विरागजम्यराग की स्वीकृति। इनके बीच प्रेम ही एक ध्रुवतारा है। इस प्रेम की उद्देश्य पूत्रि में जायसी जैसे प्रेममार्गी कवि का सारा बल लग गया है।

इस प्रकार जायसी को महान जीवन उद्देश्य की पूर्ति 'प्रेमभाव' में ही प्रतीत हुई है। प्रेम के रूपो मे सयोग और वियोग महत्वपूर्ण है जिसके आधार पर पद्मावत का अध्ययन कर प्रेम का निरूपण किया गया है। जायसी के पद्मावत मे प्रेम और दर्शन दोनो दृष्टियो से दाम्पत्य प्रेम ही मुख्य है। कथा संगतियो की योजना मे वात्सल्य, सख्य और स्वामि भक्ति भी समाविष्ट हो गये हैं, लेकिन प्रेमगाथा के विधान मे जायसी को इनका उभार अभीष्ट नही है और नही इनका उभार आवश्यक है। पद्मावत में प्रेम के दाम्पत्य भाव पर ही बल दिया गया है। दाम्पत्य भाव के माध्यम से ही जायसी ईश्वर तक पहुचते हैं जायसी का प्रेम मार्ग ही उनका सिद्धान्त और जीवन दर्शन था।

'पद्मावत' की प्रेम पद्धति :– जायसी ने पद्मावत मे जिस प्रेम–पद्धति का निरूपण किया है वह मूलत· सूफियो की प्रेम–मूलक साधना–पद्धति पर आधारित है। सूफी साधक प्रेम के माध्यम से ही परमात्मा का सानिध्य प्राप्त करता है। सन्तों के समान सूफियों का प्रेम भी निराकार ईश्वर के प्रति होता है इसलिये उसका वर्णन केवल प्रतीक रूप में ही सम्भव हो सकता है। सूफी साधक इस प्रेम का वर्णन किसी लौकिक वस्तु के प्रति प्रेम–प्रदर्शन करके ही किया करते है। उनका सह आदर्श प्रेम ईश्वर को नारी रूप में ही स्वीकार कर वर्णित होता है क्योकि सूफियो का प्रेम उस

अलौकिक के प्रति होता है इसलिये लौकिक कथा के माध्यम द्वारा वर्णित किये जाने पर भी उसमे अलौकिकता आ जाती है। सूफी साधक का लौकिक प्रेम भी उसी आलैकिक की झलक देखता है। इस प्रकार रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय कथा साधारण मानवीय–प्रेम कथा न होकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है। जीवात्मा रूप रत्नसेन ब्रहमरूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिये जिन–जिन कष्टो का सामना करता है वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयॉ है। सिद्धि को प्राप्त करने हेतु इन सभी विषय –स्थलो से प्रत्येक सूफी साधक को गुजरना पडता है। सूफी साधना मे जगत और प्रकृति का बहिष्कार नहीं हुआ है वरन् उसके कण–कण मे ब्रह्मके अपरिमित सौन्दर्य का दर्शन किया गया है। जीवन और जगत का सौन्दर्य उस परमब्रह्मका सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से ही पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन समस्त सूफी साधकों और कवियो का अभिप्रेत रहा है।

जायसी प्रेम को इतना महत्व देते है कि उनके अनुसार–जिस व्यक्ति ने इस संसार मे आकर प्रेम ऐसे सरल साधन द्वारा अपने लक्ष्य–ईश्वर की प्राप्ति नहीं की उसका जन्म लेना ही व्यर्थ रहा। दूसरी तरफ वह प्रेम को दुलर्भ भी मानते है। वो कहते है–"करब पिरीत कठिन है काजा" जायसी ऐसे कठिन प्रेम–मार्ग पर चलकर ही उस परम प्रेममय तक पहुॅचने का मार्ग बताते है और इस मार्ग को लौकिक प्रेम द्वारा ही चित्रित किया है। सारांश यह है कि प्रेम चाहे किसी भी व्यक्ति के प्रति क्यो न हो वह केवल उसी परम के प्रति प्रेम का प्रतीक होता है। इसलिये किसी के भी प्रति प्रेम केवल उसी परम प्रेममय के प्रति प्रेम होता है। जायसी ने पद्मावत में प्रेम के इसी रूप का चित्रण किया है। यही कारण है कि कहीं पद्मावती उस परम प्रेममय की प्रतीक बन जाती है और रत्नसेन साधक बन उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा कही रत्नसेन उस परम प्रेममय का प्रतीक बन जाता है और पद्मावती उसके लिये व्याकुल होने लगती है और अन्त में उसी के साथ सती हो जाती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पद्मावत मे जायसी की दृष्टि मे न तो पदमावती ब्रह्मकी प्रतीक है और न रत्नसेन साधक। जायसी स्थान–स्थान पर सर्वत्र प्रेमस्पद को ही उस परमप्रेममय ब्रह्म का प्रतीक बनाते चले गये हैं। नागमती के लिये रत्नसेन ब्रह्म के समान सर्वव्यापी है। और रत्नसेन के लिये पद्मावती तथा चलकर पद्मावती के लिये रत्नसेन ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है। अर्थात् जायसी ने सर्वत्र प्रेमास्पद को ही अलौकिकता प्रदान की है। पद्मावत की रचना में जायसी का मूल उद्देश्य प्रेम की महत्ता का ही चित्रण करना था। उन्होंने इस महत्ता का चित्रण एक लौकिक प्रेम कथा के माध्यम द्वारा किया है। और ऐसा करते समय उन्होने प्राचीन कथानक रूढियों का प्रचुरता के साथ प्रयोग कर अपनी इस कथा को पूर्णता प्रदान की है इसलिये हमें प्रेम पद्धति का विवेचन करने से पूर्व जायसी द्वारा प्रयुक्त प्रेम–कथा के विधानो का परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रेम–कथा के विधान प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेमकथा के अनेक विधानो के दर्शन होते हैं। अधिकांश प्रेमकथाओ में पात्रो के हृदय मे प्रेम का अकुर उत्पन्न करने का कार्य प्राय. पक्षियो द्वारा किया जाता रहा है। नल–दमयन्ती की कथा में यह कार्य एक राजहंस ने किया था। परन्तु साधरणत तोता ही इस कार्य को करता रहा है। पृथ्वीराज रासों मे भी तोंता इस कार्य को करता है। जायसी ने भी हीरामन तोते को अपना माध्यम बनाया है।

प्रेम कथाओ मे दूसरा विधान होता है–प्रेमी–प्रेमिका का एकान्त मिलन। कहीं यह मिलन आकष्मिक होता है और कही सकारण। तुलसी ने जनक की पुष्प वाटिका में राम और सीता का आकष्मिक प्रथम मिलन दिखाया है परन्तु जायसी ने सकारण और पूर्व निश्चित योजनानुसार शिव–मण्डल मे रत्नसेन और पद्मावती को प्रथम–मिलन दिखाया है। प्रचलित कहानियों मे नायिका के दर्शन कर नायक का बेहोश हो जाना, नायिका द्वारा उसके वक्ष पर चन्दन द्वारा अपना सदेश लिखना आदि का चित्रण होता आया है। जायसी ने भी पद्मावत में इसी पद्धति का निर्वाह किया है।

अधिकांश भारतीय प्रेम–कथाओ में नायक के प्रेम की परीक्षा लेने का भी विधान–प्रचलित रहा है। तुलसी ने भी पार्वती द्वारा राम के सीता के प्रति प्रेम की परीक्षा लिये जाने का वर्णन किया है। जायसी ने दो स्थल पर रत्नसेन के पद्मावती के प्रति प्रेम की परीक्षा लिये जाने का विधान किया है। पहले पार्वती द्वारा तथा पुन लक्ष्मी द्वारा प्रेम की परीक्षा ली गयी है। प्रेम–कथाओं मे शिव–पार्वती का आना एक प्रसिद्ध रूढि सी रही है। पार्वती के आग्रह पर महादेव हमेशा निराश–प्रेमी–प्रेमिकाओ का सम्मिलन कराते रहे है। जायसी ने भी इस रूढि का पालन किया है। महादेव पहले रत्नसेन को सिद्धि गुटिका देते है और फिर देवताओ सहित रत्नसेन की सहायता कर पद्मावती से उसका विवाह निश्चित करवा देते है। इन प्राचीन कथाओ मे प्रेम को अधिक उन्नत दिखानें के लिये विवाह या मिलन के उपरान्त प्रेमी–प्रेमिका को नियुक्त करवा कर पुन· उन्हे मिला देने का विधान रहा है नल–दमयन्ती के साथ ऐसा ही हुआ था। जायसी ने भी समुद्र यात्रा में संकट उत्पन्न करवा पहले नायक–नायिका का विछोह करवाया है और फिर लक्ष्मी द्वारा उनका पुनर्मिलन हाना चित्रित किया है। डॉ० जयदेव के अनुसार इस प्रकार की प्रेम–कथाओं में तीन और आवश्यक विधान थे। स्त्री भेद वर्णन, नख–शिख वर्णन, वारहमासा वर्णन, जायसी ने इन तीनों विधानों का भी पूर्ण उपयोग किया है।

उपयुर्क्त विधानो के उपयोग के अतिरिक्त जायसी ने प्रेम–कथाओं मे साधारणत प्रचलित शब्दावली का भी उपयोग किया है। 'इन्द्र अखाडा' महादेव का आसन हरना आदि शब्दों एवं घटनाओ का पूर्ण उपयोग किया है। जैसे :–

छुद्र घंटिका मोहहि राजा, 'इन्द्र अखाड' आइ जनु बाजा।
जोगिहिं जबहिं गाढ असं परा। महादेव कर आसन टरा।।

प्रेम कथाओं मे नायक सबका प्रीति भाजन बना रहता है। उसे संकट मे देख सब दुखी हो उठते हैं। जायसी ने रत्नसेन को सूली दिये जाने की तैयारियो के समय सार उपस्थित जन समूह को व्यथित होता हुआ दिखाया है।

मागहिं सब विधिना सौ रोई। कै उपकार छूड़ावै कोई ।।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने अपनी इस प्रेम–कथा में अन्य पूववर्ती एव समकालीन प्रचलित प्रेमकथाओ मे प्रयुक्त हुये सम्पूर्ण विधानो को अपनाकर पद्‌भावत का निर्माण किया है। अत· पद्‌मावत को उस दृष्टि से सफल प्रेम कहानी माना जा सकता है।

शुक्ल जी ने पद्‌मावत की प्रेम पद्धति का निरूपण करने से पूर्व भारतीय साहित्य मे प्रचलित चार प्रमुख प्रेम–प्रणालियो का परिचय दिया है जो इस प्रकार है।

1 रामायण आदि महाकाव्यों का वह प्रेम जिसका स्फुरण विवाह के उपरान्त तथा उत्कर्ष जीवन की विकट परिस्थितियों मे होता है यह उभय पक्ष मे सम होते हुये भी नायक पक्ष में कर्तव्य बुद्धि प्रधान रहने के कारण सयत रहता है। इसमें विलासिता को स्थान नहीं मिलता है।

2 यह विवाह से पूर्व होता है। नायक–नायिका एक दूसरे को देख मोहित हो जाते है और फिर उनमे प्रेम की वृद्धि होती है। इसका अत विवाह मे होता है। प्रयत्न नायक की ओर से अधिक किया जाता है, अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रेम ऐसा ही है।

3 यह राजाओ के अन्तःपुर का प्रेम होता है जिसमे सपत्नियो के द्वेष, विदूषक आदि के हास–परिहास और राजाओं की स्त्रैणता का वर्णन अधिक होता है नायक बाहर न जाकर घर मे ही लुकता–छिपता रहता है। रत्नावली, कर्पूर मजरी आदि नाटिकाओ में इसी प्रकार के प्रेम का प्रदर्शन किया गया है।

4. यह प्रेम गुण, चित्र–दर्शन, स्वप्न–दर्शन आदि से घर बैठे –बिठाये हो जाता है। उषा–अनिद्ध का प्रेम इसी प्रकार का है।

पद्मावत मे जायसी द्वारा वर्णित प्रेम चौथे प्रकार का है परन्तु इसमे भारतीय पद्धति से भिन्न नायक का प्रयत्न दिखाया गया है। केवल अत मे जाकर पद्मिनी के विरह का वर्णन कर उसमे भारतीयता का पुट दे दिया गया है।[1]

फारसी काव्य मे सदैव नायक को ही प्रयत्नशील दिखाया जाता रहा है। जायसी द्वारा प्रदर्शित प्रेम की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे शारीरिक प्रेम–मन का उल्लास ओर वेदना–को प्रधान दिखाया गया है।

जायसी ने फारसी और भारतीय प्रेम का एक और रूप मे भी मिश्रण किया है। फारसी का प्रेम ससार से अलग, कर्तव्य, साहस दृढ़ता आदि से रहित होने के कारण अव्यवहारिक होता है। जब कि भारतीय प्रेम मे सघर्ष पराक्रम, ज्ञान विजय आदि सभी कुछ दिखाकर उसे व्यवहारिक बना दिया जाता है। शुक्ल जी इसी को लोक–पक्ष कहते है। जायसी ने प्रधानता तो फारसी प्रेम की ही रखी है परन्तु बीच–बीच में वे राजा के योगी होते समय माता तथा पत्नी का विलाप, पद्मावती–नागमती का झगडा आदि प्रसगो द्वारा उसे लोक–पक्ष से मिलाते चले गये है। परन्तु इतने पर भी शुक्ल जी पद्मावत को श्रृगार रस प्रधान काव्य ही मानते है क्योंकि इसमें मानस के समान मनुष्य जीवन की भिन्न–भिन्न बहुत सी परिस्थितियो और सबंधो की योजना नही की गयी है। शुक्ल जी की दृष्टि में रत्नसेन का पूर्वराग नल के पूर्व राग के समान स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक ही है। क्योकि हस के मुख से दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णन सुन नल की जो दारूण दशा होती है वह इतनी नहीं खटकती जितनी कि तोते के मुंह से पद्मावती के रूप–वर्णन को सुन रत्नसेन के मूर्छित हो जाने वाली दशा खटकती है इसका कारण यह है कि नल और दमयन्ती तो एक दूसरे के विषय मे बहुत दिनो से सुनते चले आये थे जिससे उनका पूर्वराग "मंजिष्ठाराग" को पहुच चुका था। परन्तु रत्नसेन के साथ यह बात नही थी। शुक्ल जी का कहना है कि जब तक पूर्वराग कालान्तर मे प्रेम के रूप में परिणत नही हो जाता तब तक वह चित्त की कोई

1 जायसी ग्रथावली–सपादक आचार्य शुक्ल (ना०प्र०स०) पृष्ठ –27

गंभीर वृत्ति नहीं बन सकता। किसी के रूप–गुण की प्रसंशा सुनकर उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रेम न कही जाकर लोभ ही कहलायेगी।

प्रेम मे पहले, दूसरे के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाता है, तदुपरान्त शरीर का। रत्नसेन के प्रेम को उस समय तो प्रेम माना जा सकता है जब वह शिव–मडप मे पद्मावती के प्रथम दर्शन कर मुर्छित हो जाता है और इसकी पूर्णता तब दिखाई देती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण कर उसके प्रेम की परीक्षा लेती है। "अत रूप–वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य रूप दिखाया गया है वह प्रकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पडता।"[1] रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनो ही दूसरे के मुख से पद्मावती के रूप–वर्णन को सुनकर उसे प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठते हैं इसलिये दोनो का प्रेम एक ही होना चाहिये।परन्तु दोनो की क्रियाओं मे अन्तर है। अलाउद्दीन के इस आर्कषण मे दो कमियॉ है –

(1) एक तो यह कि पद्मावती दूसरे की विवाहिता है। दूसरे अलाउद्दीन उसे प्राप्त करने के लिये जो उग्र प्रयत्न करता है उसमें स्वयं कष्ट उठाने की भावना न होकर अभियान की भावना प्रधान है।

शुक्ल जी रत्नसेन के प्रेम की अस्वाभाविकता का कारण लौकिक प्रेम और आध्यामित्क प्रेम के मिश्रण किये जाने को ही मानते है। जिस प्रकार शिष्य गुरू–मुख से ईश्वर का आभास पाकर प्रेम मग्न हो जाता है वही दशा रत्नसेन की होती है रत्नसेन के सिंहल पहुंचने पर कवि ने पद्मावती की जिस व्याकुल –दशा का वर्णन किया है वह भी आध्यात्मिकता के ही कारण है। नागमती के गार्हस्थ्य परिपुष्ट प्रेम का भी अत्यन्त मनोहर चित्रण हुआ है। पद्मावती प्रेमिका है परन्तु नागमती पति–परायण हिन्दू पत्नी है। पहले वह रूप–गर्विता के रूप में सामने आती है और बाद में बिरहिणी बन जाती है। जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया पवित्र प्रेम के सौन्दर्य को पहचान कर उसे उचित महत्त्व दिया है। जायसी ने पद्मावत मे

---

1. सपा० आचार्य शुक्ल–जायसी ग्रथावली ना० प्र० सभा०

मूलत· दाम्पत्य प्रेम का ही उत्कर्ष दिखाया गया है। दाम्पत्य प्रेम के क्षेत्र में नागमती और पद्मावती दोनों खरी उतरती है परन्तु रत्नसेन जब सती साध्वी नागमती को त्यागकर पद्मावती के लिये योगी बन चल देता है तो रत्नसेन के दाम्पत्य प्रेम मे एकनिष्ठता नहीं दिखाई पडती । यद्यपि पद्मावती के प्रति उसका प्रेम पूर्णत· एकनिष्ठ रहता है।

प्रेम मे पद्मावती की इस दृढ निष्ठा मे रत्नसेन निर्द्वन्द्व हो आनन्द मे मग्न हो जाता है, उसके हृदय से सूली का भय भाग जाता हैं। प्रेम के प्रभाव से प्रेमी की वेदना मानो उसके हृदय के साथ–साथ प्रिय के पास चली जाती है। अत· जब विरह प्रेम चरम–सीमा को पहुंच जाता है तब प्रेमी तो दुख की अनुभूति से परे हो जाता है और उसकी सारी वेदना प्रिय के मत्थे जा पडती है सवेदना का यही उत्कर्ष तुल्य प्रेम है। रत्नसेन इसी प्रेम के बल पर अलाउद्दीन जैसे अनाचारी, नृशस, शक्तिशाली बादशाह का सामना करता है, देवपाल को बांधकर मार डालतां है एव स्वय मर जाता है एव पद्मावती तथा नागमती स्थिर शात मन से उसके साथ सती हो जाती हैं। इस प्रकार 'पद्मावती' की इस अमर प्रेम कथा का शांत रस मे पर्यावसन हो जाता है प्रेमियो का प्रेम अत तक शाश्वत रहता है। ऐसा अमर प्रेम ही जायसी का काम्य है। जायसी का यह प्रेम मार्ग ऊपर से देखने पर तो सरल सा प्रतीत होता है परनतु इसे आसानी से नही प्राप्त किया जा सकता इसके लिये अनेक साधनो की आवश्यकता पडती है। गुरू इसका मूल मंत्र–दाता है। जायसी प्रेम के अमर चितेरे है। उन्होने संयोग और वियोग का विस्तृत वर्णन किया है। प्रेमाभिव्यक्ति के रूवरूप का विवेचन सयोग और वियोग के परिप्रेक्ष्य मे किया गया है।

संयोग प्रेम :– शृगार के दो रूप माने गये है– लौकिक और अलौकिक शृगार। जब भक्त के हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न होती है तो इस कारण जो भगवद् विषयक प्रेम या रति भाव उत्पन्न होता है वह अलौकिक श्रृंगार कहलाता है। यह अध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में भी लौकिक दाम्पत्य की भावना पूर्ण रूप से विद्यमान रही है। कबीर, जायसी आदि सन्त कवियों के ईश्वर के प्रति अपने प्रेम को

लौकिक सम्बन्धों पर आधारित दाम्पत्य भाव के आधार पर अभिव्यक्त किया है। यहाँ जायसी के संयोग शृंगार का वर्णन 'पद्मावत' के आधार पर किया गया है 'पद्मावत' सयोग शृंगार के दो आलम्बन है—रत्नसेन—नागमती, रत्नसेन—पद्मावती।

इनमे जायसी ने रत्नसेन – नागमती के संयोगावस्था का कम चित्रण किया है और रत्नसेन पद्मावती का अधिक रत्नसेन—नागमती की सयोगावस्था का केवल एक पूर्ण चित्र उस समय मिलता है जब रत्नसेन सिंहल से लौटकर चित्तौड आता है नागमती को जब प्रिय के आगमन का समाचार मिलता है तो हृदय शीतलता से भर जाता है।

नागमती कहँ अगम जनावा। गई तपनि वर्षा जनु आवा।।

नागमती आनन्द से भर गयी एव सोलह शृंगार कर पति का स्वागत किया। रत्नसेन भी सारे दिन दान देता रहा और रात होने पर नागमती के पासा आया।

सब दिन राजा दान दिआवा।
भइ निसि नागमती पहँ आवा।।

परन्तु नागमती के हृदय में मान की भावना जागृत हो उठी। क्योकि नागमती पति विरह में दग्ध हो रही थी इसलिये अब वह पति से मान कर रही है। उसने बहुत दुख उठाये है। वह पति से कहती है –

तूँ जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि छार भयहुँ तोहि लागी।

यदि नागमती पति से मान न करती तो उसे नारी नही माना जा सकता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नागमती का अपने पति से इस तरह का व्यवहार नितान्त स्वाभाविक और सुन्दर हैं। नागमती नारी है इसलिये उसमें सौतिया—डाह है रत्नसेन पद्मावती को अपने साथ ले आया है इसलिये वह कहती है –

काह हँसौ तुम मोसो, कियउ और सो नेह।
तुम्ह मुँख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसत मेह।।

रत्नसेन चतुर नायक है। वह नागमती के मान को समझता है इसलिये वह नागमती के सम्मान मे वृद्धि करता हुआ बडे कौशल के साथ परिस्थिति को सँभालने का प्रयत्न करता है। वह कहता है कि पद्मावती भले ही गोरी हो परन्तु मुझे तो अपनी सॉवली सलोनी तूँ ही अच्छी लगती है। इस पर नागमती प्रणय–विह्वल हा उठती है–

नागमती हँसि पूछी बाता
कहहु कंत ओहि देस लुभानें कसि धनि मिलि भोग कस माने।।

इसके उपरान्त नागमती पुरुष की भ्रमर–वृत्ति पर चोट करती है। वह अपनी और पद्मावती की तुलना करती है और साथ ही रत्नसेन की दुर्बलता पर चोट भी करती जाती है।

इसके उपरान्त –

कहिं दुःख–कथा जो रैनि–विहानी ।
भयउ भोर जहँ पद्मिनी रानी।।

बस कुछ पदो में कवि रत्नसेन–नागमती के सुखद सयोग का वर्णन समाप्त कर देता है। जो अपनी संक्षिप्तता मे भी अत्यन्त सम्यक् और मार्मिक है। जायसी ने रत्नसेन पद्मावती का चित्रण कई खण्डो में किया है–बसन्तखण्ड, पद्‌वती रत्नसेन–विवाह–खण्ड, पद्मावती–रत्नसेन भेट खण्ट, षटऋतु वर्णन खण्ड, लक्ष्मी–समुद्र खण्ड, चित्तौड आगमन खण्ड तथा पद्मावती–मिलन खण्ड। बसन्त के मादक वातावरण में कवि रत्नसेन और पद्मावती का प्रथम मिलन करवाता है। इस मिलन से रत्नसेन का पूर्वराग और दृढ हो जाता है। तथा पद्मावती भी उसे हीरामन के वर्णन के अनुरूप पाकर उस पर मुग्ध हो जाती है। और उधर जोगी रत्नसेन ने भी पद्मावती की पहली झलक देखी। रत्नसेन पद्मावती की सुन्दरता देख मुर्छित हो गया इस पर उसको देख पद्मावती झुझला उठी और उसके हृदय पर कुछ भर्त्सना के वाक्य लिख दिये कि “घडी आने पर तूं सो गया।”

पद्मावती रत्नसेन के मूर्छित हो जाने पर उसके प्रति कोई सहानुभूति नही दिखाती। इस प्रथम मिलन में रत्नसेन अधिक संतप्त होता है। अत यहाँ शृंगार एक

पक्ष मे अरोपित है। इसलिये इसे मार्मिक नहीं माना जा सकता। यद्यपि इससे पूर्व पद्मावती रत्नसेन को सूली दिये जाने का समाचार सुन उसके पास सदेश भिजवा चुकी है। 'जियै तो जियों मरो एक साया।' पद्मावती के हृदय मे रत्नसेन के प्रति धीरे–धीरे–प्रेम प्रगाढ होता जाता है। आगे चलकर रत्नसेन–पद्मावती भेट खण्ड मे कवि इन्हीं प्रेम विह्हल प्रेमी–प्रमिका का सयोग दिखाता है। जायसी इसके लिये पहले उपयुक्त वातावरण बनाते हैं। महल के ऊपर सातवॉ खण्ड है जहॉ चित्रसारी मे विलास की सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। ऐसे अवसर के उपयुक्त पहले कवि ने कुछ विनोद का विधान किया है। कवि इस अवसर को और अधिक उत्तेजक रूप प्रदान करता है। मिलन से पूर्व ही सखियॉ पद्मावती को छिपा देती है। रत्नसेन विरह–व्याकुल हो उठता है। सखियॉ उससे हास–परिहास करती है। राजा पद्मावती से मिलने को आतुर होता है। पर इस विधान मे जायसी को सफलता नही मिली है। इस प्रकार कुछ बाधक प्रसगो के होते हुये भी वर्णन अत्यन्त रसपूर्ण है। पद्मावती जिस समय शृंगार करके राजा के पास जाती है उस समय का मनोहर चित्र देखिये :–

साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट।
तन, मन, जोबन साजि कै, दइ चली लै भेंट।।

इस दोहे मे तन,मन और यौवन तीनो का अलग–अलग उल्लेख बहुत ही सुन्दर है। मन का सजाना क्या है? समागम की उत्कठा या अभिलाष। बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती है। सयोग वर्णन में जायसी पहले तो सहसा सौन्दर्य के साक्षात्कार से हृदय के उस आनन्दसम्मोहन का वर्णन करते हैं जो मूर्छा की दशा तक पहुचा हुआ जान पडता है फिर राजा अपने दुख की कहानी और प्रेम मार्ग में अपने ऊपर पडे हुये सकट का वर्णन करके प्रेम मार्ग की उस सामान्य प्रवृत्ति का परिचय देता है जिसके अनुसार प्रेमी अपने प्रियतम के हृदय मे अपने ऊपर दया तथा करूण का भाव जागृत करने का बराबर प्रयत्न किया करता है।

शुक्ल कहते हैं कि इसी प्रवृत्ति की उत्कर्ष व्यजना के लिये फारसी या उर्दू शायरी मे मुर्दे अपना हाल सुनाया करते है। सबसे बडा दुख होने के कारण

मरण–दशा के प्रति सबसे अधिक दया या करूणा का उद्रेक स्वाभाविक है। शत्रु तक का मरण सुनकर सहानुभूति का एकाध शब्द मुँह से निकल ही जाता है। प्रिय के मुख से सहानुभूति के वचन का मूल्य प्रेमियों के निकट बहुत अधिक होता है। इसके उपरान्त नायक–नायिका के बीच कुछ वाक्चातुर्य और परिहास भी भारतीय प्रेमप्रवृत्ति का एक मनोहर अंग है। जायसी ने यहाॅ संभोग का वर्णन किया है ये पक्तियाॅ निश्चित रूप से अश्लील हो गयी है–

भयउ जूझ जस रावन रामां। सेज विधंसि विरह संग्रामा।।
लीन्ह लंक कंचन – गढ टूटा। कीन्ह शृंगार अहा सब लूटा।।
औ जोवन मैमत विधंसा । विचला विरह जीउ सो नासा ।।
टूटे अंग–अंग सब भेसा। छूंटी माँग, भंग भये केसा ।।
कंचुकि चूरि–चूरि भई तानी । टूटे हार मोति छहरानी।।

लेकिन इसके बाद जायसी अपने वर्णन मे रहस्य का पुट दे कामानन्द को ब्रहमानन्द सहोदर का सा रूप दे देते हैं। रत्नसेन पद्मावती से कहता है –

सुनु धनि ! प्रेम–सुरा के पिये। मरन–जियन डर रहै न हिये।

पद्मावती पति के साथ एकाकार हो चुकी है वह सखियो से अंत मे कहती है–

करि सिंगार तापहँ का जाऊं। ओही देखहुँ ठाबहिं ठाऊँ।।

प्रेम रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है। दोनों प्रेमी–प्रेमिका तन–मन से एकाकार हो जाते है। पद्मावती कहती है –

आज मरम मै जानिउँ। जस पियारे पिउ और न कोई ।

शुक्ल जी को इस सयोग वर्णन मे एक कमी पाते है। इसमें 'हावों' का विधान नही हुआ है–"हावों की सम्यक् व्यजना न होने से जायसी के सयोग पक्ष मे वैसी सजीवता नही दिखाई देती।" इस सयोग वर्णन की एक विशेषता और है कि इसमें शारीरिक भोग–विलास के बीच प्रेम का भावात्मक स्वरूप ही अधिक प्रस्फुटित हुआ है। शुक्ल जी ने संयोग वर्णन का विश्लेषण करते हुये प्रश्न उठाया है कि जायसी ने तुलसी और सूर के समान सयोग का चित्रण सम प्रेम के द्वारा न कर विषम प्रेम द्वारा प्रारम्भ किया है। उन्ही के शब्दों में "दूसरा उत्तर यह है कि–जायसी को इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष मे भी घटाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय

पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों–ज्यों यह प्रेम बढता जाता है, त्यों–त्यों भगवान की कृपा दृष्टि भी होती जाती है, यहाँ तक पूर्ण प्रेम दशा को प्राप्त भक्त भगवान को भी प्रिय हो जात है। प्रेमी होकर प्रिय होने की यह पद्धति भक्ति की है। भक्ति की साधना का क्रम यही है कि–भगवान हमे प्रिय लगे, पीछे अपने प्रेम के प्रभाव से हम भगवान को प्रिय लगने लगेगे।"

जायसी ने आगे चलकर पुन 'षटऋतु वर्णन खड' मे सयोग शृंगार का चित्रण किया है। इसमे कवि विभिन्न ऋतुओ का नायक–नायिका पर प्रभाव दिखलाता है। 'लक्ष्मी–समुद्र खण्ड' मे जायसी पुनः सयोग शृंगार का वर्णन करते है। समुद्र मे भटक जाने के उपरान्त रत्नसेन और पद्मावती का पुन मिलन होता है। इनका यह मिलन पूर्णत भावात्मक एवं मानसिक है। दोनो एक दूसरे से इस प्रकार मिलते हैं कि मानो प्यासे को शीतल जल मिल गया है। संयोग का एक संक्षिप्त सा चित्र उस समय आता है जब रत्नसेन चित्तौड लौटने पर रातभर नागमती के पास रह प्रभात होने पर पद्मावती के पास पहुँचता है। वह रोकर रत्नसेन से उसकी निर्ममता की शिकायत करती है। यहाँ पद्मावती का दीन रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। लेकिन रत्नसेन उसे मना लेता है।

रत्नसेन–पद्मावती सयोग का अतिम चित्र वहाँ आता है जब रत्नसेन दिल्ली से छूटकर चित्तौड आ जाता है। फिर दोनो का मिलन होता है। जायसी ने इस मिलन का अप्रतिम चित्र अंकित किया है। जिसमें सात्विक प्रेम अपने निर्मलतम रूप में उद्भासित हो उठा है।

धनि पूजे पिउ पाँय दुइ, पिउ पूजा धनि माथ।

पद्मावती पति के ऊपर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की बात करती है। सकट से मुक्त हुये पति के प्रति पत्नी के हृदय मे अथाह प्रेम का कितना निर्मल स्रोत प्रवाहित हो रहा है।

"रोइ बुझाइअ आपन हियरा। कंतन दूर अहै सुठि नियरा।।

पद्मावती की यह उक्ति उसके अथाह प्रेम की ज्वलन्त प्रतीक बन जाती है। इस अथाह प्रेम जनित अद्वैत की स्थिति के कारण ही रत्नसेन की मृत्यु होने पर पद्मावती विलाप नही करती प्रत्युत शान्त मन से श्रृंगार कर उसके साथ सती हो जाती है। यदि जायसी गहन–प्रेम के इतने मार्मिक चित्र अंकित न करते तो वह पद्मावत की समाप्ति इस निर्वेदपूर्ण वातावरण में करने मे असमर्थ रहते। सयोग के ये विभिन्न मार्मिक चित्र ही पाठक को मानसिक रूप से इस दुखद परन्तु सौम्य शान्त अत की असीम शान्ति का रसास्वादन कराने मे समर्थ होते हैं। प्रेम जब अपने अनन्त शिखर पर पहुँच जाता है तब प्रेमी अनन्त विछोह के समय भी विचलित नही होता। और सयोग ही प्रेम को सर्वोच्च शिखर तक ले जाने वाला प्रमुख साधन है। पद्मावत का अंतिम अंश इसका प्रमाण है। रत्नसेन की मृत्यु हो जाती है क्षणिक वियोग के अवसर पर भयकर विलाप करने वाली नागमती और पद्मावती इस चरम वियोग के अवसर पर विलाप नही करती। दोनो प्रशान्त धर्य के साथ शृगार कर पति के साथ सहगमन को प्रस्तुत हो जाती है। इस अनन्त विछोह के उपरानत होने वाले अनन्त सयोग की कल्पना उन्हें व्याकुल होने से बचा लेती है।

अनन्त मिलन की कल्पना ही चिता की अग्नि को शीतल बना देती है। जायसी की प्रेम–विभोर मादक कल्पना ही ऐसे अनन्त–मिलन की कल्पना करने मे समर्थ हो सकी है। यह अनन्त मिलन शान्त वातावरण में सम्पन्न होता है।

विरह प्रेम :– सूफी साधना के अन्तर्गत प्रेमाभिव्यक्ति का पूर्ण विकास जायसी कृत 'पद्मावत' मे हुआ है। सूफियो के प्रेम की मुख्य विशेषता है कि उसमे प्रेम की बडी कसक एव पीर होती है। उन्होने प्रेम–पीर को वेदना का पर्याय नही माना है, परन्तु उसे ईश्वर का वरदान मान लिया है। सूफियो के अनुसार प्रेम की वेदना सुखात्मक है। सूफी मत के अनुसार खुदा से पृथक होते रूह (आत्मा) हमेशा विरह मे तडपने लगती है। और विरह ज्वाला में जलती है। विरह प्रेम की पुष्टि करता है और शुद्धि भी क्योकि विरह ही प्रेम का सार तत्व है। प्रेम के अकुरित होते ही विरह की विह्वलता प्रत्यक्ष होती है। प्रिय का सयोग जब तक नहीं होता तब तक प्रिया विरह

की आग में जलती है। विरह की आग मन की समस्त कामजन्य कलुषताओं को जला कर प्रेम–भावना को परिभाषित करती है।

जायसी का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य मे ही नही बल्कि संसार के सभी साहित्यों मे अद्वितीय माना जाता है। शुक्ल जी का कथन है कि "जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है – पद्मावत जिसके पढने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ था।" यद्यपि नागमती का विरह वर्णन ही प्रसिद्ध है फिर भी जायसी ने रत्नसेन, नागमती और पद्मावती तीनो का ही विरह वर्णन किया है। जायसी ने वियोग वर्णन को दो आलम्बनों के सहारे चित्रित किया है। 1 नागमती–रत्नसेन, 2. पद्मावती–रत्नसेन।

नागमती रत्नसेन मे केवल नागमती ही विरह व्यथित दिखाई गयी है, जबकि पद्मावती रत्नसेन मे पद्मावती और रत्नसेन दोनो को ही अनेक बार विरह व्याकुल चित्रित किया गया है।

जायसी सम्पूर्ण प्रकृति को मनुष्य के सुख दुख से प्रभावित दिखाते है। मनुष्य द्वारा पालित पेड पौधे भी मनुष्य के दुख से दुखी और उसके सुख से सुखी होते है। रत्नसेन के चित्तौड से लौटते ही मुरझाई हुई फुलवारी पुनः हरी–भरी हो उठती है। समष्टि रूप से पद्माक्त मे वियोग श्रृंगार ही प्रधान माना जा सकता है। उसके प्रदर्शन मे जायसी ने भारतीय–पद्धति का अनुसरण किया है। यद्धपि उस पर फारसी काव्य परम्परा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उसमे इस प्रभाव के कारण वीभत्स वर्णन कही–कही आ गये हैं कृषता, ताप, वेदना आदि के सुन्दर चित्रण अधिक हुये हैं। इस विरह वेदना में निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य–जीवन का मर्म स्पर्शी माधुर्य, चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति और व्यापारों के साथ हृदय की साहचर्य–भावना तथा प्रसगानुकूल स्वच्छन्द भाषा का प्रवाह है। प्राकृतिक वस्तुओं के सश्लिष्ट विशद् चित्रण के साथ–साथ सादृश्य और वैषम्य के चित्रो के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सुन्दर सामजस्य सम्पूर्ण स्थलो पर मिलता है। जैसे :–

बरसै मघा झकोरि–झकोरी।
मोर दुई नैन चूवैं जस ओरी।।

शुक्ल जी के अनुसार–यह सादृश्य भावना जायसी की कोई मौलिक उद्भावना नही है, कविगण परम्परा से इसका प्रयोग करते चले आये है। सूरदास का–"निसि दिन बरसत नैन हमारे" पद अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऐसा सादृश्य कथन बहुत स्वाभाविक होता है क्योंकि उसमे ऊहा कल्पित न होकर सामने प्रस्तुत रहता है। जायसी ने प्रकृति के माध्यम से हृदय के वेग की व्यजना स्वाभाविक रूप से करते हुये भाव को अत्यन्त उत्कर्ष दशा मे पहुचा दिया है।

कवि 'अभिलाष' नामक मानसिक वृत्ति का वर्णन कर रहा है।

राति दिवस बस यह जिउ मोरे। लागौं निहोर कंत अब तोरे
यह तन जारौं छार के, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरे जहाँ पाव ।।

जायसी के विरह विशेषताओ का परिचय देने के पश्चात अण नागमती के विरह–वर्णन पर प्रकाश डाला गया है।

नागमती का विरह :– वस्तुत: जायसी ने नागमती के रूप मे एक आदर्श भारतीय हिन्दू नारी को चित्रित किया है, जो अपने पति के वियोग के कारण उत्पन्न मानसिक एवं शारीरिक वेदना को अभिव्यक्त करती है। कवि लोग प्रेम की गहराई का अन्दाजा लगाने के लिये विरह का आधार लिया करते है। अत: नागमती का विरह सारी प्रकृति पर प्रभाव डालता दृष्टिगोचर होता है। नागमति का प्रेम दाम्पत्य रति से उत्पन्न होता है और आनन्दपूर्ण कौटुम्बिक जीवन मे पुष्ट होकर अग्रसर होता है। जब इस दाम्पत्य प्रेम की मधुरता में व्यवधान आ जाता है, तब विरह की उत्पत्ति होती है। विरह की आग मे तपकर प्रेम उज्जवल हो जाता है। नागमती का पति रत्नसेन अपनी यौवनयुक्ता पत्नी को राजमहल मे अकेले छोडकर परदेश चला गया है, जिससे नागमती को प्रवास विरह की अनुभूति हुई। नागमती का विरह–वर्णन तो पद्मावत के नागमती वियोग खण्ड, नागमती संदेश खण्ड, चित्तौड आगमन खण्ड, पद्मावत नागमती विलाप खण्ड और पद्मावती–नागमती सती खण्ड मे दर्शित है। नागमती वियोग खण्ड एवं नागमती सदेशखण्ड ही सबसे प्रधान है, जिनमें जायसी की विरह–भावना की सम्यक् अभिव्यंजना हुई है।

नागमती का पति रत्नसेन सिहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम में जोगी बन उसे प्राप्त करने के लिये चित्तौड त्याग, चला गया है, यह कार्य (हरकत) उस तोते का था। नागमती रात–दिन चित्तौड को आने वाले मार्ग पर टकटकी लगाये बैठे रहती है –

नागमती चितउर पथ हेरा। पीउ जो गये पुनि कीन्ह न फेरा।
सुआ काल होई लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात बरू ।।

उसके मन में बार–बार यह शका उठती है कि सारस की जोडी को किस व्याध ने मार डाला ।

सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह।
झुरि–झुरि हौं पिंजर भई, विरह काल मोंहि दीन्ह ।।

पति वियोग के कारण सारा ससार उसे भयावह प्रतीत होने लगता है। सारी प्रकृति का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसकी विरह–वेदना को अधिक उद्दीप्त करने लगता है–

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोलै पिउ–पिऊ।।
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुआ गएउ पिउ नामा।।
प्रान पयान होत को राखा । को सुनाव प्रीतम कै भाखा।।

उसकी इस दशा को देख सखियॉ उसे समझाती है–

पुनि बसंत ऋतु आव नवेली। सो रस मधुकर सो बेली।

परन्तु सखियो की यह सान्त्वना निस्सार प्रतीत होती है क्योकि एक–एक कर वर्ष के महीने बीतते चले जाते है परन्तु उसका प्रियतम लौटकर नही आता। नागमती विवश है। वह एक–एक कर प्रत्येक महीने मे झेले गये विरह ताप का वर्णन अपने सखियों को सुनाती है–जायसी ने उसकी इसी दु,ख गाथा का बारहमासा के रूप मे वर्णन किया है। 'वाहरमासा' के बारे में शुक्ल जी का विचार है कि "वेदना का अत्यन्त निर्मल एव कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारो ओर की प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना, तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इन कुछ विशेषताओ की

ओर ध्यान जाने पर भी इसक सौन्दर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है।"

सयोग के समय जो प्रेम सृष्टि के सम्पूर्ण उपकरणों से आनन्द का सचय करता है वही वियोग मे उनसे दुख का संग्रह करने लगता है। जायसी ने इसी दु.खद रूप मे वर्ष के प्रत्येक महीने के उन सामान्य प्राकृतिक उपकरणो और व्यापारो का वर्णन किया है जिनके साहचर्य का अनुभव राजा से लेकर रंक तक सभी करते है। इस दारूण विरह के जाल मे पड रानी नागमती अपना रानीपन भूल साधारण सामान्य नारी बन जाती है। इसलिये उसका विलाप सबके हृदय को अन्दोलित कर देता है। आसाढ का महीना है।, आकाश मे बादल गरज रहे है।, मानो वह नागमती पर चढाई करनेकी घोषणा कर रहे हो–

चढा अषाढ़ गगन घन गाजा। साजा विरह दुंद दल बाजा।

नागमती व्याकुल हो पति को पुकारती है, परन्तु प्रियतम नही आता। नागमती एक गहरी सॉस लेकर कहती है –

जिन्ह घर कंता ते सुखी। तिन्ह गारौ औ गर्व।
कन्त पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व।।

श्रावण मास उसे और भी अधिक सतप्त करता है–सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी, हौं विरह झुरानी। संसार मे चारो ओर अथाह जल भरा हुआ है। नागमती को नाव का खिवैया सात समुद्र पार है। उसकी नाव बिना खिवैया के थक गई है। – "मोर नाव खेवक बिनु थाकी" वह उस तक कैसे पहुॅचे–

परबत समुद अगम बिच, बीहड़ धन बन ढाख ।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोहि पांव न पाँढा।।

भादो का महीना उसे और अधिक दुख देता है। जैसे तैसे वर्षा ऋतु बीत जाती है। शरद ऋतु का आगमन होता है। क्वार का महीना लग गया है। जल घट गया है। विरहिणी कंत से प्रार्थना करती है कि अब तो लौ आओ मेरा शरीर थक गया है –

परन्तु कंत नहीं आते "कंत न फिरे विदेसहि भूले" ऐसे ही प्रत्येक महीना आता है, ऋतुये बदलती है। नागमती का विरह बढता ही चला जाता है। वह अन्य साधन न देख भौरा और काग के द्वारा पति के पास आपना संदेश भेजती है –

पिउ सो कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा। हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुऑ हम लाग।।

नागमती का प्रियतम फिर भी नही लौट कर आता। फागुन का महीना भी आ जाता है। बसन्त का सौन्दर्य उसे और अधिक व्याकुल करने लगता है। सारी वनस्पितियॉ उल्लसित होने लगती हैं परन्तु नागमती के लिये जग मे दूनी उदासी भर जाती है –

मो कहँ भा जग दून उदासू

नागमती अपने कत को न पा सकने की स्थिति मे यह अभिलाषा व्यक्त करती है –

यह तन जारौं छरि कै, कहौं कि पवन उडाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव।।

इसके उपरान्तु ग्रीष्म ऋतु आ जाती है। ग्रीष्म का ताप उसकी विरहाग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर देता है। वह अपने सखी से कहती है कि मानसरोवर में खिला हुआ कमल जल के अभाव मे सूख गया है परनतु यदि प्रियतम आकर उसे पुन सीच दे तो फिर हरा–भरा हो सकता है–

कँवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
अवहूँ बेलि फिर पलुहै, जौ पिउ सीचै आय।।

जेठ मे चारो ओर अंगार बरस रहे है।, बवडर उठ रहे हैं। विरह की अग्नि इतनी भयकर है कि इसे कोई नही झेल सकता।

अंत मे पुनः वर्षा ऋतु आ जाती है। नागमती विलाप करती हुई कहती है –

तपै लागि अब जेठ असाढी।
मोहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी।।

शुक्ल जी के शब्दों मे–"यह आशिक माशूका का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी है। इसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।" नागमती इस प्रकार विलाप करती हुई बारहमासा में उठाये गये दुखो का वर्णन करती है।विरह का सर्वाधिक मार्मिक एवं सात्विक रूप तो नागमती सदेश खण्ड मे मिलता है।

नागमती को जब प्रियतम का कोई भी समाचार नही मिला तो वह राजमहल से निकल वन मे जा विलाप करने लगती है। वहॉ वह जिस भी पक्षी के पास जा अपनी विरह गाथा सुनाती है वही जल जाता है और वृक्ष पत्र–हीन हो जाता है –

जेहि पंखी के नियर होइ, कहे विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरविर होइ निपात।।

उसका कैसा दुर्भाग्य है कि वह रक्त के ऑसू रो रही है। वह इस प्रकार रोती हुइ वन–वन भटकती रहती है परनतु उसके रूदन को सुन कोई भी विचलित नही होता, अंत में एक पक्षी को उस पर दया आ जाती है। वह उससे रोने का कारण पूछता है, नागमती कहती है कि मेरा कंत जोगी बन सिंहल द्वीप चला गया है। तबसे मुझे उसका कोई सदेश नहीं मिला है और कोई मेरा सदेश लेकर उसके पास नही जाता मेरे लिये सारा संसार उजाड हो रहा है। मेरी कथा को जो जाकर प्रियतम को सुनायेगा मैं जन्म भर उसकी दासी बनी रहूंगी –

कथा जो कहै आई ओहि केरी। पॉवरि होउॅ जनम भरि चेरि।।

इसके उपरान्त वह पक्षी द्वारा पद्मावती को अपना संदेश भिजवाती है –

सवति न होसि तू बैरिन, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पॉय मोर माथ।।

इस संदेश मे उसके जीवन की सारी मार्मिक व्यथा घुल निखर कर पावन हो उठी है। वस्तुत. यह संदेश ही सम्पूर्ण विरह–गाथा का प्राण बिन्दु है।

इसके पश्चात नागमती रत्नसेन के लिये संदेश भिजवाती हुई उसकी माता की दारूण दशा का वर्णन करती है। परन्तु अपने स्वंय के दुख के लिये एक शब्द भी नही कहती है। "उसका बिरह उस प्रणय का विरह है जो स्वय जलना जानता

है।, दूसरे तक उसकी लपट नही पहुंचने देना चाहता ।" नागमती का विरह यहीं समाप्त होता है। रत्नसेन के चित्तौड लौट आने पर वह एक ही दोहे मे उससे मानो अपनी सम्पूर्ण विरह–व्यथा का वर्णन कर देती है –

काह हँसो तुम मोसौं, किएउ ओर सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंह।।

नागमती का विरह दो जगह चित्रित हुआ है। पद्मावती–नागमती विलाप–खण्ड मे तथा सती खण्ड में। सती–खण्ड मे दोनों रानियो का सम्मिलित विरह वर्णित है।

पद्मावती का विरह :– पद्मावती का विरह वर्णन विभिन्न खण्डो मे चितत्रत हुआ है–जैसे · पद्मावती वियोग खण्ड, राजागढ–छेका खण्ड, गंधर्व सेन–मंत्री खण्ड, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, पद्मावती नागमती विलाप खण्ड तथा पद्मावती नागमती सती खण्ड। लेकिन इनमें सभी विरह का महत्व नहीं है। केवल दो विरह का महत्व है। पद्मावती–नागमती विलाप एवं पद्मावती–नागमती सती खण्ड। इन दो के अतिरिक्त अन्य विरह का महत्व इसलिये नहीं हैं कि वह सयोग से पूर्व का विरह है। कवि की अनुभूति वहॉ बोलती नही दिखाई देती है। संयोग के उपरान्त होने वाली विरह ही वास्तविक,मार्मिक और अधिक अनुभूतिमय होता है पद्मावती के ऐसे विरह के दशन हमें उस समय होते हैं जब समुद्र मे वह रत्नसेन से विछुड़ जाती है। विछुड जाने पर वह पति–वियुक्ता क्रौची के समान आर्त–क्रन्दन करने लगती है। उसका प्रियतक सदैव उसके हृदय मे ही निवास करता है।

लेकिन वह उससे मिल नही पाती और सती होने के लिये तैयार हो जाती है यह विरह नागमती की स्मृति को ताजा बना देता है। विरह का दूसरा चित्र वहॉ आता है जब रत्नसेन बंदी बनकर दिल्ली चला जाता है। पद्मावती उसके विरह मे करूण विलाप कर उठती है। पद्मावती के विरह का अतिम चित्र विरह–वेदना से आवोष्टित होने के स्थान पर एक प्रशान्त गाभीर्य रूप धारण कर लेता है वह सोलह श्रृंगार कर पति के साथ सती हो जाने के लिये तैयार हो जाती है। इस प्रकार विरह का अंत शांत वातावरण में होता है।

रत्नसेन का विरह :– रत्नसेन पद्मावती का नायक है जिसका विरह चित्रण कई स्थानो पर दीख पडा है। भारतीय परम्परा के अनुसार नायिका को नायक से अधिक प्रेमोद्दीप्त दिखाया जाता है और नायक में विरह व्याकुलता बहुत कम प्रकट की जाती है। पर सूफी प्रेमाख्यानों की विशेषता यह है कि नायक को भी नायिका की भॉति प्रेम पीर से पीडित एवं वेदना से व्याकुल दिखाया जाता है। रत्नसेन के विरह वर्णन मे पूर्वराग–और प्रवास विरह के कई स्थल हीरामन सुये द्वारा पद्मावती के रूप–लाण्वय का वर्णन सुनने पर, रत्नसेन के मन में एक पक्षीय प्रेम का उदय हुआ। उसका नख–शिख वर्णन सुन करके पद्मावती के प्रति प्रेम अकुरित हुआ और उस प्रेम पात्र के प्रत्यक्ष दर्शन की व्याकुलता से बेहोशी भी आ गयी। यह सत्य है कि प्रेम की दशा मृत्यु से भी कठिन है। जब रत्नसेन जोगी बनकर घर से निकलने को तैयार हुआ तो ज्योतिषियों के रास्ता रोकने पर वह कहा–"प्रेम पथ दिन घरी न देखा" रत्नसेन एक जगह स्पष्ट कहा है कि मै भी सती के समान पद्मावती के प्रेम के कारण चिता मे अपने को जला देना चाहता हूँ। सूफी सिद्धान्त के अनुसार जायसी ने रत्नसेन के मुंह से प्रेम की त्याग भावना को व्यक्त कराया है। इस प्रकार रत्नसेन के मानस–भवन में पद्मावती की रूप–छवि भर गयी और पद्मावती के प्रति उनका एकनिष्ठ प्रेम विकसित हुआ। 'वसंत खण्ड' मे पद्मावती शिव मदिर में पूजा करने आयी तब उसका दर्शन करते ही रत्नसेन बेसुध हो गया। होश आने पर पीडा बढ गयी और करूण–विलाप करने लगा।

सबसे मर्म स्पर्शी विरह चित्र पार्वती–महेश खण्ड मे अकित है। इस खण्ड मे पार्वती रत्नसेन से प्रेम परीक्षा लेती है और यह जान जाती है कि रत्नसेन पद्मावती के प्रेम में जल रहा है और पद्मावती के रूप दर्शन से पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार रत्नसेन पद्मावती का विवाह हुआ और चित्तौड लौटते समय समुद्र में तूफान आने से दोनों अलग हो गये। अब रत्नसेन पद्मावती के विरह मे तडप रहा है। चित्तौड लौटने पर वह नागमती के मान को शान्त करता है। और "नागमती तू पहिलि ब्याही"–फिर आगे कहता है "बहुते दिनन्ह आवै जो पीऊ। धनि न मिल धनि पाहन जीऊ।" लेकिन एक बात और और नागमती के प्रति रत्नसेन का विरह वर्णन पूरे पद्भावत मे कही नहीं दिखाई देता। इनका विरह विशालता, मार्मिकता एव

प्रभाव की दृष्टि से सर्वोपरि है। जायसी का मत है कि प्रेम का मार्ग कष्टतर और वेदना की राह है।, जिनमे त्याग भावना अधिक होती हैं। ये कहते है कि सच्चा प्रेमी समस्त संसार मे प्रेम का दर्शन करता है। और वह प्रिया के अलावा और कुछ नही चाहता। इनके विरह वर्णन मे नायक–नायिका ही नहीं, बल्कि उनके साथ ही साथ उनसे सम्बन्धित सारी प्राकृतिक जड चेतन वस्तुये भी विरहाग्नि मे जलती है। प्रत्येक जीव परमात्मा के विरह मे तडपता है। सूफी साधना का आधार प्रेम ही रहा है। और उनके अनुसार–प्रेम और ईश्वर मे कोई अन्तर नही है।

इस प्रकार भारतीय अद्वैतवाद और फारसी रहस्यवाद के सुन्दर समन्वय से उद्भूत जायसी का रहस्यवाद उनके आध्यात्मिक चितन का परिणाम है। जायसी ने अपने पद्मावत मे यह सिद्ध कर दिया है कि जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है, इसलिये वह हमेशा अपने मूल उत्स मे मिलने के लिये तडपती रहती है। यही जायसी के विरह संबंधी आध्यात्मिक चित्रण का केन्द्र है। विरह के बाद जो मिलन होता है उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये जायसी ने अपने काव्य मे विरह भावना की खुलकर अभिव्यक्ति करके अपने आध्यात्मिक विचारों को सिद्ध किया है।

जायसी के प्रेम की उपासना माधुर्य भाव की है या मादन भाव की ? श्री चन्द्रबलि पाण्डेय के अनुसार–किसी भी सूफी साधक की साधना मधुर रस की साधना के अन्तर्गत नहीं आती। ये सूफीयो की भक्ति भावना को सहज भाव या कात भाव से भिन्न मानते है। माधुर्य भाव और मादन भाव पर विचार करते हुये आचार्य पांडे लिखते है कि "माधुर्य भाव के नामकरण का प्रधान कारण रति भाव के आस्वादन की मधुरता ही है। भारत वर्ष में मनुष्य अपने को रति का अवतार समझता है काम का नहीं। सूफी इस विषय मे हमसे प्रतिकूल है। उनकी भक्ति का आधार मदन व काम है, रति नहीं। काम अमृत है तो रति आनन्द है। और दोनो ही ब्रह्मके दो रूप हैं। माधुर्य भाव में रति काम को चाहती है तो मादन भाव मे काम रति का पीछा करता है। एक मधुर कोमल मन है तो दूसरा उन्मत भीषण और उग्र।"

आचार्य गुलाब राय का भी यही मत है कि–"भारतीय प्रेमभक्ति और सूफी प्रेम मे जो प्रधान अन्तर है, वह माधुर्य और मादन भाव का। यद्यपि दोनो ही भावो के मूल में रति ही विद्यमान है।" भारतीय रमणी प्रियतम के सयोग और वियोग के अभिव्यक्ति मे जो शील और संकोच का अनुभव करती है, जिस मर्यादा का ध्यान रखती है, उस शील, सकोच और मर्यादा का सूफी प्रेम मे अभाव मिलेगा । भारतीय प्रेम भावना माधुर्य भाव की उपासिका है जबकि सूफी प्रणय–मादन भाव का।

किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतीय एव सूफी उपासना पद्धति मे ऐसा कोई अन्तर नहीं देखते। उनका कथन हैं कि सूफी मत की भक्ति का स्वरूप प्राय वही है जो हमारे यहॉ की भक्ति का। श्याम मनोहर पाण्डेय के अनुसार – प्रेम साधना में वासना के लिये कोई स्थान नहीं है इसमे नफ्स पर विजय पाना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण ईरान के फारसी प्रमाख्यानो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। सूफी साधको मे प्रेम के दो स्वरूप होने की बात कही जाती है। एक तो शान्त क्षेत्र रहित रूप है। और दूसरा उन्मत हर्षोन्माद पूर्ण। प्रथम स्वरूप सामान्य एवं विशेष दोनों साधको में पाया जाता है जबकि द्वितीय स्परूप के केवल विशेष प्रकार के साधकों मे ही दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभु तक सीधे पहॅचा देता है यह हषोन्मादपूर्ण प्रेम ही रहस्यकाव्य का जनक है।

जायसी के लिये प्रेम एक कठोर साधना है। जायसी के सबंध में उठाया गया मादन और माधुर्य भाव का प्रश्न किसी दृढ युक्तियों पर आधारित नही है। यदि शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाय तो मादन भाव माधुर्य भाव का एक महत्व पूर्ण अग है तथा इस रूप में जायसी के उद्‌गारो से उसका पर्याप्त समय दुष्टिगोचर होता है। इस प्रकार प्रेम का परिभाषा देना उतना ही कठिन है, जितना कि जीवन की या आत्मा की परिभाषा देना। सम्भवतः इसीलिये देवर्षि नारद और सूफी सन्त सभी ने प्रेम को अनिर्वचनीय माना है। धर्मो मे भी प्रेम को विश्व का सर्वोपरि वस्तु

माना है। जायसी को तीन लोक और चौदह भुवनो मे प्रेम से अधिक सुन्दर और कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता। जायसी की मान्यता है कि साधक और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम के स्वरूपों मे भिन्नता नहीं है। परमात्मा के विरह में केवल मानव को नहीं अपितु समस्त प्रकृति का तडपते हुये चित्रित करना सूफी प्रेमाभिव्यक्ति की विशेषता है। जायसी के प्रेम का वास्तविक रूप आध्यात्मिक है। भाव की दृष्टि से जब हम जायसी के प्रेमाभिव्यक्ति को परखते हैं तो उसमे और भारतीय माधुर्य भाव की भक्ति मे विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके प्रेम संबधी दृष्टिकोण का सार निम्नालिखित नौ शब्दो मे निहित है—

मानुष प्रेम भयउ बैकुण्ठी। नहित काह छार भूरि मूठी।।

सूर :– भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है "मनुष्यो के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमे किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।" श्रीमद्भागवत में भक्ति के तीन स्वरूप मिलते हैं– प्रेम विशुद्ध भक्ति, नवधा भक्ति एवं प्रेमाभक्ति। श्रीमद्भागवत मे विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानों पर हुआ है और उन्होंने भक्ति को योग ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान आदि से भी ऊपर माना है। भागवत मे भक्ति और ज्ञान मे कोई तात्विक भेद नहीं माना गया है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति है। जहॉ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया वहॉ भक्ति का अर्थ साधन भक्ति है जहॉ ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है वहॉ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परम ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है। गीता की निष्कामता भी भक्ति योग के अन्तर्गत है। भागवत महात्म्य मे ज्ञान और बैराग्य को भक्ति का पुत्र बतलाया है। भागवत मे भक्ति के साध्य और साधन दोनो ही पक्षों का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य निरतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है।

साधन रूपा भक्ति को नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादाभक्ति कहते है और साध्य रूपा भक्ति को प्रेमाभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से जाना जाता है। नारदभक्तिसूत्र मे प्रेम रूपा भक्ति के सम्बन्ध मे ग्यारह आसक्तियो का उल्लेख किया गया है।

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ है इस तथ्य को द्योतित करने के लिये सूरदास जी ने एक बडा ही सुन्दर दृष्टात उपस्थित किया है–उनका कथन है कि जिस प्रकार–पतग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दीप्त शिखा से न डरता हुआ उस पर गिर पडता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरूष भी अपने ज्ञान रूपी दीपक से सांसारिक सुख–रूपी कूप को प्रकट देखता हुआ भी उसमें गिर जाता है।

सूरदास भक्त कवि है। भक्ति इनके काव्य का साध्य है । भगवान की रसमयी लीलाओ की आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही सूरदास के काव्य की अन्त–प्रकृति की विशेषता है। भक्ति स्वत. ही पूर्ण है। वह कर्म ज्ञान आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नही रखती। प्रेम के शाश्वत बन्धन द्वारा भक्त, आदि से अंत तक निज व्यक्तित्व को स्वतंत्र बनाये रखता है। अर्थात वह एकात्म की कल्पना से दूर रहकर अपने प्रेमी के प्रेम में निमग्न रहने को ही जीवन की सार्थकता मानता है। सूर की भक्ति मूलत प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्ति पॉच प्रकार की होती है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। सच्ची–भक्ति भावना का उदय होने पर भक्त सम्पूर्ण कामनाओ, पूजाओ, ज्ञान और कर्म को त्याग कर श्री कृष्ण मे अनुरक्त हो जाता है।

भक्ति की पूर्णता के लिये किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। भक्ति मार्ग में भक्त का कर्तव्य भगवान का श्रवण एवं कीर्तन ही एक मात्र है। इस प्रकार सूर की भक्ति भावना दास्य, शक्ति, आत्म निवदेन की वैधी भक्ति से दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की रागानुगा भक्ति के विविध सोपानो को पार करती हुई प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था मे पहुंची है। उसमे भक्ति भावना के सभी रूप है। उसमे नारद भक्ति सूत्र की ग्यारहो प्रकार की आसक्तियों का क्रमिक विकास है। सूरदास के कृष्ण बचपन से ही वात्सल्य संख्य और माधुर्य–तीनों भावो के आलम्बन बन गये हैं। इसलिये सूर के काव्य मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनों भावो की प्रधानता है।

कृष्ण भक्ति साहित्य का केन्द्रीय भाव प्रेम ही है। लेकिन कृष्ण भक्त कवियो के प्रेम–निरूपण मे सूफी–कवियो की सी प्रेम–विवशता दृष्टिगत नही होती। प्रेम की प्रतिष्ठा करना तथा संसार चक्र के परिचालन मे उसके एकान्तिक महत्व का उपादान सूरदास का मुख्य उद्द्देश्य रहा है।[1]

---

1 सूर का श्रृंगार वर्णन– डॉ० रमाशकर तिवारी (द्वितीय भाग) पृष्ठ – 72

प्रेम ईश्वरीय चमत्कार है और दैवीय देन भी। परमात्मा स्वंय प्रेम स्परुप है। अत उस प्रेम स्वरूप भगवान के निकट पहुंचने के लिये मनुष्य को प्रेम की प्रत्येक चीढी पर चढकर अग्रसर होना चाहिये। इसी तत्व को मानकर कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयाय किया है। सूर ने अपनी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के लिये राधा–कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम को आधार बना लिया है। सूर ने प्रेम के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करने के लिये भक्ति शब्द का प्रयोग किया है, जिससे नर–नारी की परस्पर रति भावना द्योतित होती है।

सूरदास ने प्रेम, प्रीति और अनुराग शब्दो को समानार्थक माना है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि मे प्रेम और काम में कोई अन्तर नही है। सखी राधा से कृष्ण को सब कुछ समर्पित करने का उपदेश देती है। काम और प्रेम मे कोई तात्विक भेद नही है। काम रूप–दर्शन से होता है। जिसका सबध शरीर से है, जबकि प्रेम एक मानसिक वृत्ति का रूप धारण करता है। सूर का मत है कि प्रेम का महत्व वही जान सकता है जिसे उसकी आस्वादता का अनुभव हुआ है –

प्रेम क्या सो पै जाने, जापै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै, बूझि देखियै लोई।।

सूर के भक्ति भावना में प्रेम के विविध रूपो की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। जैसे –दैन्य भक्ति, वात्सलय प्रेम, सख्य प्रेम एवं माधुर्य प्रेम। प्रारम्भ में सूर ने विनय भाव की भक्ति की है भक्ति को साध्य मानते हुये वे कहते हैं कि इसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इति श्री है। हरि का भक्त स्वंय हरि स्वरूप हो जाता है –

हरि के जन सब ते अधिकरी।[1]

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है, उसे फिर किस बात की कमी? भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति–पॉति की परिधि से बॅधा नही है। बड़े–बडे महाराज ऋृषिराज और मुनिराज भी हरि–भक्ति के समक्ष सिर झुकाकर वन्दन करते हैं और उसके तेज से लज्जित होते है–

हरि के जन की अति ठकुराई।

1 सूरसागर (ना प्र स) पद, 55

महाराज रिषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।।[1]

सूरदास जी बल्लभाचार्य से मिलने के बाद पुष्टि–सम्प्रदाय मे दीक्षित हुये तो उनकी भक्ति का आदर्श की बदल गया था तथा मायामय मिथ्या संसार के प्रति विराग उनकी भक्ति का आधार नही रहा गया था। उन्होंने ऐसी सहज भक्ति–धर्म का निरूपण किया। जिसका आधार कृष्ण की रूप–माधुरी और लीलायें हैं इसलिये वहॉ निर्गुण पथ के प्रति स्पष्ट विरोध है। सूरदास जी यद्धपि भक्ति के साध्य रूप को ही महत्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्य–रूपा भक्ति का आधार है फिर भी स्थान–स्थान पर हमे सूरसागर में वैधी भक्ति के उदाहरण मिल जाते है। गोपियो को प्रेमाभक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया है।

सूरदास ने साधन रूप में ही नवधा भक्ति को कहकर इसी प्रेमा–भक्ति की ओर सकेत किया है। मन से सम्बद्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहुॅचती है और ये ही प्रेमाभक्ति के मूल तत्व है जब कृष्ण के प्रति भक्ति का चिद्‌विषयक रतिभाव सान्द्र हो जाता है तब उसे प्रेम कहते है। अष्टछाप के कवियों ने प्रेम–पक्ष में सख्य और वात्सल्य भाव को ही विशेष रूप से अपनाया है। सूर मे वात्सल्य भाव की भक्ति भी बडी महत्वपूर्ण है। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरूष होते हुये भी माता का ह्रदय पाया था तो असंगत नही होगा। सूर के भक्ति विवेचन में मधुरा भक्ति पर प्रकाश डालना अनिवार्य है।

माधुर्य भाव की भक्ति शृगार–प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते है, वे सभी मधुरा भक्ति मे आ जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हे ईश्वर से जोड दिया जाता है। लोकपक्ष मे जिसे हम शृंगार कहते है, भक्ति पक्ष में वही मधुररस कहलाता है। इस रस मे औचित्य अनौचित्य का विचार नही होता, तथा स्वकीया ओर परकीया दोनो ही भावों की रति रहती है। यही कारण है कि भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव हम राधा मे देखते है।

---

1 सूरसागर (ना प्र स) पद, 63

आत्मसमर्पण और अनन्य भाव मधुरा भक्ति के लिये आवश्यक है जो सूरदास की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुये है। गोपियों के पूर्वराग की अवस्था में गोपियों ने कुल–मर्यादा का अतिक्रमण किया है तथा संयोगरति की पूर्ण अवस्था मिलन मे दिखाई गयी है। सूर का विरह सयोग से भी अधिक उज्जवल और प्रबल है। मधुराभक्ति की आश्रय स्वरूपा गोपियॉ कृष्ण मे इतनी तल्लीन है कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान–योग साधन उन्हे निरर्थक प्रतीत होते है और वे उनका मजाक उडाती है। सूर की प्रेमाभक्ति मे यह माधुर्य भाव ही निहित है। वे ब्रजधाम के वास को कृष्ण का फल मानते हैं, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को अन्य कुछ प्राप्य नहीं रहता और न ही उसकी अन्य कामना रहती है। इस भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्संग ही है।

सूर का वात्सल्य प्रेम :– प्रेम में आत्मदान और आत्मीयता के सहारे जिस आत्म विभोरावस्था की उपलब्धि होती हैं उसकी पराकाष्ठा वात्सल्य मे प्रकट होती है। बालक माता–पिता की आत्मा का दृश्य रूप ही होता है। पुत्र माता–पिता का आत्मांश होता है। माता–पिता का बालक के प्रति स्नेह दाम्पत्य जीवन का जीवनरस बन जात है। महाकवि भवभूति ने लिखा है कि सन्तान निश्चय ही प्रेम की पराकाष्ठा है और सन्तान मात–पिता के परस्पर प्रेम का प्रधान हेतु भी होता है। बालक की प्रत्येक क्रिया और चेष्ठा से माता–पिता का हृदय आनन्दमग्न होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि माता–पिता का अपनी सन्तान के प्रति एवं वृद्धो का छोटे–छोटे सुन्दर हृष्ट–पुष्ट हॅसमुख बच्चों के प्रति, जो स्नेह होता है, मुख्यतः उसी का वर्णन वात्सलय रस के अन्तर्गत आता है। यह विषय सर्वकालिक एव सार्वजनीन होता है।

सूरदास ने कृष्ण जन्म के पूर्व ही मोह ममता की एक झलक दिखाकर सिद्ध कर दिया कि वात्सल्य का भाव इतना नैसर्गिक है कि वह भावुक और सहृदय माता–पिता के हृदयों में नहीं, वज्र–कठोर और निष्ठुर हृदयों मे भी सुगमता से उमड सकता है इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि बालक अपना ही हो।

कस के कारागार में देवकी का पहला पुत्र जन्मता है। प्रतिज्ञानुसार वासुदेव उसे कंस के पास ले जाते है। भोले–भाले नवजात शिशु को देखकर अन्यायी और अत्याचारी कंस का कठोर हृदय भी इतने वात्सल्य से भर जाता है कि वह वसुदेव को बालक लौटाकर उनके सब अपराध क्षमा कर देता है –

पहिलौ पुत्र देवकी जायौ लै वसुदेव दिखायौ।
बालक देखि कंस हसि दीन्यौ, सब अपराध छमायौ।।[1]

श्री कृष्ण के जन्म पर शिशु रक्षा के लिये देवकी विकल हो जाती है। वसुदेव भी पुत्र की जीवन–रक्षा के लिये चिंतित हो जाते है। वासुदेव बालक कृष्ण को गोकुल ले जाने के लिये तैयार होते है। तब उसकी रक्षा कामना करने वाली माता देवकी शिशु से विछुडने का दुख नही सह पाती। उनके मुख से यह स्वर स्वतः निकल पडता है– हाय ऐसे सुत के विछुडने के दुख से तो यही अच्छा था कि कस विवाह के दिन ही मुझको मार डालता।

वसुदेव जी बालक कृष्ण को गोकुल पहुंचा आते हैं और नन्द–यशोदा बालक कृष्ण को अपना पुत्र स्वीकार करते है। जन्मोत्सव का आनन्द सर्वत्र ब्रज मे छा गया। सभी नवजात शिशु को गोद मे लेने के लिये उत्सुक है। उनकी उत्कंठा का आभास देखिये –

नैंकु गोपालहिं मोकौं दै री !

बालक कृष्ण एक दिन पालने मे पडे है। बालक ने अपने हाथ से पैर का अगूठा मुँह मे डाल लिया है और उसे चूस रहे है। यह दृश्य कितना स्वाभाविक है–

कर पग गहि अंगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनै अकेले हरिष–हरषि अपनैं रंग खेलत।।[2]

इसी प्रकार माता यशोदा की गोंद में बालक कृष्ण किलकारी भरता दिखाई देता है–

हरि किलकत यशुदा की कनियाँ।

---

1 सूरसागर दशय स्कध पद सख्या 63
2 सूरसागर दशम स्कध पद सख्या 63

पुत्र को घुटने चलते देखकर माता को बहुत सन्तोष होता है। जब उसे पैरों चलना सिखाती है। यहाँ सूर का स्वाभाविक चित्रण देखा जा सकता है –

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।

बालक कृष्ण बडा हो गया है–वह अपने माता यशोदा से कहता है कि यदि आप मुझे चदा नहीं दोगी तो मै धरती पर लोटकर अपने वस्त्र गंदे कर लूगा, तेरी गोद मे नही आऊंगा, दूध नही पीऊँगा चोटी नही कराऊँगा। धौस की ये बाते तो साधारण है, सबसे बडी धमकी उसकी यह है कि चदा न मिलने पर मै तेरा पुत्र न रहकर बाबा नंद का पुत्र बन जाऊँगा –

मैया मैं तो चंद खिलौना लैहों।

सब तरह से फुसलाने पर जब बालक कृष्ण नही मानता और चंदा लेने का हठ नही छोडता तब माता एक नया प्रलोभन देती है–

आगैं आउ बात सुन मेरी, बलिदउहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति कहति जसोमति नई दुलहिया दैहौं।।

प्रस्ताव बहुत आकर्षक था बालक कृष्ण ने उसे सुना, क्षणभर विचार किया और तब सहमत होकर बोला –

तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं वियाहन जैहौं।

माता यशोदा ने जल पात्र में बालक को चन्द्रमा की छाया दिखा दी और उसे माता की बात पर विश्वास हो गया। एक दिन कृष्ण ने माता से गाय चराने की आज्ञा मॉगी । माता ने इसका विरोध किया। कृष्ण मॉ से बताते है कि मै बडा हो गया हूँ फिर मेरे जब सभी साथी–रैता, पैता मनसुखा आदि जब गाय चराने जाते है तो मै क्यूं पीछे रहूँ –

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौ, बड़ौ भयो न डरैहौ ।।

यहॉ पर कृष्ण श्रीदामा के खेल–खेल मे जीत–हार का स्वाभाविक चित्रण देखा जा सकता है –

खेलत में को काको गुसैयाँ?
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ?

हर बार झगडा करने वाले से कोई कहॉ तक दबे इसलिये सब सखा श्रीदामा की तरफ हो गये और उन्होंने साफ–साफ कह दिया कि बडे होगे तो अपने घर के होगे, हम किसी के दवैल थोडे ही हैं। बालक कृष्ण साफ–साफ माता से कहता है– बलराम पर हमें ज्यादा ही क्रोध आ रहा है क्योकि वे अपने होकर चिढाते हैं :–

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसौं कहत मोल को लीन्हों तू जसुमति कब जायो।

इस प्रकार सूर का वात्सलय वर्णन नितांत सहज और स्वाभाविक है। यहॉ पर सूरदास ने माता यशोदा की जगह अपने आपको रखकर बालक कृष्ण से प्रेम किया है यह सूर का वात्सलय प्रेम ही है जो माता यशोदा की जगह कृष्ण के प्रति छलक पडता है। एव बाल–चित्रण को देखकर प्रेम मे आनन्द विभोर होता है।

यहॉ पर सूर ने बाल–मनोविज्ञान का परिचय देने में सफलता पायी है। वात्सलय वर्णन में तो तुलसी भी सूर के सामने नही ठहरते। क्योकि तुलसी की भक्ति मे दैन्य भाव की प्रधानता है। वात्सल्य प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर से छोटी से छोटी बात भी नहीं छूटी हैं क्योंकि कवि जानता है कि पुत्र की छोटी बातें भी माता–पिता का मन मुग्ध कर लेती है।

सूर ने वात्सल्य प्रेम का सबसे सरल, स्वाभाविक और ऐसा पूर्ण चित्रण किया है कि माता यशोदा के मातृ–स्नेह का वात्सल्य पूर्ण – सूक्ष्म वर्णन सह्रदय पाठक को मंत्र मुग्ध कर लेता है। वस्तुत वात्सलय वर्णन में सूर विश्व कवियों मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते है।

सख्य प्रेम :– मानव जीवन के विकास क्रम में वात्सल्य के बाद दूसरा रूप सख्य मे प्रकट होता है। बंधुत्व, मित्रता और सह्रदयता आदि सख्य के ही विभिन्न पक्ष हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य भाव की भक्ति का बडा महत्व है। अष्टछाप के आठों कवियों ने भी सख्य भाव को ही अपनाया था।

सूरदास की सखा भाव की यह विशेषता है कि उसमे एक ओर तो मनोवैज्ञानिक रूप से मानवीय संबंधो का निर्वाह किया गया है और दूसरी ओर भक्ति भाव की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी की गयी है।

सूरसागर के गोचारण–प्रसंग मे सख्यभाव की अभिव्यंजना हुई है। कृष्ण वाल्यावस्था को पार कर किशोरावस्था प्राप्त करते हैं। वे रैता, पैता मनसुखा और हलधर के साथ जाना चाहते हैं लेकिन यशोदा उन्हें मना कर देती है किन्तु बलराम के संरक्षण मे कृष्ण गोचारण मे जाते है गोचारण में कृष्ण का गोपाल रूप अत्यन्त आकर्षक है। कृष्ण के घर से छाछ आने पर कृष्ण गिरिश्रृंग पर चढ़कर श्रीदामा आदि को बुलाते है और सभी गोप बालक एक साथ प्रेम से भोजन करते है यह है– सख्य का उत्कर्ष जहॉ श्री कृष्ण ग्वाल संखाओ से सहजीवन और समानता का व्यवहार करते है सखाओ मे क्रीडा के समय संख्य और समानता का भाव व्यक्त हुआ है जब खेलने मे कृष्ण एक बालक से हार जाते हैं तो उस पर अपने बडप्पन का रोब जमाना चाहते है। इससे सखाओं में क्षोभ उत्पन्न होता है। क्रीडा में हार जाने के पश्चात कृष्ण जब बुरा मान जाते है तो श्रीदामा क्षुब्ध होकर कहते है :–

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्री दामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।।
जांति–पांति हमते बड़ नाही, नाहीं बसत तुम्हारी छैयॉ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातें अधिक तुम्हारे गैयां
× × × × × × × ×
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउं दियौ करि नंद दुहैयां

सूरसागर में बाल लीलायें, गोचारण लीलाये और सुदामा दारिद्रय विदारण, ये तीनों स्थल संख्य भक्ति के है। ये समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास पात्र है, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते है और उनके सभी रहस्यों को जानते है ये समवयस्क सखा ही भगवान के भक्त है। इनकी सयोग और वियोग दोनो ही अवस्थाओ का वर्णन कवि ने किया है। इस सखाभाव मे सूरदास ने कहीं–कहीं भक्ति–भाव दिखाया है। कृष्ण के संख्य भाव की सबसे बडी विशेषता उसमें स्वाभाविकता का समावेश है, जिसके दर्शन हमे कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते है कलीय–दामन लीला, गोवर्धन–लीला, माखन–लीला आदि

सभी स्थलों पर सूर के सखा, कृष्ण के अलौकिकत्व को भूले हुये है। दीन लीला मे उन्होंने अपने कुछ सखाओ को साथ लिया है इससे स्पष्ट है कि वे अपनी रास लीलाओं में भी सखाओ का परामर्श लेते थे। राधा और कृष्ण की गोपनीय लालाओं से भी ये सखा अनभिज्ञ नहीं थे। स्वय राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत करते हुये कहा है, "तुम मुझे सखाओ मे लज्जा' से क्यों मारे डालते हो? गोप–सखा मुरली की ध्वनि सुनने के लिये लालायित हो उठते है।–

"छबीले मुरली नैकु बजाउ।" इस प्रकार कृष्ण गोपालो का मनोरंजन भी करते हैं।"

जहॉ गोचारण मे समता का भाव है वहॉ सखाओं मे सख्य एव अटूट–प्रगाढ प्रेम है। जहॉ उनका अलौकिक कर्म से सम्पन्न रक्षक रूप है वहॉ सखाओं मे विनय की भावना दिखाई पडती है। सूरदास यह कहते रखते है कि उनके कृष्ण ब्रजवासी गोपाल होकर भी परम ब्रह्महै, इसलिये प्रत्येक प्रेममयी लीला में कृष्ण का दिव्य स्वरूप भी प्रकट होता है। संयोग मे ही नहीं, वियोग मे – कृष्ण के ब्रज से चले जाने पर और राजा हो जाने पर भी सूर ने संख्य भाव को बनाये रखा है। बाल्यकाल के सहचर अपनी मित्रता के मार्ग में पद अथवा स्थान के व्यवधान को उत्पन्न ही नहीं होने देते। कृष्ण के समवयस्क उन्हें सखा ही मानते है, भले ही वे आज महाराज हो गये हो पर उनके लिये तो यशोदानन्दन, ब्रज मोहन, माखन चोर, मुरलीधर श्याम ही हैं।

संयोग प्रेम :– काव्य शास्त्र में जिसे शृंगार रस कहा जाता है, वही भक्ति शास्त्र में मधुर रस या उज्जवल रस कहा जाता है। माधुर्य भाव दाम्पत्य प्रेम का ही दूसरा रूप है। दोनों मे भेद आलम्बन का ही होता है। मानव जीवन का रति भाव ही अपने विशष्ट रूप में माधुर्य भाव बन जाता है। भक्त कवि सूरदास के काव्य में रतिभाव और माधुर्य भाव का ऐसा समन्वित रूप है कि दोनो अभिन्न बन गये हैं। लोक में जो कुछ भी उज्जवल और उदात्त है वह सब रति का विषय है। रति सभी मानवीय संबंधों का आधार है और इसकी गति लोक जीवन से लेकर दिव्य साधना तक है।

नर–नारी के पूर्ण एकात्म–रागात्मक संयोग की अभिव्यक्ति रति मे होती है। नारी के आत्मसमर्पण तथा पुरूष में आत्मप्रसार से रति की चरम अवस्था सिद्ध होती है

सूर सागर का गोपी कृष्ण प्रेम स्वच्छन्द प्रेम है इसकी सबसे बड़ी विशेषता है सहज–क्रमिक विकास। गोकुल में कृष्ण प्रेम लीला अनेक धाराओ मे प्रवाहित हुई है किन्तु उसमें मुख्य धारा राधा कृष्ण प्रेम की है जिसमें प्रेम की सभी धाराये समाहित हो जाती है। इस प्रकार माधुर्य भाव की भक्ति श्रृंगार प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वस्थ रूप हो सकते हैं वे सभी मधुर भक्ति मे आ जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड दिया जाता है। मधुर भक्ति के सम्बन्ध मे उचित, अनुचित का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते है। लोक पक्ष मे जिसे हम श्रृगार रस कहते है, भक्ति पक्ष मे वही मधुर रस कहलाता है। भक्ति रस मे औचित्य–अनौचित्य का विचार ही नहीं होता। उसमें स्वकीया एवं परकीया दोनो भावो की रति है एवं संयोग और वियोग दोनों पक्ष भी श्रृगार रस की भॉति होते है। इस भक्ति रस में कान्तारूपी प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और संबंधरूपा भी, सूरदास जी की भक्ति भी ऐसी ही है।

कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिये उनकी प्रीति को सूर ने काम रूपा माना। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है यही कारण है कि उनकी भक्ति भावना स्त्री भाव से ओत–प्रोत है, जिसका प्रतिनिधत्व गोपियॉ करती है। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन है कि उनकी काम रूपा प्रीति भी निष्काम है।[1] इसलिये सयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं मे गोपियों का प्रेम एक रूप है। आत्मसमर्पण और अनन्य भाव मधुर भक्ति के लिये आवश्यक है, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रासलीला मे पूर्णता को प्राप्त हुये है। सूर की दान लीला को मधुर – रति की परम–परिणति कहा गया है। अनुराग जब अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है तो वह औचित्य की उपेक्षा कर देता है अनुरागी जन उचित–अनुचित में विवेक नहीं कर पाते। लोक

---

1. सूर और उनका साहित्य – हरबश लाल शर्मा पृष्ठ – 245

सीमा में रहने अथवा उसका उल्लघंन करने में उन्हें कोई अन्तर नहीं दिखता। आलोचक उसके अनौचित्य को सहन नहीं कर सकता और उसे खरी–खोटी सुनाता है, किन्तु जब उसके अनुराग की अतिशयता को देखता है तो मद स्वर में उसके हॉ मे हॉ मिला देता है। अनुराग और निष्ठा की यही विजय हो जाती है।

सूर ने कृष्ण को 'पतित–पावन और अपने आप को सब पतितन को टीकौ' कहा तो महा प्रभु बल्लभ बोले, "सूर ह्वै कै ऐसौ घिघियात काहे को" तभी सूर की दिशा बदल गई भगवान कृष्ण अब सूर के लिये सखा कृष्ण बन बाल कृष्ण बने और बाल होते हुये भी युवा कृष्ण बने और तब का पतित सूर अब रसिक भक्त सूर मे परिवर्तित होता चला गया। सूर के कृष्ण के तीन रूप आये–सखा बाल और बाल होते हुये भी युवा। इस तीसरे रूप में कवि का अनुराग औचित्य की भी सीमा पार कर गया। कृष्ण की तीसरा रूप (युवा–रूप) ही शृंगार के क्षेत्र में मधुर रस के रूप में उत्पन्न हुआ।

सूर के संयोग शृंगार के आलम्बन कृष्ण, राधा और गोपियॉ है। पर गोपियो की अपनी कुछ भी सत्ता नही है। वे तो राधा का ही विकीर्ण रूप है। अतः उनका अपना कोई व्यक्तित्व नही। कभी वे दूती हैं और कभी राधा की सखियॉ। रास, वसन्त, हिडोला, फाग, होली आदि सभी प्रसंगो में राधा और कृष्ण भाग लेते है। यहॉ गोपियो से राधा को कोई ईष्या नहीं। इस युगल मिलन मे उन्हे उतना ही आनन्द मिलता है, जितना राधा को। वे राधा का रूपान्तर जो हुई। ललिता, चन्द्रवली, प्रमदा, शीला आदि सखियों के साथ कृष्ण का बहुनायकत्व सबंध है, पर वे सभी की सभी खण्डिता है–रसिक और सलोने कृष्ण की चातुरी का शिकार। उनमें इतना साहस भी नही कि खण्डिता हो जाने पर मान प्रदर्शन कर सके। यदि मान करती भी है तो अपना मॉथा ही फोडेगी। उन्हें मनायेगा कौन ?

बाल कृष्ण को उन्होंन माखन खिलाया, बाल–युवा कृष्ण से उन्होने प्रेम किया, उसके वियोग में उन्होंने उधौ को खरी–खोटी सुनाई। अंत मे रूक्मिणी के साथ कृष्ण के कुरूक्षेत्र में वापस लौटने पर उनका स्वागत किया पर किसी भी रूप में वे कृष्ण को अपना न सकीं। कृष्ण ने विवाह किया तो राधा से, लीलाओ मे

सोलह हजार गोपियों के बीच केन्द्र थी, तो राधा ही, गोपी–उधो–संवाद के समय श्याम भ्रमर बैठा तो राधा के चरण पर, और अत में द्वारका से लौटकर कृष्ण ने गोपियो मे से एकान्त–मिलन किया तो राधा के साथ। अतः संयोग शृगार के प्रधान आलम्बन कृष्ण और राधा ही है।

कृष्ण और गोपियो की प्रेम लीला मनोभूमि से निकल कर सम्पूर्ण ब्रज–भूमि मे व्याप्त हो गयी है गोपियों मे कृष्ण के दर्शन की उत्सुकता, प्रेम मग्न ह्वदय की अनन्दमयता ओर प्रेमोन्माद की पग–पग पर व्यंजना हुई है। पनघट लीला और दान–लीला में गोपियॉ श्याम–रस मतवाली हैं। श्यामरस प्रेम रस ही है और शृगार रस भी। पनघट लीला एवं दानलीला गोपी कृष्ण की प्रेमलीला के रूप में क्रमशः विकसित हुई है। यहॉ पर गोपी–कृष्ण एवं राधा–कृष्ण के संभोग शृंगार का कुछ चित्रण दृष्टव्य है जो रास लीला, जल क्रिडा, हिंडोला आदि के रूप में परिलक्षित होता है। संयोग वर्णन को दो भागों में बॉटा गया है। प्रथम सामूहिक संयोग–जिसमें संयोग–लीलाये सम्मिलित की गयी हैं। जिनमें राधा के साथ सभी गोपियॉ अथवा राधा को छोडकर सभी गोपियॉ सम्मिलित हैं। द्वितीय राधा–कृष्ण संयोग–जिसमें उन प्रसंगो को गृहीत किया गया–जिनमें केवल राधा तथा कृष्ण के रति–बिहार का वर्णन हुआ है।

माखन लीला :– संयोग शृगार मे सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रजनारियो की कृष्ण विषयक शृंगार–रति का आविर्भाव कब से होता है? ब्रजनारियॉ सभी प्रकार की तरूणियॉ–(विवाहित, अविवाहित पुत्रवती, मुग्धाये एवं प्रौढाये) हैं। काम–बिहार की अनुभूति के लिये ये सभी तरूणियॉ मनसा वाचा और कर्मणा समर्थ है। जहॉ तक कृष्ण का संबंध है, वे तो लीला पुरूषोत्तम हैं और उन्होने सुख भोग के निमित्त ही गोकुल मे जन्म किया है। मैं ब्रज के घर–घर में माखन खाऊगा, मैने सुख के लिये ही गोकुल में जन्म ग्रहण किया है। यशुमति मुझे बाल रूप समझेगी और गोपियों के साथ मिलकर सुख–भोग करूँगा। अतएव बाल–रूप में ही कृष्ण ब्रज–तरूणियों की शृंगार रति के आस्पद बन गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर सृष्टि आनन्द–मग्न होकर कृष्ण के साथ प्रेम–सूत्र मे बॅध गई है। माखन चोरी के

सदर्भ में गोपियो की आसक्ति का रंग प्राय. प्रकट हो जाता है। अन्तर्यामी कृष्ण तरूणि ग्वालिन की आंतरिक अभिलाषा जानकर उसके घर जाते है और चोरी से माखन खाते हैं और उसे अपने 'अनुरूप' से गद्गद् करते है।[1] कभी गोपियॉ ये मानती है कि कृष्ण उनके पति हो जाते । वे भी गोपियों के उर पर नखघात करते है और युवतियॉ रस–बस जाती हैं कभी वे कृष्ण को कठिन कूचों के बीच लगा लेती है और कभी कृष्ण स्वय गोपियो को अपने भुज–पाश में बॉध लेते है, चोली फाड देते हैं और हार तोड देते है। लेकिन यह बात जल्दी पाठक के गले नही उतरेगी कि पॉच वर्ष के कृष्ण यह प्रणय लीला करेंगे। किन्तु कृष्ण गोपियो के साथ छेडखानी करते समय बाहर–वर्ष के किशोर बन जाते हैं तथा माता के सम्मुख आने पर बालक बन जाते हैं। कृष्ण के उस द्वैत रूप का वर्णन देखा जा सकता है–

कान्हहिं बरजति किन नन्द रानी।
तुत जो कहति मेरो कन्हैया, गंगा कैसो पानी।।
बाहिर तरून किसोर वयसवर, बारघाट को दानी।
अचरज महर तुम्हारे आगैं, आबै जीव तुतरानी।।

यह स्पष्ट है कि माखन चोरी की लीलाओं में कृष्ण तथा ब्रज–तरूणियॉ श्रृंगार रति की रज्जु में बंध गये हैं। सूर ने पहले ही कह दिया है कि कृष्ण ने सुख–भोग के निमित ही गोकुल मे जन्म ग्रहण किया है। सूरदास लिखते है–

सब ब्रज बांध्यौ प्रेम की डोरी।
अब तोरत चोली–बन्द डोरि।[2]

इस प्रकार यहा श्रृंगार और वात्सलय दोनों भावों की व्यंजना हुई है।

चीर हरण लीला :– भागवत से लीला गान की मूल–प्रेरणा प्राप्त करने के कारण सूर चीरहरण को गोपी–कृष्ण श्रृंगार की प्रथम सयोग लीला मानते है क्योकि पनघट, रास तथा फाग के प्रकरणो में इस लीला का उल्लेख हुआ है। इस लीला के अन्तर्गत यमुना में स्नान करती युवतियॉ सूर्य से प्रार्थना करती है कि कृष्ण उनके पति हो। अन्तर्यामी कृष्ण उनकी इच्छा जानकर तथा सबका प्रेम देखकर, जल मे

---

1. सूरसागर–पद सख्या 929 (ना0 प्र0 स0–पृष्ठ–429)
2 सूर सागर–पद सं०–945 पृष्ठ–297

ही प्रकट हो जाते हैं और तरुणियो की पीठ स्पर्श करने लगते हैं जिससे उनका व्रत पूर्ण हो जाता है तथा उनके तन की जलन मिट जाती है।[1] अतएव युवतियॉ आनन्दमग्न हो जाती हैं। जल में पीठ स्पर्श वाली घटना चीरहरण लीला की भूमिका के रूप मे नियोजित हुई है।

कृष्ण दूसरे दिन यमुना मे स्नान करती इन तरूणियो का चीरहरण करते है। इन सभी सुन्दरियों के वसन एव आभरण का अपहरण कर, कृष्ण विस्तृत कदम्ब के वृक्ष पर चढ जाते हैं और उसकी शाखाओं, प्रति शाखाओ में बहुरगी साडियों, चुनरियों को जहॉ तहॉ लटका देते हैं। तरूणियॉ शिशिर की शीत में कांप रही है और नाभि–पर्यन्त नीर में खडी होकर नितांत लज्जाग्रस्त हो, कृष्ण का यह अनुरोध सुन रही हैं— कि तुम्हारा ब्रत पूर्ण हो गया है, अब पानी से बाहर निकल कर आओ। मै चोली, चीर, हार सभी दे रहा हूँ। बाहें उठाकर विनय करो, मेरे सामने आ कर सभी शृंगार करो।

गोपियॉ नंगी बाहर निकलने में लज्जा का अनुभव कर रही है। अतः जल मे ही बाहें उठाकर अंग दिखाने का प्रस्ताव वे करती हैं जिस श्याम अस्वीकृत कर देते है। वे आग्रह करते हैं कि गोपयॉ अपने उरोजो को बिना हाथ से छिपाये प्रदर्शित करे। अपनी कामना को फलवती देख तरूणियॉ कृष्ण के आग्रह का पालन करती है तथा अपनी व्रतोपासना का फल प्राप्त करती है –

सूर श्याम पति तुम तै पायौं, यह कहि धरहिं बहोरी।[2]

कृष्ण हंसकर कहते है कि मै तुम लोगो का पति हूँ और तुम सभी हमारी पत्नियॉ हो। तुम्हारे कारण मैने बैकुण्ठ विसार कर व्रज मे यह शरीर धारण किया है। मैं तुमसे कभी अलग नही होता। यहीं कृष्ण ने ब्रज तरूणियो को यह आश्वासन दिया कि वे शरद की रात में रास रचायेगे, उन्हे अपने अंक में भर लेंगे तथा उनकी मनः कामना पूर्ण करेगे।

---

1. सूरसागर – 1386 (पद) – 87 9 (ना प्र स) – पृष्ठ –419
2. सूरसागर – पद 1416

पनघट लीला :– पनघट लीला में लोक प्रणय के तथ्य को देखा जा सकता है। कृष्ण ने इस लीला मे अपने ग्वाल सखाओं को भी सम्मिलित किया है। जबकि चीरहरण और रास मे अकेले है। सूर ने इस प्रकरण में कृष्ण की 'अचगरी' का चित्रण किया हैं गोपियों का जल भरने के लिये तट पर जाना तथा कृष्ण की रूपछवि का उनकी ऑखों मे गड जाना, उनके पीतपट का नीचे फहराना–ये परिस्थितियॉ है जिन्होने पनघट पर जाने वाली ब्रज–बालाओ को कृष्ण की दासी बना दिया है–

परी तब तैं ठगमूरि ठगौरी।
देख्यो मैं जमुना–तट बैठो ढौटा जसुमति कौ री।।

कृष्ण की अचगरी का रूप यह है : कभी वे पनघट पर रोक लेते है, कभी युवतियों का घड़ा पीछे से ढरका देते हैं, कभी जल भरकर आती तरूणी को अचानक अंक में भर लेते हैं[1] और ब्रज–तरूणिया भी निष्क्रिय नही है वह भी कृष्ण के साथ छेडखानी करती हैं तो कृष्ण उन्हें चीरहरण–लीला का स्मरण करा देते है।

बिसरि गई सुधि ता दिन की तोहि हरे सबनि के चीर
यह बानी सुनि ग्वारि विवस भई तन की सुधि विसराई।

पूर्व प्रसंग की याद दिलाकर प्रेमिका को विवश कर देना – यह सूर के प्रेम मनोविज्ञान का असादिग्ध प्रमाण है। पनघट लीला मे कुछ राधा के भी मोहक चित्र सूर ने अंकित किये है। गगरी सर पर रखे जाती हुई राधा–नागरी का ग्रीवा कैसे डोलती है, कैसे वह भौहे हिलाती है तथा कपोलो पर छलक कर पडती बूंदो का चित्रण सूर ने किया है।

सखियन बीच नागरी आवै।
छवि निरखत रीझ्यो नदनन्दन, प्यारी मनहिं रिझावै।।

अनेक तरूणियो ने पनघट की रसीली अनुभूतियों से प्रभावित होकर कुल–लोक लाज इत्यादि की भावनाओं का परित्याग कर देने का सकल्प ले लिया है ओर कृष्ण मे पातिब्रत्य बुद्धि रखने का निश्चय कर लिया है। इस प्रकार पनघट का शृंगार प्रणय लीलाओं के ललित, ह्रदयवर्जक चित्रों से परिणूर्ण हो गया है। इसी

---

1. सूरसागर–पद 2051

तरह दीन–लीला मे कृष्ण गोपियों से अंगदान लेते है। यहॉ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गोपियों का मिलन मानसिक है?

पहले कृष्ण गोपियो का मानसिक मिलन हुआ, उस मानसिक आत्मदान मे गोपियो को यह बिल्कुल भान नहीं था कि वे किस प्रिय से मिली हैं? बाद मे जब प्रिय का प्रकृत ज्ञान हुआ तब उन्होंने। अपने शरीर भी सौप दिये और कृष्ण ने गुप्त रूप से उनके साथरमण किया, और यह प्रक्रिया सगत और स्वाभाविक इसलिये प्रतीत होती हे क्योंकि मन–मिलन की नैसर्गिक परिणति तन–मिलन में ही सम्पन्न होती हैं ।

गुप्त यौवन दान प्रसंग के बाद गोपियो ने प्रेम–पूर्वक कृष्ण तथा उनके सखाओ को जो माखन खिलाया हैं, वह सूर की सबसे महत्वमयी उद्‌भावना है। इस प्रकार सूर ने दानलीला मे प्रीति–भोज की योजना की है। कृष्ण सखाओं सहित पत्तों के दोनों में दही–माखन खा रहे हैं। राधा का माखन तो कृष्ण ने विशिष्ट स्वाद एव आनन्द के साथ खायाा है।

कृष्ण को प्रेमिकाये जब दही–माखन खिला रही हैं तो ऐसा जान पडता है जैसे ये वनितायें हमारे साधारण परिवारो को सुशोभित करने वाली कुलांगनाये हो जिनका प्रणय प्रसंग के बाद पति के स्वास्थ्य सुख की अभिलाषा से भूषित एवं सुरभित हो जाता है। इस प्रकार दान–लीला गोपी–कृष्ण मे प्रेम की प्रौढावस्था का द्योतक है। लीला के आरम्भ में संकोच एव औचित्य की भावना से अधिग्रस्त तरूणियॉ उसके अवसान तक, आत्मदानी पत्नियो के गौरव से मण्डित हो गयी हैं।

रास लीला :– रास लीला का प्रसंग भागवत से ग्रहण किया गया है। यदि चीर हरण गोपी–कृष्ण प्रेम प्रसग में कृष्ण की आक्रामकता तथा गोपियो के वाध्यतापूर्ण समर्पण की कहानी है, तो रास विजित गोपियो की प्रणयदान की आतुरता एव उनकी कठोर परीक्षा का प्रकरण है। 'मुरली' का शब्द सुनते ही गोपियॉ अपने सुत–पति को छोडकर अस्त–व्यस्त अवस्था में कृष्ण– मिलन के लिये दौड पडती हैं, वहॉ पहुॅचने पर कृष्ण उन्हें घर लौट जाने का उपदेश देते है गोपियॉ अत्यन्त

दैन्य भाव से अपनी आसक्ति का निवेदन करती है। तब कृष्ण प्रसन्न होकर रास आरम्भ करते है। इसी उल्लास के सदर्भ मे राधा–कृष्ण का विवाह सम्पन्न होता है। बाद मे गोपियों तथा राधा दोनों को अपने सौभाग्य पर गर्व होता है। जिसके फलस्वरूप कृष्ण अन्तर्धान हो जाते है, जब राधा एवं गोपियॉ विरह से नितांत विह्ववल हो जाती है तब कृष्ण प्रकट होते है एव रास नृत्य दूने उल्लास के साथ फिर आरम्भ हो जाता है। प्रातः काल तक यह लीला चलती है, कृष्ण एव गोपियॉ यमुना मे स्नान करते हैं ओर सभी ब्रज को लौट जाते है।

हिंडोल लीला एवं फाग लीला :– हिडोल एव फाग–लीलाये समष्टि शृंगार के संभोग पक्ष के एकांत आनन्दमय स्वरूप की निदर्शक है। इन लीलाओ मे राधा–कृष्ण गोपियो तथा सम्पूर्ण ब्रजवासियों का सुख सागर एवं व्यापक सर्वनिष्ठ सममतल भूमि पर लहराने लगा है। जहॉ पर संकोच एवं प्रतिबन्ध की छाया तिरोहित हो गयी है। इसके साथ ही प्रकृति की सुषमाये इन क्रीडाओं के रस–प्रवाह मे सहयोग का दान देती हुई चित्रित की गयी हैं। झूलने के अनेक अभिराम चित्र सूर ने इतनी तल्लीनता से अंकित किया है मानो सूर ने स्वय इन आनन्द लीला मे भाग लिया हो वे वर्णन करते हैं कि – शीतल मंद सुगंध पवन बह रहा है जिससे तरूणियों के अंचल उडे जा रहे हैं और नयनो के मिल जाने से वे लजा जाती है कृष्ण झुलते–झूलते उनको कंठ से लगा लेते हैं।

फाग लीला में सभी क्रीडाये एव रंगरेलियॉ हो सकती हैं उन सभी को फाग–लीला में समाविष्ट किया गया है। मोहन, हलधर एवं ग्वाल सखा बनठन कर होली खेल रहे हैं और फेटे मे अबीर की झोली कसे, लाल गुलाल की राशि उडाये जा रहे है। दूसरी ओर ब्रज–बालाओं की टोली राधा के साथ पिचकारियो में रंगभरकर वहॉ पहुच जाती है एव रग डालने के लिये मचे सघर्ष में गोपियॉ कृष्ण की अभिभूत कर देती हैं तथा उनके पीताम्बर एव राधा के नीलाम्बर में गांठ लगा देती हैं और हरि के ऊपर ढेर का ढेर रंगों का घोल उडेलने लगती है। सारे ग्वाल–बाल मिलकर राधा–माधव की जोडी को अलग कर देते है। फाग के इस चित्र मे सयोग के आनन्द पक्ष के ही अधिक दर्शन होते है। होली सभी सुखो की

चरम परिणति हैं। और उसमें हरि के 'अन्तर का अनुराग ही' स्वच्छन्द भाव से प्रकट हुआ है।

राधा–कृष्ण संयोग :– कृष्ण राधा के प्रथम मिलन में एक नाटकीय दृश्य उपस्थित होता है–**'नैन–नैन मिलि परी ठगौरी'** स्नेह बढा। नयनों ही नयनो मे बात हुई। राधा को कृष्ण का निमंत्रण स्वीकार हुआ। राधिका ब्रज में 'फेरा' करने को राजी हो गई। दोनो एक–दूसरे से मिलने के बहाने ढूँढने लगे। उन्हे अब ज्ञात हुआ कि प्रेम का पथ कितना कठिन होता है। राधिका घर जाकर अपनी माता से बोलती है–यदि मुझे वहॉ देर भी हो जाय तो तुम चली मत आना। और जब गायो एव ग्वालों के बीच पहुची तो

देखे जाई जहाँ हरि नाहीं, चकृत भई सुकुमारि।
कबहूँ इत कबहू उत डोलति लागी प्रीति खँभारि।।

इतने में नन्द जी अपने कुमार को लेकर आ पहुंचते हैं । लो वृषभानु की बेटी कृष्ण के साथ खेलो। नागरी राधा को तो यही चाहिये था उसने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया और बोली– **बाँह तुम्हारी नैकु न छॉडो, महर खीझिहैं हमकौं।** इस तरह उनका प्रेम बढता गया और एक दिन तो–**"जबहिं सरोज घर्‌यों श्री फलपर, तब जसुमति गई आई।"** किन्तु तभी कृष्ण ने स्थिति सॅभाल ली। और नागर होने का प्रबल प्रमाण दिया–देखो मॉ इसने मेरी गेद चुरा ली, अब देती नही। राधा बोली –**"काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न देउॅ बताई।"**

कृष्ण और राधा शृगार की नूतन स्थिति को प्राप्त कर रहे थे। अर्थात उन दोनो में सब कुछ नवीन था। आचार्य विश्वनाथ ने भी कहा है कि कामदेव के अकुरित होने को 'श्रृग' कहते है और इस उद्‌भव की उत्पत्ति का कारण शृगार कहलाता है। कृष्ण–राधा इसी अवस्था को प्राप्त कर रहे थे। इसलिये लालसा की उद्यामता मे कोई कमी क्यो हो? कृष्ण को आलिंगन करते समय हार विघ्न बनने लगा तो राधा ने उसे उतार दिया।[1] परस्पर चुबन में उनकी शोभा दर्शनीय थी–

---

1 सूरसागर – 10/686,687 (ना प्र.स)– पृष्ठ स० 401

चुबंत अंग परस्पर जनु जुग, चंद करत हित–चार।

और फिर–'**दसननि बसन चाँपि सु चतुर अति करत रंग विस्तार।**' और तब–'**गुन–सागर अरू रस–सागर मिलि, मानव सुख व्यवहार।**' और अंत मे दोनो के वस्त्र शिथिल थे, वे सम का सुख अनुभव कर रहे थे कभी एक दूसरे के कधे पर हाथ रखकर और कभी एक दूसरे की पीक में अपने कपोल रंगकर मानो वे मदन की ज्वाला फिर 'प्रजारन' करने में लगे थे। ऐसे मे राधिका कृष्ण के पीछे क्यू रहेगी–**अपनी भुजा श्याम भुज ऊपर, श्याम भुजा अपने उर धरिया।** और वे दोनो –

यो लपटाई रहे उर–उर क्यों।
मरकत मनि कंचन में जरिया।।

रति समय मे राधा की शोभा का वर्णन करने मे कवि सूर ने उपमाओं का अत कर दिया है। एक उदाहरण यहॉ द्रष्टव्य है। अति सूक्ष्म कटि, विशद नितंम्ब, भारी पयोधर बाली सुकुमारी राधा जब 'कन्दुक–केलि' करती है तो उसका चचल अचल हट जाता है और फटी कंचुकी ओर सटे कुच दिखाई देने लगते है। और तभी दोनो के मिलाप से ऐसा जान पडता है मानो नव जलद ने विधु को बन्धु बना लिया है। और नभ मे अनियारी कला का उदय हो गया है।

एक दिन राधा की गाय दोहते समय कृष्ण को मजाक सूझा तो एक धार तो दोहनी मे डालने लगे और दूसरी प्यारी के मुख पर। दूध के समान उजली गोरी का मुख दूध से नहा गया। इस प्रकार उनका विनोद चलता रहा। ओर अब अलग होने लगे तो राधिका के पांव अपने घर की ओर चलते ही न थे। मोहन ने उसे मोह लिया था। वह अचेत हो भूमि पर गिर पडी ओर सखियॉ उसे घर लायी। यहॉ सूर के संयोग चित्रो को शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है।

सस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार शृगार रस के दो भेद होते है– सयोग और विप्रलम्भ पं० जगन्नाथ ने सभोग को सयोग नाम दिया है ये। दोनो शब्द परस्पर पर्याय हैं। पं० रामदहिन मिश्र ने सभोग ओर संयोग में एक विभाजन रेखा खींची है–"जहॉ नायक और नायिका को संयोगावस्था में पारस्परिक रति होती है, वहॉ संयोग शृंगार होता है" यहॉ सयोग का अर्थ संभोग सुख की प्राप्ति है, 'जहॉ नायक

और नायिका की सयोगावस्था में पारस्परिक रति होती है, पर संभोग सुख प्राप्त नहीं होता, वहॉ सयोग श्रृगार होता है। ये परिभाषाये देकर उन्होने आलिंगन, चुबन आदि की स्थिति को संभोग श्रृगार के अन्तर्गत माना है और परस्पर अवलोकर आदि की स्थति को संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत और मम्मट ने भी आलिगन अधरपान, परिचुबन आदि के साथ परस्परावलोकर को भी संभोग श्रृंगार का विषय मान लिया है। आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है।

इस दृष्टि सूर के काव्य के उपरोप्त वर्णित सभी चित्र संभोग (अथवा सयोग) श्रृंगार रस के अन्तर्गत आयेगे। यहाँ पर कृष्ण और राधा की रति को देवादि विषया न मानकर कान्त कान्ता–विषया रति मानकर ऐसा कहा गया है। साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार मान अथवा किसी अन्य कारण से उत्पन्न क्रोध और नायक–नायिका के दूर बसे होने पर पारस्परिक रति रहने की अवस्था में तो विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकृत किया ही जाता है। उनके पास–पास एक ही तल्प पर रहने की अवस्था में भी ईर्ष्या आदि के कारण मिलन न हो सकने पर, यह वर्णन विप्रलम्भ श्रृगार के अन्तर्गत आता है। राधा के मान–प्रसग का यहॉ एक दृश्य देखा जा सकता है–

आलिंगन दै अधर दशन खँडि कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सो नासा लै जोरत नैन नैन [illegible]ावत ।
यहि अन्तर प्यारी उर निरख्यो झझकि गई तब न्यारी।।
सूर श्याम मोको निखरावत उर लाये धरि प्यारी।[1]

कृष्ण ने समझाया–अपराध के बिना मान करती हो। अपनी ही छाया मेरे हृदय में देखकर मुझे अपराधी ठहराती हो' पर राधा को विश्वास नही आया। बोली–

मोहि छुवौ जनि दूर रहौ जू।
जाके हृदय लगाई लइ है, ताकि बाँह गहौ जू।[2]

नि संदेह ऐसे उदाहरण विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत मान लिये जायेंगे। पर जिनके अत मे मान शमन के उपरान्त परस्पर मिलन हो जात है, उन्हें संभोग श्रृंगार मानना चाहिये। जैसे :– कृष्ण के अंगों पर राधा ने रति चिन्हों को देखा तो वह

1 सूरसागर (ना प्र स 10/2412–पे0 1015 पद स० (ना प्र. स) पृष्ठ 1016
2 सूरसागर (ना प्र स 10/2412–पे0 1015 पद स० (ना प्र. स) पृष्ठ 1016

मान कर बैठी। कृष्ण सकोच मे वापस चले आये पर उन्हे चैन कहॉ? दूती को भेजना तो व्यर्थ ही गया। फिर अंत में अकुलाकर स्वय क्षमा मागॅने पहुच गये और परस्पर दर्शन होते ही दोनों मुस्करा पडे। इस प्रकार विप्रलम्भ की स्थिति सभोग में परिणत हो गई।

ये चित्र कृष्ण और राधा के एकांतिक मिलन के थे। इसके अतिरिक्त पनघट–लीला, दान–लीला, रास, बसंत, फाल्गुन, होली और जल क्रीडा–सभी मे राधा को केन्द्र बनाया गया है। केवल चीरहरण लीला में राधा को स्थान दिया गया है। इन सभी लीलाओं का चित्रण इससे पहले किया जा चुका है। और रास लीला मे सूर ने कृष्ण और राधा का विवाह रचाकर राधा को स्वीकीया रूप में प्रस्तुत किया है। बसंत, होली, जल, क्रीडा आदि लीलाओ मे राधा–कृष्ण भाग लेते है। और गोपियॉ केवल दर्शन से ही आनन्द लेती है।

इस प्रकार हम देखते है कि संभोग श्रृंगार का वर्णन करने में सूर ने सहज स्वच्छन्दता का ही परिचय दिया है। चाहें गोपियो की सामूहिक लीलायें हो चाहे राधा–रमण का एकांत प्रसंग हो। सूर की लेखनी संकोच करना नही जानती। सुख–विलास के वर्णनो में सूर को सतोष नही होता। सहजानूभूति जहॉ तक पहुच सकती है, वहॉ तक सूर की रस–अन्वेषिणी प्रतिभा पहुंचती है और लीला श्रृंगार की समस्त भावनाओ का अनुसंधान कर उसका मोहक चित्र अंकित करती है। सूर की अपनी आत्मा का दैन्य मानो इस संभोग चित्रणों की रस धारा में बह जाता है और वे कृष्ण की समस्त केलियों के अत्यन्त विश्वस्त एव राधा कृष्ण के अन्तरंग गायक बन जाते हैं।

यहॉ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सूर का यह वर्णन ऐन्द्रिक वासना से परिपूर्ण है? क्या यह घोर श्रृंगारिक काव्य है? क्या इसी काव्य के आधार पर श्रृगारिक कवि न कहकर भक्त कवि कह सकते है? यहॉ पर इसका समाधान करने का प्रयास किया गया है। एक समाधान तो यह है कि कृष्ण और राधिका छोटी आयु के है और गलियो मे खेलने वाले बालक–बालिका है।

खेलन कबहुँ हमारे आवहु, नन्द सदन ब्रजगाँउँ।

राधा तो स्पस्टत. सात बरस की ही बालिका है–

भई बरस सात की, शुभ घरी जात की।[1]

कृष्ण के प्रथम मिलन मे भी राधा को 'दिन थोरी' कहा गया है। चीरहरण की लीला के पश्चात गोपियॉ यशोदा के पास कृष्ण की उद्दण्डता की शिकायत करने चलीं तो यशोदा ने कभी विश्वास नहीं किया कि उसका दस वर्षीय बालक ऐसे कार्य भी कर सकता है। जो बालक यशोदा के लिये अल्प वयस्क है वही राधा ओर गोपियो के लिये युवकवत् व्यवहार करता है। उसकी लीला का सबसे बड़ा यही महात्म्य है। सूर का शुद्धाद्वैती दृष्टिकोण ही इसके लिये उत्तरदायी है।

इस समस्या का दूसरा समाधान यह है कि इन सभी प्रसगो का–चीरहरण, दानलीला, दान पनघट आदि सभी लीलाओ का–सम्बन्ध आध्यात्मिक है। कृष्ण परमब्रह्महै, गोपियॉ जीवात्मा है, मुरली भगवान की 'पुष्टि' है जो मनुष्य को समय–समय पर सचेत करती है, और संसार से सम्बन्ध छुडाकर अपनी ओर आकृष्ट करती है।

पनघट लीला का रहस्य यह है कि गोपियो को–जीवात्माओ को–अन्त में ससार त्यागकर कृष्ण की–परमब्रह्मकी शरण मे जाना पडा। चीरहरण लीला में गोपियो ने जीवात्माओ ने आनन्दभाव से जब अपनी गोप्यतम निधि परम–ब्रह्मको अर्पित कर दी, तभी उन्हें भगवान का नैकट्य प्राप्त हो सका। दान–लीला मे भी यही रूपक है। परम ब्रह्मने गोरस (दही) के ब्याज से गोरस (इन्द्रियों का विषय रस) मॉगा और वह उसे समर्पित कर दिया गया।

इन्द्रिय जन्य वासना को समर्पित करके ही जीव उसमे आत्मसात हो सकता है। रासलीला में 'रास' शब्द का अर्थ है–आनन्दमयी लयावस्था। सूर के इस काव्य की सभी जीवात्माये परमब्रह्ममें लीन होकर आनन्दमयी बन गयी है।

---

1 सूरसागर – पद सं० – 699 पृष्ठ 404,

इसी प्रकार कृष्ण और राधा मे भी आध्यात्मिक सबध है। कृष्ण परम ब्रह्महै राधा उन्ही की प्रकृति या शक्ति है। इधर गोपियॉ जीवात्माओं का प्रतीक हैं। राधा इनकी प्रकृति और ये राधा की विकृति है। यहीं कारण है कि ये परमब्रह्म(कृष्ण) और उसकी शक्ति (राधा) के सयोग होने पर तनिक भी ईर्ष्या नही करती। वरन् आनन्दमयी हो उठती है।

इस प्रकार इस आध्यात्मिक रूप को सभोग–शृंगार का रूप देना भक्त सूर का कार्य नहीं है, कवि सूर का कार्य हैं भक्त सूर के सामने महाप्रभुबल्लभ का आदर्श है, जहॉ वह कृष्ण को बाल और सखा के रूप मे देखते हैं।

कवि सूर के सामने भागवत पुराण, जयदेव और चण्डीदास आदि के काव्यो का आदर्श है। युगल–भक्ति के स्वरूप से भक्त सूर का हृदय प्रभावित हुआ और कवि सूर के कवित्व ने राधा और कृष्ण के मिलन को एक कथा के सूत्र में जोडकर नन्द पत्नी, वृषभानु पत्नी और गोपियों को भी जोड दिया। कवि का सरस हृदय बाल कृष्ण को युवा कृष्ण के रूप में राधा का चुम्बन और आलिंगन करते हुये देखने को मचल उठा। इन मिलन से उधर यदि गोपियॉ प्रसन्न होती हैं तो उन्हीं के अनुकूल इधर सूर का भक्त हृदय भी प्रफुल्लित हो उठता है।

लेकिन आज का पाठक सूर के संयोग चित्रो को सभोग–शृंगार रस के उदाहरण मान लेता है, भक्ति रस के नही किन्तु जब तक एक भक्त हृदय पाठक और एक मर्मज्ञ आलोचक सूर के स्वर में स्वर मिलाकर उन्ही के अनुरूप जब परमब्रह्मऔर प्रकृति के सयोग में पूर्ण विश्वास, श्रद्धा और आस्था रखकर सूर के सयांग चित्रों की परख करता है तो उसे विद्यापति आदि के संयोग चित्रों के समान सभोग शृगार की गंध तक नहीं आती और इसी तथ्य में कृष्ण के प्रति सूर के अनुराग और निष्ठा की विजय निहित है। ऐसी स्थिति में सूर को खरी–खोटी सुनाने का प्रश्न ही नही उपस्थित होता, उन्हें 'महान भावुक भक्त कवि' की पदवि से आभूषित कर दिया जाता है।

सूर का वियोग प्रेम :— वियोग प्रेम का साधना काल है, जिसमें चेतना का प्रसार होता है। व्यक्ति की चेतना लोक मे फैलकर कण—कण से आत्मीय संबध स्थापित करती हुई दिखाई पडती है। विरह में प्रेम राशिभूत होकर प्रगाढ हो जाता है, तथा प्रेमानुभूति की मात्रा और उसकी पीडा बढ जाती है। विरह प्रेम की सात्विक अवस्था है जहॉ प्रेम की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। यहॉ प्रेमी शरीर से विलग होकर भी भावना के स्तर पर सदा सयुक्त रहते है। विरह मे सूर की आत्मा स्वय द्रवित होकर रसमय काव्य बन गई है।

वात्सल्य एवं शृगार सूर के प्रधान विषय रहे है। शृगार के संयोग एव वियोग पक्ष दोनो में ही उत्कृष्टता का पराकाष्ठा है। उनके कृष्ण चरित के निरूपण मे वात्सल्य और संयोग शृंगार वियोग की भूमिका मात्र है। कवि ने वात्सल्य और सयोग—रति के द्वारा कृष्ण को गोपियो के तन—मन मे रमा दिया है, उनसे अभिन्न कर दिया है। गोपियो से ही नही, ब्रज के पशु—पक्षियो से भी, ब्रज के लता—पताओ से भी। जैसे ही सयोग भाव पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वैसे ही वियोग उपस्थित हो जाता है। सूर का वियोग वहॉ से शूरू होता है जब कृष्ण गोकुल से मथुरा चले जाते है अक्रूर उनको लेने आते है, उसी समय से ब्रज मे हलचल मच गयी। यशोदा बार—बार पूछती है —

यशोदा बार—बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौं, चलत गुपालाहिं राखै।।

किन्तु कृष्ण मथुरा चले गये और गोपियों को अत्यन्त विरह दे गये। गोपियॉ मथुरा जा सकती थी लेकिन वे कृष्ण को उस रूप मे नही पाती, जिस रूप में उन्होंने उन्हें गोकुल मे देखा था। फिर प्रेम कितना ही अन्धा अथवा पागल क्यों न हो, वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं गॅवा सकता मान प्रेम का सबसे दृढ आधार है गोपियॉ मथुरा नही जा सकती थी। यही कारण है कि कृष्ण ने कभी भी यह सदेश गोपियों के पास नही भिजवाया कि वे मथुरा आ जॉय। सूर के विरह मे तीन प्रकार के पात्र दिखाई देते हैं। एक है माता—पिता, दूसरे है गोपियॉ एवं तीसरी राधा। माता पिता का विग्रह वात्सल्य विरह है। यशोदा जी कहती है कि कंस उसका सर्वस्व छीन ले, उसे बंदी बना ले, केवल कृष्ण को उसकी ऑखों के आगे खेलने दे।

"वरू ए गोधन हरौ कंस सब मोहि बंदि लै मेलै।"

जब कृष्ण मथुरा जाने को तत्पर हो गये तो यशोदा एक पल के लिये कृष्ण का मुॅख देखना चाहती है।

मोहन नैकु बदन तन हेरौ[1]
राखौ मोहि नात जननी कौ, मदन गोपाल लाल मुख फेरौ।

माता के ध्वस्त हृदय की व्यावहारिक पीडा इन शब्दों में झांक रही है। यशोदा जिस मातृत्वगर्व मे फूली नही समाती थी, उसी मातृत्व गर्व की समाधि स्वंय यशोदा ही बन गयी। क्या यह स्वर उसी यशोदा का है जो कभी कहती थी–

"सूरदास मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।"

यशोदा की अतिम अभिलाषा और लालसा केवल कृष्ण के दर्शन की है। यशोदा ने अत्यन्त विनय और दीनता के साथ देवकी के पास संदेश भिजवाया–

संदेशौ देवकी सौ कहियौ
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।[2]

गोपी विरह :– गोपियों के प्रेम की अवस्था कुछ और ही है। उनके भावों की कोई सीमा नहीं है। गोपियो के विरह की सूर में दो अवस्थाये विशेष उग्र मिलती है–एक प्रतीक्षा की एंव दूसरी निराशा की। उद्धव के ब्रज आगमन से पूर्व तक की अवस्था प्रतीक्षा के विरह की अवस्था है उसके बाद की निराश विरह की। कृष्ण के चले जाने से ब्रज की क्या अवस्था हो गयी है—

कहॉ लौं कहिये ब्रज की बात।
सुनहु श्याम ! तुम बिन उन लोगन, जैसे दिवस विहात।।

गोपियॉ जिधर दृष्टि डालती है उधर ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे विश्वास नही कर सकती कि वियोग मे किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है, तभी वे मधुवन के हरा–भरा देखकर पूछती हैं–

मधुवन तुमकत रहत हरे।
विरह–वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
वह चितवनि तूं मन न धरत है, फिर–फिर पुहुप धरे।

---

1 सूरसागर पद सख्या – 3609 (ना.प्र.स) पृष्ठ सं० 1194
2 सूरसागर (ना प्रा स) पद स० 3794 पृष्ठ स०–1194

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडम्बनापूर्ण उस समय हो जाती है, जब कृष्ण की 'पाती' आती है वह अपने पत्र को पढने के लिय व्यग्र हो जाती है पर यह पाती भी विरह की कॉती बन जाती है। छुरी बन जाती है, दुख का उद्वेग और बढ जाता है और अवस्था यह होती है कि –

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसैं जरैं विलौकैं भीजैं, दुहु भाँति दुख छाती।।

इस प्रकार प्रतीक्षा में दिन बीत रहे थे। प्रतिदिन प्रतीक्षा थी कि कृष्ण आयेंगे किन्तु तभी वर्षा ऋतु आ गई। बादलों को उमडता देख गोपियो के मन में एक हूक उठी, उन्होने कहा –

वरू ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि नँद, नन्दन, गरजि गगन धन छाये।
सूरदास प्रभु रसिक–सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराये।

गोपियों के हृदय टूट रहे है। विरह विषाद की ज्वाला से ब्रज जल रहा है। पशु–पक्षी भी पलायन कर गये है। तभी उद्धव 'कृष्ण की जैसी भूषा' मे गोपियो को समझाने आते है निर्गुण ओर योग का संदेश सुनाने, पर उद्धव का सदेश गोपियो के जले पर नमक छिडक देता है। वे कल्पना भी नहीं कर सकती कि कोई इस विरह में इस प्रकार के संदेश देने की घृष्टता भी कर सकता है। उनकी पीडा कटाक्ष–व्यग–उपहास मे परिणत हो उठती है, वे कहती है–

ऊधौ मन न भये दस–बीस।
एक हुतौ सो गयौ श्याम संग की अनवराधे ईस।

गोपियो को उद्धव के उपदेशों से संतोष नही हो रहा है–**"अखियॉ हरि दर्शन की भूखी"।**

इन गोपियों को ब्रज के कुज अग्निपुंज हो गये है। उनकी शीतलता दाहक हो गयी है। उन गोपियो को लगता है–

वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलिगुंजैं
पवन, पानि घनसार, सँजीवन, दधि–सुत किरन भान भई भूजैं।

गोपियॉ उद्धव से कहती हैं–**"निर्गुन कौन देस कौ वासी"** आगे वे कहती है–**उघौ मन नहिं हाथ हमारे'** राधा का विरह तो यहॉ देखने योग्य है–**अति मलीन वृखभानु कुमारी।**

इस प्रकार गोपियों से सम्मानित और निरादृत होकर उनके प्रेम की गहराई की वियोगानुभूति से प्रभावित होकर उद्धव अपनी ज्ञान–गरिमा खो बैठे। उद्धव ने कृष्ण को ब्रज लौटने की बात कही, पर ब्रज लौटना कहॉ? वे तो मथुरा छोडकर द्वारका चले गये। जो निराशा जन्य विरह उघौ के आगमन से आरम्भ हुआ, उसकी पराकाष्ठा इस संवाद से हुई कि कृष्ण द्वारका चले गये। और भी दूर चले गये। तब गोपियो ने निराश होकर कहा–

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल उहाँ तै सजनी, सुनियत दूरि सिधारै।

इस प्रकार सूर जैसे महाकवि ने अपनी पूरी शक्ति से इस वियोग की प्रत्येक दशा के साथ ह्दय की पीडा का चित्र देना चाहा है। इस प्रकार भ्रमर गीत का मनोवैज्ञानिक पक्ष मानव–मानस के अन्तस्तल की गतिविधि का द्योतक है। मन और बुद्धि का द्वन्द्व शाश्वत है। सूरदास ने मन और बुद्धि के द्वन्द्व में मन या भावना या अनुभूति को ही विशेष महत्व दिया है। जिससे जीवन सृजन शील बनता है। कोरा बुद्धिवाद मानव के लिये घातक है। एक और महत्व पूर्ण विशेषता भ्रमरगीत में यह है कि इसमे प्रेम का सहज चरम विकास दिखाई देता है एव मन का उदात्तीकरण एवं कृष्ण के प्रति समर्पण का भाव दिखाई देता है। कृष्ण के विरह में राधा कृष्ण ही बन गई है राधा का अस्तित्व, उनकी आत्मा कृष्णमय है। लगता है कि यह चिरतन नारीत्व और चिरंजन पुरूषत्व का पूर्ण एकात्म्य है मन, बुद्धि और आत्मा का पूर्ण एकीकरण है।

यह ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं यह भक्ति की चरम दशा है जहॉ भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है। यही प्रेम की अनुभूति की उच्च दशा है जहॉ प्रेमी और प्रेमिका के व्यक्तित्व और अस्तित्व का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। दुनिया के महान साहित्यकारो की रचनाओं मे प्रेम की अनुभूति की इस दशा की बार–बार व्यजना हुई है।

सूर की भावानुभूति की सबसे बडी विशेषता–सम्पूर्ण काव्य में भाव ऐक्य है। सूर ने 'सूरसागर' मे संवेदना के उपादानों को इस प्रतिभा से सुसज्जित और नियोजित किया है कि इसमे प्रत्येक पद की प्रत्येक पक्ति से एक ही भाव प्रकट होता है और वह भाव है– प्रेम। सूर के काव्य मे प्रेम और भक्ति में कोई भेद नही है।

गोस्वामी तुलसीदास :– राम के प्रति तुलसी की भक्ति ही उनका प्रेम है इस प्रेम के वास्तविक रूप को समझने के लिये तुलसी की भक्ति एव दर्शन का विवेचन आवश्यक है।

"तुलसी का युग भक्ति आन्दोलन का युग था। उस युग में हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पडा था।"[1]

तुलसीदास सगुणोपासक राभक्त थे। उन्होने युग धर्म को पहचाना और गुण की आवश्यकता के अनुसार रामभक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। वे व्यक्तिगत मोक्ष के साथ लोककल्याण के भी अभिलाषी थे। उन्होंने अनुभव किया कि लोक कल्याण सग्रह के लिये निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मआवश्यक नही है। विश्व को ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो दीन दुखियो की पुकार सुन सके, तत्काल उनकी रक्षा कर सके।

परिस्थिति के अनुसार आवश्यक था कि जनता को लोकरक्षक–वर्णाश्रम, धर्मपालक धनुर्धर राम की आवश्यकता है जो अधर्म का नाश करके धर्म की प्रतिष्ठा कर सके। अत तुलसी ने मार्यादापुरूषोत्तम राम के प्रति दास्य भक्ति का गौरव–गान किया।

रामचरित मानस मे तुलसी दास ने भक्ति की भूमि निरूपति कर दिया। प्रथम सोपान के अत मे लिखते है –

सिय रघुवीर बिवाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन रामजसु।।[2]

द्वितीय सोपान के अंत मे कहते हैं –

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय–राम पद पेमु, अवसि होइ भव रस विरति।।[3]

तृतीय सोपान के अत मे गोस्वामी जी कहते है –

---

1 राम चन्द्र शुक्ल–गोस्वामी तुलसी दास पृ0 स0 1
2 बालकाण्ड–सो० 361, पृष्ठ–179
3. आयो० सो० – 326 पृष्ठ–317

"रावनारि असु पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग"।।[1]

इस प्रकार तुलसी दास ने 'मानस' में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। वो कहते है कि मनुष्य जितना भी ज्ञान–दीप जला ले लेकिन वह परम प्रकाश नहीं पाता किन्तु रामभक्ति तो परम प्रकाश रूप है उसके लिये न तो दीप की आवश्यकता है और न घृत की ही। वे आगे कहते है –

भक्ति को छोडकर जो लोग ज्ञान का सहारा लेते है वे कामधेनु को छोडकर मदार मे दूध खोजने जाते हैं। भक्ति की विशेषता वह बतलाते हैं –

धर्म ते विरति योग ते गयाना।
ग्यान मोच्छ प्रद वेद बखाना।।
जातें वेगि द्रवउँ में भाई।
सोमम भगति भगत सुखदाई।।
सो संतुत्र अवलम्ब न आना।
जेहि आधीन ग्यान–विज्ञाना।।
भगति तात अनुपम सुख मुला।
मिलइ जो संत होइ अनुकूला।।

इस प्रकार तुलसी दास जी भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते है। यह भक्ति की श्रेष्ठता क्या है? उसका महत्व क्या है? मानस मे प्रारम्भ मे ही उन्होने कहा है –

भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वात्तः स्थमीश्वरम्।।

भक्ति के लिये श्रद्धा की आवश्यकता होती है एवं श्रद्धा का संबध हृदय से होता है। इस प्रकार भक्ति का इतिहास मनुष्य के हृदय का इतिहास है।

जहॉ पूर्व संस्कार से भक्ति का उदय होता है, अन्य बातें तो निमित्त मात्र होती है। अन्य सभी साधन उदीपन मात्र हैं।

---

1 अरण्य काण्ड दोहा–46 (क) पृष्ठ–349

मानव की चेतना में ही व्यक्ति का उदय होता है। मनुष्य में यह चेतना जब तीव्र हो जाती है तो अश, अंशी को ढूँढने लगता है अर्थात अपने मूल को ढूढने लग जाता है। किसी न किसी दिन वह चेतना अपने मूल की ओर मुडती है परन्तु श्रद्धा के बिना यह सम्भव नहीं है। श्रद्धा क्या है? श्रद्धा का तात्पर्य है जहाँ "हृदय को उठाकर रख दिया जाय"। श्रद्धा मे तर्क का कोई स्थान नहीं होता। श्रद्धा स्थित्यात्मक रूप है और विश्वास 'डायनिमिक' या 'गत्यात्मक'। जब श्रद्धा होती है तो विश्वास का प्रादुर्भाव होता है। हृदय उसको चलाने लगता है। श्रद्धा विश्वास रूप में चलने लग जाती है और वही भक्ति का उदय होने लगता है।

मानव जीवन मे ही इष्ट का प्रश्न आता है और यह प्रश्न श्रद्धा से आता है। श्रद्धा के कारण ही हम अपने मूल की ओर बढ जाते है। यह मूल ही वस्तुत. सारी भक्ति का कारण है।

भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ इसलिये माना गया है क्योंकि भक्ति भाव पर अवलम्बित है और भाव की यह विशेषता है कि उसमे स्थायित्व होता है। इसमें प्रभु स्मरण बराबर होता रहता है। इसी भाव को "अनपायनी भक्ति" कहते हैं। इसका क्षय कभी नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि भक्ति का स्वरूप प्रेम है जैसा कि नारद के भक्ति सूत्र मे वर्णित है। प्रभु के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है शाडिल्य में भी ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहा गया है।

भक्त भगवानमय हो जाय यही भाव ही भक्ति है भारतीय चिंतन में भक्ति का व्यवहारिक पक्ष अधिक निरूपति हुआ है –

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मतें इहै भगति की रीति।।

प्रस्तुत पक्तियों में भक्ति का निरूपण करते हुये तुलसी ने दो महत्वपूर्ण बातों पर जोर दिया है–एक तो राग विषय, दूसरे नीति–पालन। संसार के लौकिक पदार्थों के प्रति रहने वाली आसक्ति को राग कहते है।

नीतिपालन का अभिप्राय है–नैतिक मान्यताओं, परम्परागत मूल्यो का पालन। नैतिक नियमो का पालन भक्ति के उदय मे साधक होता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भक्ति वस्तुत ईश्वर विषयक प्रेम है।

तुलसी ने भक्ति के लिये प्रेम, प्रीति, रति स्नेह, अनुरागादि शब्दों का प्रयोग किया है। जब इन शब्दों को आराध्य के प्रति जोड दिया जाता है तो वह भक्ति का रूप धारण कर लेता है। राम की भक्ति के विषय मे कवि ने प्रेम के अतिरेक को आवश्यक माना है–

कामहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोंहि राम।

भक्ति विषयक प्रेम के अतिरेक को व्यक्त करने के लिये कवि ने लौकिक उपमानो का आश्रय ग्रहण किया है। उपमानों की सार्थकता देखते ही बनती है। प्रेम का यह परम पवित्र क्षेत्र सात्विकता अवलम्बित है।

तुलसी दास जी कहते है कि राम की कृपा से भक्त के हृदय मे भक्ति अपने आप उदित हो जाती है। गोस्वामी श्री लक्ष्मण की प्रार्थना पर राम के मुख से कहलाते है।

भगति कि साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।।
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति। निज–निज धर्म निरत श्रुति रीती
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माहीं।
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा
गुरू पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोंहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गद्गद गिरा नयन बह नीरा।।
काम आदि मद दंभन जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके।।
वचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा विश्राम।

तुलसी दास जी ने नवधा भक्ति का भी उल्लेख मानस मे किया है–नवधा भक्ति 'भागवत' मे इस प्रकार बतायी गयी है —

श्रवणं कीर्तन विष्णों : स्मरणं पादसेवनम
अर्चनं वंदनं, दास्यं, संख्यं आत्मनिवेदनम्

तुलसी दास जी की अपनी प्रतिभा ही कही जायेगी कि उन्होंने परम्परागत नवधा भक्ति को एक नया रूप दिया। श्री रामचन्द्र जी के मुख से उन्होंने उत्तर काण्ड में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार करवाया है–

नवधा भक्ति कहऊं तोहिं पाहीं। सावधान सुनु धरू मन माहीं।
प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरू पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान
चौथि भगति मम गुनगुन, करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम–दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातवं सम मोहिमय जग देखा। मोंते सन्त अधिक करि लेखा।।
आठवं जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।।[1]

इस प्रकार तुलसी दास जी ने अपने ढग से भक्ति का वर्णन किया है। अहैतुकी भक्ति का वर्णन शिव जी ने उमा से किया है –

उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम।
रामकृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम।।

राम की कृपा केवल निष्काम प्रेम से प्राप्त होती है। प्रेमा भक्ति के बिना भीतर के मल साफ नही हो सकते हैं तुलसी दास जी कहते हैं कि हमें एक को पकडकर भक्ति करनी चाहिये। भक्ति में अनन्यता होनी चाहिये।

इस प्रकार मध्य युग में भक्ति की अनेक धारायें प्रवाहित होकर जन–मन की कलान्ति को नष्ट कर शान्ति मे अवगाहन करा रही थीं, उनमें सबसे पवित्र और गभीर प्रवाह तुलसी का था। उनके आराध्य राम ब्रह्मके अवतार थे। उन्होने राम के लोक सग्रह और जन–मन विधायन के लिये शील, शक्ति और सौन्दर्य समन्वित घनश्याम राम के रूप मे अवतरित ब्रह्मके चरणारबिन्द मे चातक की भॉति अपने हृदय को पूर्ण रूपेण समर्पित कर दिया था–

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसी दास।।

1. रामचरित मानस– अरण्य काण्ड दो० सं–356 5

जिस प्रकार चातक का आराध्य घनश्याम जगत को जीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार राम त्रस्त एवं पीडित जन के कष्टों को नष्ट कर देते है। उनका दिव्य सौन्दर्य जन मानस को आकृष्ट करता है। उनका अनन्त शील हृदय को आहलादित करता है और उनकी शक्ति हृदय को विश्वास से पूर्ण कर देती है। इसलिये तुलसी ने आराध्य के रूप मे राम का वरण किया।

सेवक के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने वाले, संकट के क्षणों में शरणागत की चिता करने वाले, अपनों गुणगान से संकुचित तथा भक्त के गुणगान के समय प्रसन्न रहने वाले राम के प्रति अनन्य भक्तियुक्त होना तुलसी के लिये अत्यन्त स्वाभाविक था।

कवि को केवल राम भक्ति की अपेक्षा है। उसके अतिरिक्त कोई और कामना नही है। भक्त के लिये भक्ति का आनन्द ही उसका परम फल है। भरत के माध्यम से तुलसी स्वंय कहते है।

अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहऊं निरबान।
जनम–जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।।[1]

भक्त का एक मात्र साध्य और प्रयोजन आराध्य की भक्ति ही है। श्री राम के प्रति भक्ति की प्रीति में एकनिष्ठता होनी चाहिये। तुलसी का भक्तिमार्ग श्रुति सम्मत है।

तुलसी ने इन वेद–पुराण सम्बन्धी अभिमतों के विवाद में पडने के स्थान पर श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ का मार्ग ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजूत बिरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ।।

तुलसी के आराध्य सगुण राम हैं यद्यपि कहीं–कहीं उन्होंने निराकार राम की भी वन्दना की है, किन्तु उनका मन सर्वाधिक राम के सगुण रूप के वर्णन मे रमा है। तुलसी ने राम को अपना आराध्य चुना इसका कारण यह है कि दानशीलता

1. रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड दो० –'204, पृ० सं– 265

भक्तवत्सलता, कृपालुता आदि गुण तुलसी राम में ही देख रहे थे। राम की दानशीलता का परिचय तब मिलता है, जब वे शत्रु पक्ष के विभीषण को सर्वस्वदान मे देते हैं——

जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथा।
सोइ संपदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।

उपर्युक्त पक्तियो में 'सकुचि दीन्हि' शब्दों के प्रयोग की व्यंजना देखते ही बनती है। जिस सम्पति को रावण ने सिर चढा–चढा कर शिव से प्राप्त किया था और गर्व से फूला नहीं समाता था, उसी सम्पति को श्री राम ने विभीषण को सकोच के साथ दिया।

राम प्रेम ही तुलसी के जीवन का सार है। वे कानो से राम–कथा स्रवण करने, मुख से राम–नाम का जप करने, हृदय में श्रीराम को बसाने, बुद्धि को राम मे रमाने, राम के प्रेम, गति एवं बल को ही जीवन का फल मानते हैं।

वे भवसागर संतरण के लिये दास्य भक्ति को आवश्यक मानते है। दास्य भावना की भक्ति में इष्ट देव की महत्ता, उदारता, कृपालुता शरणागत वत्सलता और अपनी दीनता–हीनता, असर्मथता का सदैव स्मरण रहता है। जिससे कलुषित हृदय प्रक्षालित हो जाता है। मन का पाप मिट जाता है। इसी कारण तुलसी सेवक सेव्य भाव की भक्ति पर जोर देते है–

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामप्रद पंकज अस सिद्धान्त विचरि।।

तुलसी के समस्त ग्रंथों के मूल में भक्ति–भावना ही है किन्तु उनका हृदयोद्गार 'विनयपत्रिका मे व्यक्त हुआ है। उन्होंने अपनी पापों और दोषों को गणनातीत कहा है। अपने पापों को स्वीकार करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं है। भगवान की कृपा मे उन्हे दृढ विश्वास है।

तुलसी आत्मस्वीकृति में अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं। अपनी इस अनुभूति से प्रेरित होकर वे मन को प्रताड़ित करते हुये उसे भक्ति की ओर उन्मुख

कर देते है। वे संसार की नश्वरता, भ्रमात्मकता, क्षणिकता, असत्याता एवं मायाजनित अज्ञान से मन को अवगत कराकर उद्‌बोधन करते है।–

ऐसी मूढ़ता या मन की
परिहरि राम–भगति–सुरसरिता आस करत ओसकन की।
वे आगे कहते हैं–सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो
हरि पद–विमुख लहयौ न काहु सुख, सठ यह समुझि सवेरों।

इस उद्‌बोधन से मन भगवान की ओर अभिमुख होता है मन में आत्मविश्वास और आत्मचितन का भाव उदित होता है। चिन्तन की इस प्रक्रिया से मन में भक्ति विषयक दृढता उत्पन्न होती है।

संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाने के अन्तर भक्त मे आत्म निवेदन की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। भक्त भगवान से अपना अनेक संबंध स्थापित करता है। वह भगवान से किसी भी संबंध को स्वीकार करके चरणो मे स्थान पाने की आकाक्षा व्यक्त करता है। भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये वह विविध उपायों का अवलम्बन ग्रहण करता है।

तुलसी दास जी विनय पत्रिका में कहते है कि यदि भक्त का उद्धार न हुआ तो भगवान का यश क्षीण हो जायेगा

नाहिन नरक परत मोंकहँ डर, जद्धपि हौं अति हारो।
यह बड़ी त्रास दास तुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो।।

तुलसी भगवान की इस निन्दा से दुखी होते है। भक्त का उद्धार न होने पर भगवान की लोक में निंदा होगी। लोक तो यह जानता नही है कि वह कितना बड़ा पापी है। लोक का ध्यान आने पर तुलसी लोक संग्रही राम को अपना पिता स्वीकार कर लेते है पुत्र कैसा भी हो वह पिता के लिये प्रिय होता है। वह अपना अपराध स्वीकार करता है। भगवान भक्त की करूणा से द्रवीभूत हो जाते हैं। कवि का आत्मविश्वास उसे भक्ति की उस उच्चता पर पहुचा देता है जहाँ भक्त को भगवद् साक्षात्कार की अनुभूति होनी लगती है। तुलसी की भक्ति का यह व्यवहारिक रूप है जिसमें वे पूर्ण सफल होकर असीम आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

गोस्वामी जी ने कहा कि साधनों के होते हुये भी भगत्कृपा के अभाव में भक्त की भक्ति निष्फल हो जाती है। कृपा की भक्ति मे आराध्य के उदार स्वभाव की अभिव्यक्ति है।

गोस्वामी जी का यह भी मत है कि ज्ञान के अभाव प्रतीति नहीं हो सकती और प्रतीति के बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति के अभाव मे दृढ भक्ति की कल्पना निराधार है इस स्थिति का विश्लेषण इस प्रकार है।

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जाने बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परीतीति होई नाहिं प्रीति।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई।।

इसी राम कृपा से मनुष्य को मानव शरीर प्राप्त होता है जो भक्ति का अनिवार्य साधन है। भक्त अपने आराध्य के साथ रागात्मक सबध स्थापित करने के ध्येय से तरह–तरह का संबंध बना लेता है। विभिन्न प्रकार के रागात्मक संबंध (जैसे–पिता–पुत्र, गुरू–शिष्य, मित्र, स्वामी–सेवक आदि) भक्त और भगवान के सानिध्य द्वारा भक्ति–भाव दृढ करते हैं। रूपगोस्वामी ने साधनरूपा और साध्यरूपा दो प्रकार की भक्ति मानी है। साधनरूपा भक्ति सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है।

पापो से मुक्ति प्रदान करने वाली कर्तव्य भाव से की गयी भक्ति सात्विकी होती है। तुलसी ने ऐसी भक्ति को स्वीकार किया है। और भौतिक वैभव की प्राप्ति की लालसा से की गयी भक्ति राजसी है। सुग्रीव और विभीषण की भक्ति इसी कोटि में आती है।

दूसरो को पीडित करने के उद्देश्य से की गयी भक्ति तामसी है। रावण द्वारा की गयी शिव–भक्ति इसी कोटि में आती है।

साध्यरूपा भक्ति का उद्देश्य भगवत्व की प्राप्ति है उसका आनन्द ही भक्त का लक्ष्य है। तुलसी ने ऐसी भक्ति की है—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि–सिधि–विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामप्रद बढै अनुदिन अधिकाई।।[1]

भगवान के चरणों में निःस्वार्थ प्रेम की अभिवृद्धि ही तुलसी की कामना है। भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिये तुलसी भगवान की शरण का आश्रय लेते हैं। भगवान की शरण मे जाना ही प्रपत्ति है। तुलसी की भक्ति प्रपत्ति या शरणागति है। यह छ प्रकार की होती है।

अनुकूलस्य विश्वासों प्रातिकूल्यवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वेवरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्यव्यं षड्विधा शरणागतिः

आनुकूलस्य संकल्प :– यह भक्त की वह मनोदशा है जिसमें वह भगवान के सदैव अनुकूल बने रहने का विचार करता है जहॉ भक्त अपने को सभी ओर से खींचकर भगवान के चरणो मे ही केन्द्रित करने का संकल्प लेता है। तुलसी कहते है—

अवलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम–कृपा भव–निसा सिरानी, जागै फिरि न डसैहौं।।

भगवान की भक्ति मे बाधा उत्पन्न करने वाले अथवा उसके प्रतिकूल प्रेरित करने वाले व्यक्तियों भावों विचारों और प्राणियों के सर्वथा विमुख रहना और भगवान मे विश्वास रखना प्रपत्ति का दूसरा रूप है। यथा—

जके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्धार्य परम सनेही।

रक्षिष्यतीति विश्वास :– भक्त को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि भगवान ही उसके रक्षक है। तुलसी को भी राम के प्रति ऐसा ही दृढ विश्वास है।

गेप्तृत्वरण :– भगवान को रक्षक के रूप में प्राप्त करने की भक्त कल्पना ही नहीं करता अपितु उन्हें रक्षक रूप में भी वरण कर लेता हैं।

1. विनय पत्रिका–पद स0–103

आत्मनिक्षेप :– स्वयं को भगवान को समर्पित करके भक्त सभी चिंताओं से मुकत हो जाता है

कार्पव्य :– भक्त स्वय को अत्यन्त दीन–हीन समहाकर जो आत्मनिवेदन करता है, उसे कार्पव्य कहते है। यथा–

माधव मो समान जग माहीं।
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषयकोउ नाहीं।।

तुलसी की भक्ति प्रापत्ति से पूर्ण है। दास्य भाव की भक्मि ही प्रपत्ति है। भक्ति का यह रूप विनय एवं आत्मयनिवेदन से युक्त रहता है।

विनय की सात भूमिकाये मानी गयी है। यथा–दीनता, मामर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना आस्वासन मनोराज्य और विचारण। दीनता और कार्पव्य दोनो एक ही भाव है। तुलसी ने 'विनय पत्रिका' मे अपने दोषो की स्वीकृति के साथ अपने दैन्य को व्यक्त करके अपने अन्त करण की पवित्रतता का परिचय दिया है। यथा–

दीन, सब अँगहीन, छीन मलीन अघी अघाइ
नाम दौ भरे, उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ।

मानमर्षता :– दोहाभिमान का सर्वथा त्याग करके अत्यन्त विनम्रभाव से भगवान के समक्षनत होना मानमर्षता कहा जाता है।

भयदर्शना:– माया के भयंकर सांसारिक परिणामो से भयभीत करने पर भी जब मन संसार से उदासीन नही होता, तब भक्त उसकी भर्त्सना करता है।

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि–पद विमुख लह्यों न काहु सुख सठ!
यह समुझ सवेरो।

आश्वासन :– सांसारिक भयंकरता से भयभीत तथा भर्त्सना से त्रस्त मन को भक्त भगवान की कृपालुता एव शरणागत–वत्सलता के प्रति विश्वास दिलाता है।

मनोराज्य :– भगवदकृपा से आश्वस्त होकर भक्त भगवान अपनी पूर्ति के लिये निवेदन करता है, वह कहता है–

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत स्वभाव गहौंगों।

विचारणा :– भक्ति का अंतिम लक्ष्य आत्मा–परमात्मा, जीव–जगत की वास्तविकता का ज्ञान और उसका चितन है। 'विनय पत्रिका' मे तुलसी दास जी कहते है–

केशव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये

भक्ति के जितने भी प्रकार बताये गये है। या वर्गीकरण किये गये हैं उनमे नवधा भक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भागवत मे इस भक्ति का उल्लेख है। तुलसी ने इस नवधा का विवेचन विभिन्न प्रसंगो में किया है–

जिन्ह हरि कथा [illegible]नीना।हिं करना ।
श्रवन रन्ध्र अहिं भवन समाना।

कीर्तन के अन्तर्गत कहा गया है कि–**जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।** स्मरण के अन्तर्गत कहा है कि–**सुमिरति श्री रघुबीर की बाहैं।** पादसेवन का उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है–

अरथ न धरम न काम रूचि, गति न चहउँ निर्वान।
जनम–जनम रति राम पद, यह बरदानु न आव ।।

अर्चन के अन्तर्गत कहा है कि–

ऐहि भॉति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि–पुनि मुदित मन मंदिर चली।

वन्दन का अर्थ स्तुति है। तुलसी ने शंकर भगवान की स्तुति की है **'नमामी शमीशानं'** ।

दास्य भाव के अन्तर्गत तुलसीदास जी ने कहा है कि–**'अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मौरे।'**

ईश्वर की महिमा को समझकर अभिमान रहित होकर तन मन से अपने कर्मो को श्रद्धा–पूर्वक परमात्मा को समर्पित कर देना 'आत्मनिवेदन' है। **हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी। जद्यपि मृषा सत्य भांसै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।**

इस प्रकार समग्र रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'रामचरित मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में भक्ति का स्वरूप, भक्ति की कोटियॉ एवं भक्ति प्राप्त करने के उपाय का सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक विश्लेषण तुलसी दास ने किया है। भक्तिरत का जैसा पूर्ण परिपाक इनके ग्रंथों मे हुआ है। वह अन्यत्र दुर्लभ है तुलसी को भक्तिरस का आचार्य कहना अधिक संगत है। मोक्ष प्राप्ति के लिये उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनो उपायो की चर्चा की है किन्तु वे प्रेमरूपा भक्ति को श्रेष्ठ मानते है। तुलसी लोकदर्शी थे इसलिये उन्होने ऐसे भक्तिमार्ग की स्थापना की जिससे व्यक्ति के साथ लोक कल्याण की भी भावना अन्तर्निहित है।

तुलसी में प्रेम के विविधरूप :– तुलसी ने लौकिक प्रेम के आधार पर ही राम के प्रति अपने प्रेम को प्रकट किया है। जैसे–**कामिहि नारि पियारि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।। तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।** लेकिन उनका प्रेम हर जगह मर्यादा से बधा हुआ है। तुलसी के प्रेम को निम्नलिखित रूपों में बाटा जा सकता है– वात्सल्य भाव के प्रसंग, सख्य भाव के प्रसंग, दाम्पत्य भाव के प्रसंग, दास्य भाव के प्रसंग।

वात्सल्य प्रेम :– सभी कवियो और आलोचकों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है। कि तुलसी साहित्य में दास्य भाव सर्वोच्च है इसमें वात्सल्य भाव का चित्रण उतना सजीव नही हो पाया है जितना सूर मे। क्योकि बाल–चित्रण मे अलौकिक तत्व का समावेश हो गया है। तुलसी के अनुसार राम–कथा के प्रसिद्ध वक्ता शिव है। और शिव का इष्ट बाल–रूप राम है[1]। दूसरा प्रमुख स्रोत कामभुसुण्डि है राम जहॉ–जहॉ और जब–जब अवतार धारण करते है वहॉ–वहॉ कागभुण्डि जाकर बाल–रूपामृत का पान करते हैं। इस प्रकार कागभुशुडि के भी इष्ट बाल–राम ही हैं। लेकिन प्रश्न ये है कि क्या ये प्रश्न वात्सल्य के अन्तर्गत रखे जा सकते है ? भक्ति के क्षेत्र में वात्सल्य भाव वहॉ माना जाता है जहॉ कोई भक्त इष्ट को अपने पित्र रूप में ग्रहण करता है। यहॉ निश्चित रूप से शिव और कागभुसुण्डि बालक राम को पितावत प्रेम नहीं करते ।

1 बदउ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू–मानस बालकांड – दो0 111/3 पेज न0 71

शिव तो उस बाल–रूप को पूज्य ही समझते है अतः बाल–राम के प्रति दास्य–भाव ही शिव मे मिलता है। यदि साथ कोई प्रेम सम्बद्ध है तो सख्य का। जब काकभुशुण्डि राम के आंगन में पहुचे तो घुटनो से चलते हुये राम उनको पकडने के लिये दौडे तब काकुभुशण्डि भागे, पर राम की भुजा उनको सर्वत्र अपने पास दिखाई दी

जिस प्रकार ब्रहमा कमल नील में होकर विष्णु के उदर मे प्रविष्ट हुये और समस्त ब्रहमाड का विस्तार वहॉ देखा उसी प्रकार कागभुसुण्डि ने राम के उदर मे प्रवेश करके विराट रहस्य के दर्शन किये किन्तु प्रत्येक ब्रहमांड में भी उसने बाल–विनोद ही देखा। इस प्रकार वाल भाव नही, बाल रूप से इष्टवत प्रेम इन दोनो विभूतियों का दिखता है। यह निश्चित रूप से वात्सल्य के अन्तर्गत नही आता

भले ही तुलसी का वात्सल्य सूर के सामने दब जाता हो परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी के वात्सल्य की कोई विशेषता ही नहीं है। तुलसी ने भुसुडि के द्वारा जो राम के बाल रूप का दर्शन कराया है वह किसी सूर से कम नहीं। कहते है–

अरून पानि नख करज मनोहर, बाहु विशाल विभूषन सुंदर।
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारू चिबुक आनन छवि सीवाँ।।

× × ×

पीत झीन झिगुली तम सोही किलकनि चितवनि भावति मोंही।
रूप–शशि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।
मोहि सन करहिं विविध विधि क्रीडा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा।।
किलकत मोहि धरनि जब धावहिं।
चलौं भागि तब पूप देखावहिं।।
आवत निकट हसहिं प्रभु, भाजत रूदन कराहिं
जाउँ समीप गहन पद, फिरि – फिरि चितइ पराहिं[1]

1. उत्तरकाण्ड, दो0–77, पेज न0 510

सूर ने भी कृष्ण के वियोग को लिया है, पर राम के वियोग में माता कौशल्या की जो स्थिति होती है उसके सामने यशोदा की वेदना छूंछी पड़ जाती है। तुलसी का करूण वात्सल्य अपूर्व है और पिता का प्राणलेवा भी। अपना विराट रूप मे राम ने माता कौशल्या को दिखाया है प्रेम में इस विराट तत्व का क्या सहयोग है। यह प्रश्न विचारणीय है?

माताओ को विराट रूप दिखाया गया है पर माताओं को इस रूप की स्मृति अधिक देर तक नही रहती। इसलिये इतना ही निश्चित है कि वात्सल्य में यह विराट भाव बाधक नहीं होता।

इससे एक चीज और प्रतीत होती है निर्गुणत्व से सगुणत्व की ओर बाल भाव पद–विन्यास है। यही कारण है कि विराट की पृष्ठिभूमि पर भक्ति काव्य मे भक्त बालरूप के भव्य चित्र खीचे गये है, से आकर्षित होकर राम की ओर आता है और वहॉ अद्‌भुत तत्व का आश्चर्य मिश्रित परम सुख रूप का दर्शन कर गद्‌गद्‌ हो जाता है। राजा दशरथ पुत्र–जन्म का समाचार पाकर मानों 'ब्रहमानन्द' में समा जाते हैं। उनका मन प्रेम से भर जाता है और शरीर पुलकित हो जाता है। उनके हर्ष का कारण पुत्र जन्म के साथ यह ज्ञान है कि

जाकर नाम सुनत शुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई[1]

इस प्रकार इनके हर्ष में आलैकिकता का प्राधान्य हो जाता है।

तुलसी बालक राम का वर्णन इस प्रकार करते हैं–चारों भाई राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन शील और गुण के धाम है। परन्तु राम सबसे अधिक सुखप्रद हैं राम जो सर्वव्यापक निरंजन, निर्गुण, विनोदरहित, अजन्मा ब्रह्म है वही प्रेम और भक्ति के वश मे माता कौशल्या के गोद शोभित कर रहे है। उनका मन–मोहक रूप करोडो काम देव की शोभा से युक्त है।

राम की बाल–लीला से भी यही प्रतीत होता है कि राम परब्रह्महै।

---

1 मानस–बालकाड दोहा सख्या 201–पेज 109

तुलसी ने एक और घटना का उल्लेख किया है–एक बार माता राम को स्नान कर पालने मे लिटा देती हैं और फिर स्वय स्नान कर इष्टदेव पर नैवेद्य चढाती है। लौटती है तो राम नैवैद्य खा रहे है। दूसरी तरफ पालने में राम सो भी रहे है। दोनों स्थान पर राम को देख वह व्याकुल होती है। राम हॅसकर माता को अद्‌भुत अखण्ड रूप दिखाते है। जिसके एक–एक रोम में करोडों ब्रहमाड लगे हुये है–

देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंण्ड।
रोम–रोम प्रति लागे कोटि–कोटि ब्रहमांड।।[1]

माता हाथ जोडकर कहती है कि प्रभु मुझे आपकी माया कभी न व्यापे। बाल–स्वाभाव का वर्णन तुलसी इस प्रकार करते हैं–

भोजन करत बोल जब राजा, नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौशल्या जब बोलन जाई, ठुमुकि, ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति शिव अंत न पावा, ताहि करे जननि हठि धावा।।
भोजन करत चपल चित, इतु, उत अवसर पाइँ
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपठाइ[2]

इस प्रकार तुलसी की बाल–लीला अलौकिकता से युक्त है। क्योंकि तुलसी राम को केवल बालक न समझकर परमब्रह्मका अवतार समझते हैं। जो लोक के कष्ट को दूर करने के लिये आया है। एक दूसरा दृश्य दृष्टव्य है–राम वन गमन की आज्ञा लेने जाते है पर माता कौशल्या को उनके राज्याभिषेक का ही समाचार ज्ञात था। अत. वे अपने सम्पूर्ण, हर्ष और उत्साह से उनका स्वागत करती हैं–

बार–बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता।
गोंद राखि पुनिः ह्रदय लगाये, स्रवत प्रेम रस पयद सुहाये
प्रेम प्रमोद न कछु कहिं जाई रंक धनद पदवि जनुपाई

तत्पश्चात् राम उन्हें सूचना देते हैं कि उन्हे चौदह वर्ष के लिये वन का राज्य दिया गया है जो सब प्रकार से लाभ– पूर्ण है। राम के इन सरल वाक्यों ने तीर की भॅाति उनके ह्रदय को छेद दिया —

---

1 मानस – बालकाड दोहा सख्या 201–पेज 109
2. बालकाण्ड दो स0 203 पेज न0–109

वचन विनीत मधुर रघुवर के। सर सम लगे मातु उर करके
सहमि सुखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवाल परे पावस पानी।

वर्षा के पानी से जवास जैसे सूख जाता है, मृगी सिह के वर्णन को सुन हतबुद्धि हो जाती है अथवा मछली जिस प्रकार माजा खाकर बदहवास हो जाती है वही दशा माता कौशल्या की हुई। तुलसी का यह वर्णन कितना स्वाभाविक और मार्मिक है।

वात्सल्य के विषय में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुत्र कि प्रेमधारा माता–पिता के हृदय में अतिशय प्रबल है। वात्सल्य भाव का सयोग पक्ष इतना सघन नही है जितना कि वियोग पक्ष। दूसरी बात यह है कि वात्सल्य के साथ दास्य की एक झीनी छाया अवश्य लगी रहती है। दास्य भाव वात्सल्य भाव मे परिणत हुआ है। दास्य की विनय और वात्सल्य की तीव्रता मिलकर एक विशष्ट प्रेम–भाव की सृष्टि करते हैं।

सख्य प्रेम :– तुलसीदास ने संख्य भाव को आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया है। राम के सखा के रूप में विशेष उल्लेख सुग्रीव और विभीषण का है। यद्यपि सुग्रीव और विभीषण ने राम को प्रभु के रूप मे स्वीकार किया है पर राम का उनके प्रति व्यवहार मित्र का सा है। राम ने विभीषण को तो कहीं शरणागत और कहीं मित्र के रूप में स्वीकार किया है। पर सुगीव को मित्र के रूप में ही मान्यता दी है स्वय राम सुग्रीव से प्रथम परिचय पर सुग्रीव का मित्र के लक्षण का वर्णन कर मित्रता निर्वाह का आश्वासन देते हैं।

राम और सुग्रीव की मित्रता का पूरा निर्वाह अत तक होता है। राम बालि की वध करते है। सुग्रीव सीता की खोज से रावण वध तक राम का साथ देता है। अयोध्या में राम के अभिषेक मे सम्मिलित होकर उनसे विदा लेता है।

ऐसे कई अवसर आते है जिससे इनकी मित्रता पर प्रकाश पडता है। विभीषण के राम की शरणागति मे आने पर राम सुग्रीव की प्रतिक्रिया इस प्रकार है–

जानि न जाइ निसाचर माया, काम रूप केहि कारन आया

भेद हमार लेन सठ आवा, राखिऊ बाँधि मोंहि जस भावा।।

पर राम तुरन्त ही उसका समाधान करते है .–

सखा नीति तुम्ह नीकि विचारी, मम पर [illegible] भय हारी।

यही पर राम विभीषण को शरणागत समझ कर स्वीकार करते हैं।

जिस प्रकार तुलसी के वात्सल्य के साथ दास्य सलग्न था उसी प्रकार सख्य भी दास्य से रहित नही है। जिस प्रकार शिव और कागभुसुण्डि राम को बाल रूप के साथ दास्य भाव रखते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव और विभीषण सदैव राम के प्रति दास्य भाव रखते हैं। राम स्वय कुछ भक्तों के प्रति सखा भाव रखते हैं। दास्य का आधिक्य तुलसी मे सख्य भाव को पूर्णत. पनपने नही देता। वात्सल्य भाव तो आदर्श की सीमाओ मे भी विकसित हो सका पर सख्य आदर्श की सीमाओं में बंधा हुआ दिखाई देता है।

भातृ प्रेम :– तुलसी के भातृ–भाव पर भी दास्य भाव हावी होता दिखाई देता है। स्वयं तुलसी ने इस दृश्य का स्पष्ट संकेत किया है। बचपन से ही श्रीराम चन्द्र जी को अपना परम हितैषी स्वामी जानकर लक्ष्मण जी ने उनके चरणों में प्रीति जोडी तथा भरत और शत्रुध्न दोनों भाइयों में स्वामी और सेवक की जिस प्रीति की प्रसंशा है वह दिखाई भी देती है[1]–

राम लक्ष्मण के पास्परिक व्यवहार के दर्शन जनकपुर में होते है। लक्ष्मण के हृदय में नगर–दर्शन की लालसी है, पर राम के भय व मुनि के संकोच के कारण वे कुछ प्रकट नही करते। राम उनके हृदय की बात समझ जाते हैं और गुरू से आज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। यही पर उनकी पारस्परिक अतरगता का परिचय मिलता है।

लक्ष्मण बिना राम की आज्ञा के कुछ नही करते थे। घनुष यज्ञ मे जनक के वचन "वीर विहीन मही मै जानी" पर लक्ष्मण के होठ क्रोधवश हो फड़कने लगते है पर वे राम से आज्ञा लेकर ही गरजते हैं तथा सकेत पाकर पुनः चुप जाते हैं।

---

1 वारेहि ते निज हित पति जानी, लछिमन राम चरन रति मानी
भरत शत्रुध्न दूनउ भाई। प्रभु सेवक जस प्रीति बडाई, मनस, बाल काण्ड दो0 197 चौ0 3 पेज न0 107

इस प्रकार सर्वत्र तुलसी ने लक्ष्मण को आज्ञाकारी सेवक की भाँति ही चित्रित किया है। राम की सेवा का भी उल्लेख है। जनकपुर मे सोने के पूर्व राम लक्ष्मण के चरणो को हृदय से लगाकर भय और प्रेम सहित, परमसुख का अनुभव करते हुये, दबाते है।

बारहिं ते निजहित पति जानी, लछिमन राम चरन रति मानी।
भरत शत्रुघ्न दुनउ भाई, प्रभु सेवक जस प्रीति बढ़ाई।[1]

राम और सीता का स्नेह भी लक्ष्मण के प्रति पुत्रवत रहता है। शक्ति लगने पर राम का लक्ष्मण की चिन्ता मे विलाप करूण है। उनके वचन उनकी हार्दिक पीडा के परिचायक है–

जौ जनतेउं वन बन्धु विछोहूँ, पिता वचन मनतेउं नहि ओहू।[2]
× × ×
जैहउं अवध कौन मुंह लायी, नारि हेतु प्रिय भाइ गवाई।

इस प्रकार राम लक्ष्मण का सम्बन्ध सर्वत्र आदर्श एव मर्यादापूर्ण है। तुलसी ने भरत को भी विशेष स्थान दिया है। भरत का चरित्र राम के प्रति स्नेह के कारण ही विशेष उभरा है, उसी से प्रभावित होकर तुलसी ने उनकी भाव–भीनी अभ्यर्थना की है–

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना, जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।
राम चरन पंकह मन जासू, लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।[3]

भरत की राम की प्रति गंभीर स्नेह–भावना का यथार्थ परिचय वन गमन व दशरथ मरण के पश्चात भरत आगमन और तदुपरान्त प्रसंगों से मिलता है। भरत पिता के बाद बडे भाई को ही अपना रक्षक व अधिकारी समझते हैं। इस तथ्य की अनायास अभिव्यक्ति मर्म स्पर्शी है।

---

1. मानस बाल काण्ड दो० 197 3, पेज न0 107
2. मनस – लंकाकाण्ड – दो0 60/6 (पेज – 429–30)
3 मानस – बालकाण्ड – दो0 सं0 – 16 चौ0 –3 पेज न0 27

सुन सुठि सहमेउ राजकुमारू, पाके छत जनु लाग अंगारू।
धीरज घरि भरि लेहिं उसासा, पापिनी सबहिं भाँति कुल।
जौ वैं कुरूचि रही अति तोही, जनमत काहे न मारे मोंही।

× × ×

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊं, खण्ड–खण्ड होइ ह्रदय न गमऊं
वर माँगत मन भइ नहिं पीरा, गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा।[1]

भरत के चरित में दो तत्व स्थायी रूप से विद्यमान रहते है–एक तो राम के प्रति अगाध अपरमित स्नेह तथा कैकेयी के कार्य के कारण आत्मग्लानि एवं क्षोभ। उन्हे राम और सीता पर तो विश्वास है कि वे कैकेयी की चाल मे भरत का मत नहीं मानेगे पर अन्य किसी पर नहीं। वे चित्रकूट जाते हैं और राम के बहुत समझाने पर उनकी पादुका ले कर वापस आते हैं तथा सर्व सुख त्याग राम की प्रतीक्षा में तपस्वी की भॉति रहते है। अंत में रावण–वध के पश्चात राम के राजयाभिषेक के बाद उनकी सेवा करते हैं। राम के प्रति भरत की इस भावना मे भी दास्य की झलक है जिसका संकेत अनेकत्र मिलता है। कहीं–कही स्पष्ट स्वीकारोक्ति भी है यथा–

अरथ न धरम न काम रूचि, गति न चहउं निरवान।
जनम–जनम रति राम पद, यह वरदानु न आन।[2]

इस प्रकार भातृ–प्रेम मे आदर्श और मर्यादा के कारण दास्य–भाव दिखई देता है। इससे यही प्रतीत होता है कि तुलसी मे दैन्य–प्रेम की भक्ति प्रमुख है।

दास्य प्रेम :– तुलसी साहित्य मे दास्य भाव की भक्ति की सर्वाधिक प्रमुखता है। इसका प्रमुख कारण तुलसी की भावना है। तुलसी अपने को राम का सेवक मानते हैं। दूसरी बात ये है कि तुलसी का इष्ट मर्यादापुरूषोत्तम राम के आदर्श का आदर्श अलौकिक चित्र प्रस्तुत कर भटके व भ्रमित धर्माचार्यो व जननायकों का उचित पथ प्रदर्शन करना था। अत तुलसी ने राम के अलौकिकत्व को अधिक महत्व दिया है। ऐसे अलौकिक रूप के प्रति दास्य भाव ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है। शिव, भुसुण्डि राम के बाल रूप पर अधिक आसक्त होने के बाद भी दास्य भाव रखते

1. करत दण्डवत – दो० 193, अयो० – 260।
2. मानस अयोध्या काण्ड दो0– 204 पे0 265

दिखाई देते है। लक्ष्मण सुग्रीव विभीषण भरत आदि सभी पात्र दास्य भाव से ही राम से प्रेम करते हैं।

इस शीर्षक में उन्ही भक्तों पर विचार किया जायेगा जो राम के प्रति शुद्ध दास्य–भाव रखते है इनमें प्रमुख हैं–हनुमान, अंगद, जाम्बवान जटायू, निषादराज और केवट। ध्यान देने की बात यह है कि इनमे निषाद राज, केवट नीच जाति के प्राणी है पर तुलसी ने इन्हें इसी कारण आदर दिया है। :–

बन्दउं सबके चरन सुहाये, अधम शरीर राम जिन्ह पाये।

शुद्ध दास्य–भाव के पात्रो में हनुमान सर्वोपरि है। यद्यपि राम ने उन्हे कई रूपों मे स्वीकार किया है। कहीं उन्हें "भरत सम प्रिय भाई" कहीं पुत्र, कहीं उपकारी आदि भी माना है। तुलसी ने उन्हें रामदूत या राम के दास के रूप में स्वीकार किया है। हनुमान, राम से प्रथम बार किष्किधा काण्ड में विप्र रूप में मिलते है। प्रभु को पहचान कर अपना वास्तविक रूप प्रकट करते है। राम उन्हे लक्ष्मण से भी अधिक प्रिय मानते हैं और स्पष्ट करते हैं कि उन्हें अपने सेवक मे अनन्यप्रीति अनन्यगति होने के कारण सर्वाधिक प्रिय होते है इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अंत हुनमान राम की सेवा करते है। अनेक बार हनुमान राम को सकटों से बचाते हैं। सीता की खोज, संजीवनी लाकर लक्ष्मण को जीवित रखना, अहिरावण का संहार कर राम–लक्ष्मण की रक्षा, अनेक राक्षसो का वध और लका दहन आदि प्रमुख कार्य हनुमान ने किये। इस प्रकार भक्तो मे हनुमान का स्थान सर्वोच्च है।

मानस में भगवान शकर ने उनकी सेवा प्रेम अनुराग तथा सौभाग्य की प्रशसा की है।[1] तुलसी ने उन्हें पवन और अजनि का पुत्र माना है। वहॉ 'शकर सुवन' भी कहा है तुलसी ने यह उल्लेख भी किया है कि राम से आदर्श प्रेम करने का सौभाग्य प्राप्त करने की इच्छा से स्वंय शंकर ने हनुमान का रूप धारण किया।

माता जानकी ने हनुमान के लिये कहा है–**"अष्टसिद्धि नवनिधि के दाता, अस वर दीन जानकी माता"**

---

1. हनुमान सम नहिं बड भागी, नहि कोउ राम चरन अनुरागी
   गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई, बार–बार प्रभु निज सुख गाई। – मानस, उत्तरकाण्ड दो0 49 चौ 4,5

अर्थात जो आठो सिद्धियो और नवों निधियो को देने वाला हो वह स्वंय मे ईश्वर का ही एक रूप दिखाई देता है। निषाद राज का प्रेम भरत के वन जाने पर प्रकट होता है उसे संदेह होता है कि भरत ससैन्य राम को मारने जा रहे है। वह अपने जाति वालों को युद्ध के लिये तत्पर करता है। एक वृद्ध की सलाह मानकर भरत का भेद लेने चलता है भरत के व्यवहार से सदेह दूर ही जाता है। भरत उसे हृदय से लागा लेते है।[1] राम का दूसरा भक्त केवट है जिसे तुलसी ने अधिक महत्व दिया है–इस प्रसग को तुलसी ने बडे भावपूर्ण ढग से व्यक्त किया है।

गंगा तट पर राम–लक्ष्मण सीता खडे है, गंगा पार करने के लिये नाव चाहिये। वे केवट से नाव मांगते हैं पर वह नही लाता क्योकि उसकी अपनी विवशता है। यद्यपि वह आज्ञापालन के लिये तत्पर है। समस्या इस बात की है कि राम के चरण–स्पर्श से कही नाव भी अहिल्या के समान तर गयी अर्थात वह काठ की नाव से चन्द्रमुखी बन गयी तब केवट क्या करेगा? वहॉ पर हास्य–व्यंग का अच्छा उदाहरण तुलसी ने दिया है। जहॉ पर ऋषि–मुनि कहते है–

होइहैं शिला सब चन्द्रमुखी परसे, पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू कहना करिके करूना पग धारे।

पाषण से नारी बनने की कथा केवट सुन चुका था इसलिये वह बिना पग को धुले श्री राम को नाव चढाने मे असमर्थ है। मन मे यह विचार करता है कि राम के चरणो का क्या दोष? उनकी धूल ही ऐसी पवित्र होती है फिर यहॉ तो नाव पत्थर की नहीं काठ की है। पत्थर से तो काठ कोमल होता है। रघुनाथ जी केवट के भोलेपन और निश्छलता पर विमुग्ध हो गये और जानकी की ओर देखकर हॅस दिये। निम्न जाति का केवट जिसकी आजीविका का साधन केवल यही नाव है कैसे जानबूझकर विपत्ति मोल ले।

इसलिये वह बिना पग धोये नाव पर चढाने मे असमर्थ है। फिर राम दीनबन्धु होकर ऐसी अनोखी प्रेम भरी प्रार्थना को कैसे ठुकराते। वे तो स्वयं केवट के प्रेम पर

---

1 करत दण्डवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ – मानस – अयो दो 193

रीझे जा रहे थे। चरण धाकर केवट ने जैसे–जैसे जन्म–जन्म के पुण्यों का फल पा लिया।

ये हैं केवट के निश्छल हृदय के प्रेम सिक्त चित्र। वह जन्म और कर्म से नीच होते हुये भी प्रेम के दरबार मे अपना स्थान निश्चित कर लेता है। केवट की वाक्पटुता भी तुलसी की कला का अनूठा पक्ष है। केवट भी उसी सेवक–सेव्य भाव[1] का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ स्वामी के चरणों का एक स्पर्श जैसे सेवक के जन्म जन्मान्तर की साध होती है।

·ाम्पत्य प्रेम :– मर्यादा प्रधान कवि होने के कारण तुलसी मे दाम्पत्य भाव की भक्ति का कोई विशेष स्थान नही है। जहाँ दाम्पत्य भाव दिखता है, शील, गुण, सौन्दर्य और मर्यादा से युक्त है। राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम में सभी जगह रूप, शील, गुण तथा मर्यादा से युक्त सौन्दर्य ही दिखाई पडता है। क्योंकि तुलसी के लिये सीता और राम आदि शक्ति और आदि पुरूष है और उनका संबंध अनादि और अनन्त है। इस दिव्य दम्पति का प्रेम मर्यादा के साथ ही वर्णित है और उस प्रेम की अनादि परम्परा का उल्लेख तुलसी ने कई स्थानों पर किया है। एक स्थान पर राम के द्वारा सीता का पुष्प श्रृंगार भी कराया गया है। .––

एक बार चुनि, कुसुम सुहाये, निजकर भूषण राम बनाये
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर, बैठे फटिक सिला पर सुन्दर

इन पंक्तियों मे सीता के प्रति राम का श्रृगार भाव ध्वनित है। संभवतः राजसी वातावरण मे इस श्रृंगार की व्यजना करने पर उतनी सात्विकता नहीं रह जाती जितनी वनवास के समय वर्णन करने मे है। इस दिव्य दम्पति के प्रेम के अतिरिक्त शिव–पार्वती का प्रेम भी वर्णित है। वहाँ भी प्रेम के भोग पक्ष का इतना वर्णन नही है जितना कि उसके तप त्याग पक्ष का।

दूसरी तरफ मानवीय दत्पत्ति है बालि–तारा, दशरथ व रानियाँ आदि। राक्षसी वृत्ति वाला पति और मानवीय वृत्ति वाली पत्नी जैसे–रावण मन्दोदरी । लेकिन हमने

---

1 सेवक–सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उदगारि – मानस

सीता और राम के प्रेम को व्यक्त करने मे ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है क्योकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आदर्श की पूर्णता राम और सीता मे प्रतीत होती है।

संयोग प्रेम :– तुलसी के आदर्श दम्पत्ति हैं राम और सीता। यद्धपि तुलसी ने राम के सभी व्यवहारों पर अलौकिकता की छाप लगायी है पर उनकी और सीता की पारस्परिक भावनाये मानवीय धरातल पर व्यक्त हुई है। यदि राम सर्वशक्तिशाली परमब्रह्महै तो सीता जगत्जननी। अत उनका अलौकिक दाम्पत्य भाव अलौकितता का आवरण लेकर अवतरित हुआ है। उनके स्थायी दाम्पत्य भाव का रूप एक दूसरे परिवेश में अभिव्यक्त हुआ है। मार्यादापुरूषोत्तम राम का श्रृंगार वर्णन भी तुलसी ने मर्यादा के अनुरूप किया यद्धपि उनकी मानवो जैसी भावनाओं के लिये समुचित स्थान भी दिया है।

तुलसी ने श्रृगार का कोना–कोना न झॉका हो पर श्रृगार की पवित्रता, महानता और मधुरता के दर्शन अवश्य किये और गार्हस्थ–जीवन में उसे प्रबलतम् सम्बल के रूप में चित्रित किया है। पति–पत्नी का परस्परिक स्नेह, विश्वास सहानुभूति और सहृदय अथवा एक शब्द में ममत्व और एकात्मता इस संघर्षमय जीवन के लिये सबलतम आधार है। इसका दिव्य चित्र तुलसी के मानस के अतिरिक्त मिलना कठिन है। तुलसी ने दाम्पत्य प्रेम को एकागी नहीं दर्शाया है। केवल पति–पत्नी का अपना सम्बन्ध ही सब कुछ नही वरन उनका घर और समाज के अन्य सदस्यो के साथ मिलजुल कर जो सर्वांगीण रूप सामने आता है उसकी छटा विस्तृत सूक्ष्म और स्पष्ट है। इस रूप को यदि व्यवहारिक जीवन मे उतारने का प्रयत्न किया जाय तो समाज का स्वरूप अपने आप सुन्दर वन जायेगा।

राम केवल सीता के पति नही दशरथ और तीनो माताओं के पुत्र, भाई, राजकुमार, मित्र और भक्त वत्सल हैं तथा प्रजापालक राजा हैं। वे अपने सभी सबंधो के निर्वाह के साथ ही सीता के प्रति अपने सम्बन्ध का निर्वाह पूरी कुशलता से करते है।

इसी प्रकार सीता प्रधानत. राम की पत्नी होने पर भी सास–ससुर के लिये वधू, माता–पिता के लिये पुत्री, गुरूजनो के लिये कुलवधु तथा प्रजा के लिये महारानी हैं। इस प्रेम की प्रथम झलक हमें जनकपुर के वाटिका प्रसंग मे मिलती है। जनकपुर मे राम लक्ष्मण के सौन्दर्य को जो भी देखता है वह मोहित हो जाता है–

पीत वसन परिकर करि माथा। चार चाप सर सोहत हाथा।
तन अनुहरत सुचंदन खौरी श्यामल गौर मनोहर जोरी

× × ×

रूचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस
नख–शिख सुन्दर बन्धु दोऊ शोभा सकल सुदेश।

राम और लक्ष्मण के स्वाभाविक पुरूषोचित सौन्दर्य के साथ अनुकूल सजावट भी है। और यह दोनों विशेषतायें उनके शील को प्रभावशील ढंग से प्रतिबिम्बित करती है। प्रातः काल जनक–वाटिका में अपनी एक सखी से राम–लक्ष्मण के अवर्णनीय सौन्दर्य[1] का समाचार पा उसी प्यारी सखी को आगे कर सीताजी चली। मर्यादा प्रेमी तुलसी ने "चली अग्रकर प्रिय सखी सोई" के साथ "प्रीति–पुरातन लखइ न कोई" वह सीता की मर्यादा की रक्षा की है। इधर राम सीता के ककनि, किकिनि और नूपुर की ध्वनि सुन राम लक्ष्मण से कहते है कि कदाचित कामदेव ने विश्वविजय की इच्छा से दुंदुभी बजाई है और तभी ––

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारू अचंचल। मनहु संकुचि वश तजे दिंगचल[2]

राम आत्म विस्मृत हो सीता के सौन्दर्य को निर्मिमेष देखते रह जाते है। इस पर तुलसी की उक्ति है कि कदाचित् जनक के पूर्वज निमि, जिनका निवास सभी पलकों मे माना जाता है, ने संकोच वश अपना निवास छोड दिया, तभी राम के पलक गिरना ही भूल गये। राम लक्ष्मण से कहने पर विवश हो गये।

---

1 श्याम गौर किमी कहौ बखानी। गिरा अनयन नयन बिन बानी (मानस)
2 मानस–अयोध्या काण्ड दो0 229 –2

जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता[1]।।

और जब सीता राम को देखती हैं तो उनके नेत्र भी थककर पलक गिराना भूल जाते हैं। इस प्रकार राम और सीता दोनों ही प्रथम दृष्टि में ही आत्मविस्मृत ही देखते ही रह जाते हैं। शील और सौन्दर्य के आगार राम ओर सीता प्रथम दृष्टि में ही एक दूसरे के प्रति रूपासक्त हो अपना हृदय समर्पित कर देते है। एक शील और चरित्र के आदर्श स्त्री–पुरूष का इस प्रकार एक–दूसरे के प्रति आकर्षित होना सौन्दर्य की मत्रमुंग्धता और प्रेम की पराकाष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि यहॉ राम–सीता के अलौकिक प्रेम को रूपासक्ति पर आधारित स्वाभाविक प्रेम के रूप मे देखा जाय तो यह प्रसंग प्रसंशनीय प्रतीत होगा। तुलसी दास जी ने इस प्रसंग मे भावों के साथ नाटकीयता का सुन्दर सामजस्य किया है। राम के रूप की एक झलक से ही सीता जी की स्थिति दृष्टव्य है –

थके नयन रघुपति छवि देखे, पलकान्हिहूँ परिहरी निमेषे

× × ×

लोचन मग रामहिं उन आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी, कहि न सकहिं कहु मन सकुचानी।

सीता राम के रूप का पान कर अपने नेत्र बन्द कर आत्म–विभोर हो जाती हैं तभी राम–लक्ष्मण लता भवन से बाहर आते हैं। उनके रूप–पान और रूप वर्णन का भार कवि ने सीता की सखियों पर छोड़ दिया है यहॉ तक कि वे भी आत्म–विस्मृत हो जाती हैं –

के हरि करि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहिं बिसरा सबहिं अपान।

इस प्रकार सीता का स्नेह राम के प्रति गंभीर होता जा रहा है। सीता भवानी के मंदिर में प्रार्थना करती हैं :–

मोर मनोरथ जानहु नीकें बसहु सदा उर पुर सबही के।
कीन्हेंऊ प्रकट न कारन तेही, अस कहि चरन गहेउ बैदेही।

---

1 मानस–अयो0–दो0 226–2

इस मनोरथ को प्रकट न करने मे ही स्त्री सुलभ लज्जा, शील और भाव तन्मयता की छटा है। परन्तु गौरी का आशीर्वाद और आश्वासन देखते ही बनता है।

मन जाहि राच्यो मिलन सो वर सहज सुन्दर साँवरो
करूना विधान सुजान शील सनेह जानत रावरो।

यह सुनकर सीता जी खुशी से फूली नहीं समाती है।——

जानि गौरी अनुकूल सोय हिस हरष न जात कहि
मंजुल मंगल मूल, वाम अंग थरकन लगे।

तुलसी के मत में आदर्श प्रेम वही है जो नायक—नायिका मे दोनों की ओर से एक दूसरे के प्रीत के लिये प्रकट हो।

तुलसीदास के संयोग वर्णन में अश्लीलता का लेश मात्र भी स्पर्श नहीं है। उनका संयोग वर्णन प्रेमालय, चुम्बन, आंलिंगन आदि से पूर्ण रूप से मुक्त है। और दर्शन तक में सीमित होकर अत्यन्त गौरवपूर्ण तथा प्रौढ है।

जब विश्वामित्र के साथ जनकपुरी में श्री रामचन्द्र पहुंच गये तब घनुष यज्ञ का समाचार पाकर वह बहुत आनन्दित हुये। उन्हें धनुर्विधा में अपनी कुशलता दिखाने और सीता की एक बार देखने की लालसा और उत्सुकता उत्पन्न हुई थी। यहीं राम, सीता के प्रथम संयोग की पृष्ठिभूमि तैयार हो जाती है।

जनकवाटिका मे राम और सीता का प्रवेश निरूद्देश्य और अनावश्यक नहीं है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में उनके प्रथम दर्शन की भूमिका उपस्थित करते हुये बताया है कि राम तो गुरू की आज्ञा से पूजा के वास्ते पुष्प चुनने के लिये इस जनक वाटिका में आये है।[1] उसी समय जनक की फुलवारी मे राम और सीता का प्रथम दर्शन हुआ।

एकान्त स्थान में किसी युवक युवती का मिलन तुलसी की दृष्टि मे अनुचित है। अतः तुलसी ने यों वर्णित किया है कि जब राम को सीता का दर्शन हुआ था, तब राम अकेले नही थे। उनके साथ प्रिय अनुज लक्ष्मण भी थे। सीता भी वहॉ

---

1. समय जानि गुरू आयस पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई। रामचरित मानस – 259

अकेली नहीं थी, उनके साथ कई सखियॉ भी थी। इस प्रकार उनके प्रथम साक्षात्कार के लिये तुलसी ने जिस पवित्र वातवारण का निर्माण किया, वह आदर्श पूर्ण मर्यादा से ओत–प्रोत है। सीता अनुरूप वर की प्राप्ति के लिये देवी से प्रार्थना करती है वह अपने मन की सारी अभिलाषाये गौरी मदिर में जाकर भगवती के नजदीक प्रकट करती हैं।

पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग वर माँग।।

इस प्रकार सीता रामचन्द्र जी के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन पाते ही सीता ने अपनी ऑखों के रास्त से रामचन्द्र जी को अपने हृदय में लाकर पलक रूपी किवाड बन्द कर दिये। राम सीता के प्रथम दर्शन मे जो प्रेम का अंकुर फूट निकला यह प्रेम उनकी पूर्व प्रीति का ही परिणाम है। नारदमुनि ने सीता को यह बताया था कि उनका विवाह राम के साथ सम्पन्न होगा। इस गुरू वचन को मन मे रखकर जब सीता ने राम को देखा तब उनके मन में राम के प्रति प्रेमा–भाव उत्पन्न हुआ, तो वह अस्वाभाविक और अमर्यादित नहीं है। राम को भी गुरू का आशीर्वाद अवश्य मिला था। अतः सीता को देखकर राम मन ही मन आनन्दित हुये –

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा।

सीता की अलौकिक शोभा देखकर राम का पवित्र चित्त भी क्षोभित हो गया[1]। तुलसी इस विक्षोभ को अकारण नहीं मानते। राम लक्ष्मण से कहते है –

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पग धरै न काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।[2]

इसलिये श्रीराम यह विश्वास करते है कि सीता उनकी अर्धांगिनी हो जायेंगी। तुलसीदास ने रामचरित मानस के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम व्यवहार विवाह से पहले भी हो सकता है, जब प्रेमी–प्रेमिका का मिलन वैवाहिक सम्बन्ध से प्राप्त होता है।

---

1 जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा। मानस –बालकाण्ड, 263/2
2 मानस – बालकाण्ड 266/3

विवाह समाजोनुमोदित एक महत्वपूर्ण प्रथा है, जिसे प्रेमी–प्रेमिका को दाम्पत्य जीवन के लिये एक प्रमाण मिल जाता है। दाम्पत्य जीवन में उनका पूर्ण और दिव्य हो जाता है। प्रेम कभी एक पक्षीय न हो।

दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य कोरी कामुकता भोगवृत्ति, या सन्तान सृष्टि मात्र नहीं है, अपितु पति–पत्नी के बीच अन्योन्य प्रेम द्वारा मधुर आनन्द की प्राप्ति भी है। तुलसीदास ने इस तथ्य के भलि–भांति जान लिया था। वस्तुतः दाम्पत्य जीवन का प्रमुख अग प्रेम और उससे प्राप्त आनन्द है।

प्रेम के अभाव दाम्पत्य जीवन क्लेशपूर्ण, दुखसमन्वित एवं असफल बन जाता है। तुलसीदास ने इस तत्व को जानते हुये जनक–वाटिका प्रसंग में राम–सीता के बीच मे प्रेम का अंकुर उगवाया था। सच्चे प्रेम मे हृदय–हृदय का संयोग है।

धनुष–यज्ञ में आने पर एक बार पुनः सीता के नेत्र राम के रूप में उलझ जाते है पर तुरन्त ही लज्जा और संकोच के कारण वे उन्हे नियत्रित कर लेती है।

गुरूजन लाज समाज बड़े, देखि सीय सकुचानि।
लागि विलोकन सखिन्ह तन रघुवीरहि उन आनि।।

राम चन्द्र जी के लिये धनुष तोडने के लिये उठने पर सीता का हृदय (जो कि भवानी आशीर्वाद प्राप्त कर चुका है) भी सशय से स्वभावत· भयभीत हो उठता है। वे सभी देवताओ की प्रार्थना करती है पिता का प्रण याद कर उन्हे पिता पर भी झुंझलाहट आ जाती है।

यहॉ तुलसी ने सीता के नारी हृदय का बडा सफल चित्राकन किया है। एक ओर राम के प्रति अतुलनीय प्रेम, राम से विवाह की प्रबल आकांक्षा और उसी कारण सयम मानो अनेक हृदय को मथ देता है।

सीता का संशय ये है कि धनुष अत्यन्त कठोर है और कहॉ स्यामल मृदु शरीर के किशोर ("कहॅ श्यामल मृदु गात किसोरा") यह सीता के अत्यन्त स्नेह की ही प्रतिक्रिया है। अपने स्नेह मात्र को कोमल मृदुगात समझना नारी हृदय की

कोमलता ही है। कदाचित् यह उसका मातृत्व है जो कभी–कभी पति के प्रति भी वात्सल्य जैसे भावो में बहने लगता है।

प्रेम की अधिकता भी बहुधा भय और संशय को जन्म देती है राम का धनुष तोडने में असफल होने का संशय इसी प्रकार का भय प्रतीत होता है। स्त्री–हृदय के पारखी तुलसी ने स्त्री सुलभ भावनाओं का सुन्दर वर्णन कियाा है। कुछ ही क्षणों में सीता को विश्वास हो जाता है। कि "जेहि पर जाकर सत्य सनेहूं तांहि मिलै कछु ना संदेहू।। इसके अनुसार यदि उन्होंने तन, मन और वचन से श्रीराम की चाहा है तो अवश्य ही भगवान उनकी इच्छा पूर्ण करेगा। प्रेमी हृदय का यह विश्वास प्रशंसनीय है। जयमाल पहनाते समय प्रेम का स्वरूप यहॉ देखा जा सकता है–

चतुर सखि लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई।
सुनत जुगल कर माल उठायी। प्रेम विवस पहिराइ न जाई

तुलसी ने कुछ हॅसी के पुट भी दिये हैं। सीता की सखियॉ स्वामी के चरण छूने को कहती है लेकिन वह चरण नहीं छूती – यह बात सोचकर कि चरण स्पर्श होते ही अहिल्या तर गयी थी। राम सीता के इस अलौकिक स्नेह को जानकर हसॅ देते है।[1] एक जगह और शादी के मंडप का सुन्दर चित्र तुलसी ने किस तरह विखेरा है–

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मंदिन माहीं।
× × ×
राम को रूप नि .ारति जानकी कंकन के नग की परछाई
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

नववधू सीता का शील और लाज से युक्त और फिर भी प्रिय के रूप और अनुराग मे लब्ध मुग्ध हृदय का यह कितना अनूठा चित्र है। प्रिय सन्मुख हैं फिर भी नारी सुलभ लज्जा के कारण ऑखे उन्हें देख नहीं पातीं। वे इतने निकट है फिर कुलवधू का शील उस रूप–दर्शन की मधुर–बाधा बन जाता है। और ऐसे समय जब कंकण के नग में प्रिय का रूप प्रतिबिम्बित होता है तो–

---

1 गौतम तिय गति सुरति कर, नहि परसति पग पानि
मन बिहसे रघुवश मनि, प्रीति अलौकिक जानि।

तो वरबस नयन उसमे उलझ जाते हैं। सीता अपने हाथ को इस भय से टेके ही रह गयीं कि हाथ के हटते ही नग प्रतिबिम्बित राम के रूपदर्शन से वंचित हो जायेगी। अनुराग का प्रथम परिचयय ऐसे ही पागलपन की सृष्टि कर जाता है। प्रिय का चोरी–चोरी रूप–पान करने वाली सीता, कितने मधुर श्रृंगार का उदाहरण बन जाती है। जैसे समस्त रीतिकालीन मुग्धा नायिकायें इस एक सीता के सम्मुख फीकी पड जाती हैं। तुलसी को आचार्यो ने पवित्र श्रृगार का चितेरा माना है। रस और कला की दृष्टि से ही नही प्रेम–भावना के मनोवैज्ञानिक निरूपण की दृष्टि से भी ये पक्तियॉ तुलसी को अतिशय श्रेय प्रदान करने वाली है।[1]

राम और सीता के प्रणय की प्राथमिक स्थिति के चित्रण को तुलसी ने मर्यादित रखते हुये भी मानवीय इच्छा, आकाक्षा सदेह, भय, हास्य आदि की सुन्दर छटा से अभिभूत किया है। इस प्रणय का दूसरी बार दर्शन जीवन की एक विकट स्थिति में होता है।

राम के वनवास का समाचार सुनकर सीता व्याकुल हो कौशल्या और राम के सम्मुख आ सास के चरणों की वन्दना कर सर झुकाकर बैठ जाती है। उनके ऑखो से आंसू बह रहे है और उन्हे इस बात की चिन्ता है कि किस सौभाग्य के कारण राम का साथ होगा। बिना कुछ कहे ही माता कौशल्या मन के भावों की समझ सीता की सुकुमारता और वन की कठोरता का वर्णन कर राम से प्रश्न कर उठती है।

सोइ सिय चलन चहति बन साथू।

राम को यद्यपि माता के सन्मुख कुछ कहने में सकोच है पर समय का विचार कर सीता को वन की कठोरता सम्भावी कष्टो तथा सीता की सुकुमारता का भी वर्णन करते हैं। लज्जा और विनय की प्रतिमा सीता, राम के उन वचनों को सुन

---

1 श्रृगार का इतना मार्यदित वर्णन हिन्दी मे कम मिलेगा जहॉ अनन्तकाल तक घोर और कही–कही तो भद्दे श्रृंगार की अविछिन्न धारा वही हो, उस साहित्य में यदि इस कोटि का श्रृगार वर्णन करने वाला है तो तुलसी। रसवादियो की दृष्टि छोडकर यदि कलावादियो की दृष्टि से भी इस पथ पर विचार किया जाता है तो यह कला पूर्णता का, वस्तु निरूपण का और भाव व्यजना का एक ही पथ ठहरता है। भावुक कवि की सबसे बडी विशेषता यही है कि मनुष्य के ह्रदयय मे घुसकर उसकी भावनाओ का उथल–पुथल लखले और फिर उसका कला पूर्ण निरूपण करे। (श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–कवितावली–भूमिका पृ0–13)

अत्यन्त विकल हो जाती हैं पर नेत्रों से बर्बस निकल पडे आसुओ को रोक धर्य धारण कर कौशल्या के पैर छू हाथ जोड कर अपनी ढिढाई के लिये क्षमा मांगते हुये कह उठती हैं–

मैं पुनि समुझि दीख मन मांही।
प्रिय वियोग सम दु,ख जग नाहीं।
×　　　×　　　×
प्रान नाथ करूनायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल कुमुद विधु सुरपुर नरक समान।

सीता के मुख से अर्द्धागिनी की आवाज चीख पडती है ––

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहिं उचित तप मों कह भोगू।

सीता के इन स्नेहमय हार्दिक उद्‌गारों, पति के प्रति अटूट स्नेह, पति के बल और अपनी मति पर अटल विश्वास के सामने राम को झुकना ही पडा और वे समझ गये कि सीता उनके वियोग में जीवित नहीं रह पायेगी 'दृढ राखें नहि राखहि प्राना'।[1] अत· वे वन चलने की अनुमति देने पर विवश हो जाते हैं।

वन के पथ पर : प्रेम का चित्रण :– राम और सीता के उज्जवल प्रेम का मार्मिक और उदात्त पक्ष वन यात्रा के अवसर पर दिखाई देता है। जीवन की कठिन परिस्थितियों में पति–पत्नी में जो स्वाभाविक स्नेह एक–दूसरे के सुख–दुख, मान–मर्यादा एव भावनाओ के प्रति जागरूकता एक–दूसरे के प्रति सहज विश्वास होना चाहिये जो दाम्पत्य जीवन का सबसे प्रमुख आधार हैं उसका बहुत ही सरल और सम्पूर्ण चित्र तुलसी ने खींचा है।

---

1 दृढ रा,खै नहि राखहि प्राना।

पुर तें निकसी रघुबीर वधू धरि धीर दये मग में डग है
झलकी भरि बाल कनि जल की पुट सुखि गये मधुराधर वै

× × ×

तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियाँ अति चारू चली जल च्वै।

कोमल जनकनन्दिनी नगर से अभी दो ही कदम चलीं थी कि उनके माथे पर पसीने की बूंदे आ गयी और राम से कह उठी कि अभी कितना और चलना है आप अपनी पर्णकुटी कहाँ बनायेगे ? प्रिया का दुख छिपा न था। पत्नी ने वन के काटो के बीच भी उनके साथ रहने का साहस किया था और उसे यथा शक्ति निभा भी रही थी। राम अच्छी तरह समझ रहे थे कि कोमलता की साकार प्रतिमा सीता के लिये राह की धूल में दो पग चलना भी कितना कष्टसाध्य था। फिर भी सीता के अपनी व्याकुलता को छिपाने का भोला प्रयास देखकर राम का ह्रदय भर आया और कमन–नयन प्रेमाश्रुओं से डूब गये। यथाः–

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौं पिय छाँह धरीक हवै ठाढ़े।
पोछि पसेउं वयारि करौं अरू पांय पखारौं भूभुरि डाढे।
तुलसी रघुबीर प्रियासम जानि के बैठि बिलंब सो कंटक काढ़े।
जानकी नाह की नेह लख्यो पुलको तनु वारि विलोचन बाढ़े।

सीता जी इतनी थक गयी है कि उनके पैर नहीं उठ रहे है। विश्राम करने का कितना सुन्दर बहाना सीता बना रही है। वे राम से कहती हैं कि है प्रभु लक्ष्मण जल लेने गये है जो भी हो अभी वे बालक हैं इसलिये क्यो न हम छाये में थोडी देन उनकी प्रतीक्षा कर लें। जब तक यहाँ रूके हैं तब तक लाइये आपके पसीने को में पोछ दूँ और जो पैर गरम धूल से जल गये है उन्हें मै धुल दूँ।

राम समझ गये कि इन सब बातो के पीछे कारण है कि सीता अधिक थक चुकी है। इसलिये राम अपने पैर में कॉटे चुभने का बहाना बनाकर देर तक बैठकर कॉटा निकालने लगे। सीता भी कम चतुर नहीं है वो समझ गयी कि राम मुझे विश्राम देने के लिये ही कांटे का बहाना बनाकर कांटा निकाल रहे हैं। प्रिय के इस स्नेह को देखकर अनकी आंखो से ऑसू गिरने लगे।

यहाँ दाम्पत्य रति का कितना मार्मिक कितना आदर्श कितना सम्पूर्ण चित्र है। शब्दों के आदान–प्रदान की भी आवश्यकता नहीं। नेत्रो का विनिमय ही जैसे प्रिया और प्रियतम के हृदय को एक दूसरे के सम्मुख खोल देता है। जानकी के स्नेह भरे अनुरोध के उत्तर मे रघुनाथ का उन्हे अधिक से अधिक विश्राम देने की इच्छा से देर तक बैठकर कांटो को निकालते रहना कितना अर्थ भरा है। दम्पति के स्नेह का इतना करूण और मार्मिक चित्र निःसन्देह बेजोड है। इस तरह का चित्रण तुलसी जैसा मर्यादा प्रधान कवि ही कर सकता है। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे वर्णित और प्रशंसित दम्पति "दो शरीर और एक प्राण" की कल्पना तुलसी की इन पक्तियो में सजीव हो गयी है।

फूलों की सेज पर एक दूसरे की धडकनो मे खोने वाले अथवा वियोग मे विरहाश्रुओं मे डूब जाने वाले नायक–नायिकाओ से हमारा साहित्य भरा पडा है किन्तु जीवन की शूल भरी राहों मे अनुराग के फूल खिला देने वाले, प्रेम आँसुओं से तन मन और प्राण सुरभित कर देने वाले तुलसी के ये रघुवीर और रघुवीर–वधु अद्वितीय है। अलौकिक सौन्दर्य से युक्त राम और लक्ष्मण, अप्रतिम सुन्दरी के सीता के तापस वेष धारण कर वन की ओर जाते हुये राह में स्त्री–पुरूषों का मन मोहित करते है यहाँ मग मे ग्राम बालाओं का प्रश्न स्वाभावकि और मर्यादित है –

पूछति ग्राम वधू सिय सो कहो सावरे से सखि रावरे को हैं।

सादर और पवित्र दृष्टि से राम बार–बार प्रिया को देख लेते है। जिससे ग्राम–बन्धुओं का कोतूहल जग जाता है। वे कुछ समझ भी गयी और फिर पूछ भी बैठी –

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानि है जानकी जानि भली।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हे समुझाइ कछु मुसकाइ चली।

प्रिय के अनुराग से गद्गद सीता केवल तिरछी दृष्टि से प्रियतम की ओर देखकर मुस्करा कर रह गई। उनकी इस तिरछी–दृष्टि के सकेत मे क्या नहीं है? वे सर्वस्व हैं, स्वामी है और लोकरीति के अनुसार पति तो है ही। इतना सब सीता कैसे कहें समझायें? एक लाज और अनुराग में डूबी हुई तिरछी दृष्टि ही उनके पास

है। राम की पवित्र और सादर दृष्टि से प्रिया का बार–बार देखना भी उनके अतिशय प्रेम का परिचायक है। राम के लिये सीता केवल प्रियतमा ही नही, पूजा और आदर की वस्तु भी है, तभी उनकी दृष्टि में स्नेह के साथ आदर और पवित्रता भी झलकती है। इस प्रकार एकनिष्ठ अनुराग का परिचय ये पक्तियॉ देती है।

पुरूष हृदय की रसिकता से तो हमारा हिन्दी साहित्य ही भरा पडा है किन्तु राम जैसे आदर्श प्रेमी का यह चित्रण केवल तुलसी की देन है। ग्राम वधुओं की इस दशा का यदि कृष्ण की गोपियों से तुलना करें तो पता चलता है कि इनमें भिन्नता है। राम की अविराम छवि और आकर्षक व्यक्तित्व ग्राम–वधुओ के हृदय में उनके प्रति स्नेह जगा देता है किन्तु यह ऐसा स्नेह है जैसा कि अतिशय सुन्दर पुष्प को देखकर मन का उसके आकर्षण में बंध जाना, लेकिन यहॉ आकर्षण का केन्द्र बिन्दु कोई दृष्य या पुष्प नहीं, एक असाधारण व्यक्तित्व है। एक ऐसा व्यक्तित्व जो केवल मनुष्यों को ही नहीं, अपितु पशुओ को भी मुग्ध कर देता है और वह भी उन पशुओ को जो स्वंय आखेटक के आखेट (शिकार) हैं।

अतः यहॉ आकर्षण केवल नयनों का नहीं मन और प्राण का भी है। किन्तु जिस प्रकार किसी सुन्दर फूल को देखकर प्रतिदान की आकांक्षा नहीं होती वैसे ही राम से ग्राम वधुओं को कुछ लेना नहीं, बस वे उस तीव्र आकर्षण से बध गयी है और यह उनकी विवशता है। ये क्षण न तो कामना से कलुषित है और न ही भक्ति से बोझिल है। ग्राम वधुओ का यह प्रेम धरती की सोधी गध लिये है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेम का इतना मार्मिक उज्जवल और मर्यादित चित्रण तुलसी जैसा महाकवि ही कर सकता है।

तुलसी का विरह प्रेम :– वस्तुत· तुलसी दास विरह के गायक नही है और न स्वंय विरही। विरह–पीडित होकर रोते–कलपते रहना तुलसी को पसन्द नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसी के रचनाओं में विरह का वर्णन नही है।

श्रृंगार वर्णन के प्रति सहज उदासीन होते हुये भी तुलसी की रचनाओ में विरह–निवेदन के चित्रण भी हुये है।

तुलसी का विरह–वर्णन केवल विरह की सवेदना को व्यक्त करने के लिये ही है। इसमे उहात्मकता को स्थान नहीं है। वैसे अधिकतर कवियों ने दाम्पत्य विरह को ही अधिक स्थान दिया है, लेकिन तुलसी ने दाम्पत्य विरह के आगे बढकर पुत्र विरह, बन्धु विरह और प्रजा–विरह को साहित्य मे स्थान प्रदान किया है। सीता–हरण के प्रसंग में राम का विरह तुलसी के दाम्पत्य विरह वर्णन का सुन्दर उदाहरण दीख पडता है। मारीच वध से लक्ष्मण सहित वापस आने पर सीता को कुटिया में न पा कर राम विरहकुल हो, वे वन के पशु–पक्षी, लता–पत्रों से सीता का पता पूछते है–

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता ·गनयनां।

यह एक प्रकार सीता के सौन्दर्य और गुणों का स्मरण है जो राम को दुखी करता है विरह में गुणो का स्मरण आना स्वाभाविक है विरह की गंभीरता का आभास तुलसी के केवल एक पक्ति से ही होता है। —–

एहि विधि खोजत बिलखत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी"।[1]

सीता का हनुमान के द्वारा जो विरह–सदेश भेजा गया उसे सुनकर राम अत्यन्त माननीय हो आये है। निम्न पंक्तियो मे प्रेम की मार्मिक एवं गहन संवेदना व्यक्त हुई है।

तत्व प्रेम कर मम अरू तोरा, जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति रस एतनेहि मांही।[2]

प्रिय और प्रियतमा के प्रेम का रहस्य एक राम ही जानता है और वह मन भी सदा सीता के निकट रहता है। फिर क्या कहकर और किस भॉति उस प्रेम का परिचय दिया जाय। यह पंक्तियॉ इसका प्रमाण है कि यदि तुलसी चाहते तो विप्रलम्ब का भी उन्तम वर्णन कर सकते हैं किन्तु मानस के तुलसी को कदाचित लोक–परलोक की चिंता में इतना अवकाश ही न था कि वे सहज मार्मिक मानवीय प्रसंगों का समुचित ध्यान देते।

---

1. किष्किंधा काण्ड चौ दो – 8
2- मानस–सुन्दरकाण्ड – दोहा 14/7 पृ० स०–376

राम के विरह की भाँति सीता का विरह भी मानवीय स्तर पर दिखाई देता है।

पति अनुकूल सदा रह सीता। शोभा खानि सुशील विनीता
आनति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल भर लाई।।

वह उस कुलवधू गृहणी एवं पत्नी रूप का चित्र जो भारतीय नारी के आदर्श रूप की कल्पना को साकार करता है। किन्तु इस सीता के सन्मुख भी राम का पति परमेश्वर रूप ही वह प्रभु रूप भी है। जो उन्हे अलौकिक स्तर पर रखता है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि मानस का दाम्पत्य–विरह एक पवित्र उदात्त तत्व से ओतप्रोत है जिसे तुलसी के भक्ति और साधना का अधिक योग मिला है।

श्रृंगार वर्णन के प्रति उदासीन होने पर भी तुलसीदास अपने 'रामचरित मानस मे राम और सीता के विरह –वर्णन को प्रस्तुत करने मे अत्यन्त सफल हुये है। रामचरित मानस में प्रवास विरह के प्रधानत पाँच प्रसग दीख पडते है। (1) रावण द्वारा हरण किये जाने पर सीता का विरह–विलाप (2) आश्रम को शून्य देखकर राम का विरह कथन (3) राम के विरह के सम्बन्ध में सीता से हनुमान का कथन (4) अशोक वाटिका मे सीता का विरह (5) राम से सीता–विरह के सम्बन्ध मे हनुमान का वक्तव्य। संक्षेप मे रामचरितमानस के विरह वर्णनों को राम–विरह और सीता–विरह के रूप में चित्रित किया जा सकता है। यह चित्रण पीछे किया जा चुका है इसके अतिरिक्त दशरथ विरह प्रजा विरह, भरत–विरह विलाप आदि के भी संक्षिप्त उद्‌गार देखने को मिलते हैं।

मीरा :– प्रेम श्रद्धा का और श्रद्धा भक्ति का आधार है भक्ति, भक्त और भगवान के भाव सबंध की अभिव्यक्ति है, जो मनुष्य की ब्रह्य जिज्ञासा तथा आत्मा–परमात्मा के पारस्परिक संबंधों की चिन्तना और कल्पना पर आधारित है। वह भक्त के मन मे भगवान के प्रति पूज्य बुद्धि प्रेरित ऐसे भावों को जन्म देती है, जिनमे आत्मीय सबंध और आत्मोद्धार की कामना एक साथ काम करती है।

भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम रूप की अभिव्यक्ति है। नारद भक्ति सूत्र मे भी कहा गया है कि "यह परम प्रेम रूप और अमृत स्वरूपा है"? उसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है। भक्ति को पाकर मनुष्य किसी वस्तु की इच्छा नही करता है। किसी वस्तु की तरफ न वह आसक्त होता है न ही उसे विषय भोगों की प्राप्ति मे कोई उत्साह होता है। यह प्रेमा भक्ति कामनायुक्त नही है। क्योकि यह निरोध स्वरूपा है।

मीरा का भक्ति का स्वरूप परम प्रेम रूप है। उन्होने अपने अश्रु जल से सींच–सींचकर प्रेम–बेलि बोई थी दही मंथन कर घृत काढ लिया था और छाछ छोड दिया था महर्षि शाडिल्य ने भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुराग कहा है। मीरा ने इसी प्रकार की भक्ति की है। उसमें कृष्णा के प्रति मीरा का दिव्य, भव्य, उदात्त अनुराग व्यंजित हुआ है–

माई सांवरे रंग रांची।
साज शिंगार बांध पग घुघर डोक ड़ाज तच णाची।[1]

मीरा की यह रसीली भक्ति प्रेम पथ गामिनी थी।

भक्ति को परम प्रेमा रूपा मानने के बाद नारद ने भक्ति की ग्यारह आसम्तियो के बारे में बताया है। मीरा के काव्य मे वात्सल्य भक्ति को छोडकर सभी आसम्तियो पायी जाती है। मीरा के प्रभु गिरधर नागर बडे कृपा निधान, शरणागत रक्षक, दीनहित कारी परितोद्वारक है। उन्होंने कौरवो की सभा मे संकटग्रस्त द्रौपती की लाज रखी थी।

---

1 मीरा की पदावली–डाकोर के प्रति (भगवान दास तिवारी), पद–83, पृष्ठ–28

कृष्ण की सांवली सूरत विश्व मोहिनी थी। वह मधुर छवि मीरा की ऑखों में बस गयी थी–। वे सुध–बुध खोकर कृष्ण के प्रेंम में तल्लीन हो गयी थी। मीरा का यह विश्वास था कि भगवान के स्मरण से सांसारिक जीवो के कोटि–कोटि के पाप नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये उनका मन सांवरे का नाम रटता रहता था। पूजा शक्ति में अर्चन पाद सेवन और बन्दन सम्मिलित है। मीरा की भक्ति मे यह स्वरूप देखा जा सकता है। मीरा हरि मंदिर मे जाकर दर्शन करती थी, चरणामृत लेती थी, भजन गाती थी और नृत्य करती थी। मीरा की भक्ति की दास्याशक्ति कांता शक्ति बन जाती थी। जिसमे एक आदर्श भारतीय नारी अपने पति की जन्म–जन्म की 'दासी' होती है। इसी अर्थ में मीरा ने अपनी दास्य शक्ति प्रकट की है–

मीरा दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री।"[1]

× × ×

मीरा हरि रे हाथ विकाणी, जणाम–जणम री दाशी।[2]

मीरा ने कृष्ण को अपना मित्र माना। मीरा ने कृष्ण का वरण किया। अत. वे मीरा के जन्म–जन्म के साथी थे। मीरा का जीवन–मरण सर्वस्व उन्ही के हाथों में था। मीरा की भक्ति और काव्य की आत्मा का मूल भाव कान्तासक्ति है। मीरा की भक्ति का यह भाव ऋग्वेद के मत्र से जुडा है। अर्थात–सुख का ज्ञान रखने वाली एक ही मार्ग मे बढने वाली प्रभु प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धि आज प्रभु की सेवा मे लगी हुई है और जैसे स्त्रियॉ अपने पति का आलिंगन करती हैं, वैसे ही मेरी बुद्धि स्वरक्षा के लिए ऐश्वर्य शाली पवित्र प्रभु का आलिंगन कर रही है। वात्सल्य भक्ति मीरा में नहीं पायी गयी है। भव बधन की मुक्ति के लिए आत्म निवेदन, प्रपत्ति या शरणागति आवश्यक है। इसके छ. अंग भक्ति रसज्ञों ने माने है। ये है–अनुकूल का सकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व वरण, रक्षा का विश्वास, आत्म–निक्षेप और कार्पण्य। मीरा के काव्य में ये सभी अंग विद्यमान हैं।

---

1 मीरा काव्य (भगवानदास तिवारी), काशी के प्रति–पद सख्या–73
2. वही – पद सख्या–80

प्रभु प्राप्ति में सहायक साधनों को दृढता पूर्वक अपनाने का शुभ संकल्प अनुकूल का संकल्प है –

बरजी री म्हां श्याम बिणा न रह्यां
साधा संगत हरि सुख पाश्यूं जग शूं दूर रह्या।[1]

भगवद्प्राप्ति के बाधक तत्वों का परित्याग 'प्रतिकूल का त्याग' है। मीरा ने लोक–लाज, कुल–मर्यादा, राणा और उनकी नगरी इसलिए छोड दी कि ये सब उनके कृष्ण प्रेम मे बाधक थे। तथा मन, प्राण, जीवन की समग्र वृत्तियो को 'सावॅरियॉ' से जोड़ लेने के कारण वे औरों से दूर हो गयीं –

चाड़ा अगम वा देस काड़ देख्या डरां।
भरा प्रेम रां होज हंश केड़ा करा।।
सावंड़या शूं प्रीत ओर शू आखड़ाँ।"[2]

प्रभु को त्राता मान रक्षक के रूप में उनका वरण करना गोप्तृत्व वरण है। मीरा ने सुना था कि उनके हरि अधमों उद्धार करते है एव भक्तों के कष्ट का निवारण करते हैं। अत मीरा ने उन्हे अपना जीवन–सर्वश्व मान अपनी सुधि के लिए प्रार्थना की –

थे बिण म्हारे कोण खबर ड़े गोबरधण गिरधारी।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर चरण कंवड़ बड़हारी।[3]

प्रभु के शरण मे जाते ही भक्त के मन मे रक्षा का विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इसी विश्वास पर मीरा हसते–हंसते विष पी गयी –

पग बांध घुघरयां णाच्या रीं।
विखरो प्याड़ों राणा भेज्यां पीवां मीरां हांशा री।[4]

अपने आपको भगवान के हाथो में सौप देना 'आत्म निक्षेप' है। "म्हांरा री गिरधर गोपाड, दूसरा णा कूया" मे मीरा का आत्म निक्षेप प्रकट है।

---

1. मीरा का काव्य–भगवानदास तिवारी, डाकोर के प्रति, पद–60, पृ0–22
2. काशी के प्रति–पद सख्या–71, पृ0–26
3. मीरा का काव्य–भगवानदास तिवारी–पद सख्या–42, पृ0–18
4. मीरा का काव्य–भगवान दास तिवारी–पद सख्या–42, पृ0–19

कार्पण्य का अर्थ है–भक्त का दैन्य, जिसके सहारे वह भगवान की करूणा को उद्बुद्ध कर उसकी धारा अपने ओर मोडने का प्रयास करता है। मीरा की प्रेम–पुकार मे उनका दैन्य साकार हो उठा है। तन्मया शक्ति भक्ति की प्रौढ़ावस्था है, जिसमे भक्त भगवान के रूप, गुण, विभव, लीलादि का ध्यान करते–करते तल्लीन हो जाता है। इस अवस्था मे भक्त को स्वयं का ध्यान रहता है, न लोक–लाज मर्यादा की चिन्ता ही रहती है। यह आत्मानन्द या ब्रम्हानन्द की अवस्था है। मीरा भी अपने कृष्ण के प्रेम में इतना भाव–विभोर हो जाती थी कि हरि मंदिर मे नाचती कीर्तन करती थी। न तो उन्हें स्वयं का ध्यान रहता था न ही लोक मर्यादा की परवाह।

विरहाशक्ति प्रेम साधना का श्रृंगार है। मीरा ने अश्रु जल से सींच–सींच कर प्रेम–बेल बोयी थी। प्रेम की नाव मे बैठकर विरह समुद्र में अकेली तडप रही थी। उनकी अन्तर्वेदना को कोई नहीं जानता था, पर वे चातक और मछली की तरह प्रिय विरह में तडपती रहती थीं –

सखी म्हारी णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारता शब रैण विहाणी हो।।
ज्यूं चातक घण कूं रतां मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरा व्याकुल बिरहणी सुध–बुध बिसराणी हो।।[1]

मीरा साधु–सन्तों के बीच बैठकर अधमोद्धारक भव–भय–भंजक भगवान के नाम, गुण, कथा प्रसगादि का श्रवण करती थी –

म्हा सुव्या हरि अधम उधारण।
अधम उधारण, भव–भय तारण।।[2]

कीर्तन भक्ति का मुख्य अग है। मीरा कृष्ण के प्रेम में भाव–विभोर कीर्तन गाया करती थी। उनका विचार था कि भजन के बिना मानव जीवन नीरस है –

मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, भजण बिणा नर फीका।[3]

---

1. मीरा की प्रामाणिक पदावली–पद–39, पृ0–18
2. मीरा की प्रमाणिक पदावली (भगवानदास), पृ0–16
3. वही, पद सख्या–8, पृ0–11

मीरा के प्रभु ऐसे थे जिनके नाम स्मरण से अनेक पापियो का उद्धार हो गया था। मीरा अपने प्रिय पर आसक्त तो थी ही किन्तु उनके नाम पर लुभा गयी थी –

"पिया थारे णाम डुमाणी जी।"

भव सागर से पार उतरने के लिए मीरा भगवान के सुभग, शीतल, कमलवत कोमल इसी चरणो का स्पर्श करते हुए अपने मन से कहती थी कि –

मन थें परसि हरि रे चरण।
सुभग सीतड़ कवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा हरण।।[1]

गिरधर के पूजन–अर्चन के समय मीरा मोतियों का चौक पूरती थी, उनकी बलिहारी जाती थी। भक्त को भवसागर से पार करने के लिए भगवान ही एक मात्र साधन है। इस कामना से प्रेरित हो मीरा कृष्ण की प्रार्थना करती थी। कृष्ण मीरा के जन्म–जन्म के साथी थे और **"मीरा हरि रे हाथ विकाणि, जणम–जणम री दासी"** थी। मीरा का सख्य भाव 'दोस्ती' नहीं सहजीवन बिताने वाले पति–पत्नि की सहचर्य भावना का द्योतक है –

म्हारो जणम–जणम री साथी।
थाणे ना विशर्‍या दिण–राती।।[2]

मीरा के लिए कृष्ण जीवन प्राण आधार थे। उनके लिए कृष्ण के बिना तीनों लोको मे और कोई सहारा न था। वह कृष्ण प्रेम में रंग गई थी। मीरा के आत्म निवेदन की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे परलोक में नहीं, इस जीवन में, यह लोक मे कृष्ण को आने के लिए और आकर मिलने के लिए आमंत्रित करती हैं तथा उनके बांह पकडकर भवसागर से उबरने की प्रार्थना करती हैं।

मधुरा भक्ति :– जीव–ब्रह्म सम्बन्ध के आधार पर मीरा की कान्तासक्ति मधुरा भक्ति के रूप मे प्रकट हुई है। मीरा द्वारा कृष्ण के लिए स्वामी, पिय–पिया, प्रीतम आदि सम्बोधन इसी दाम्पत्य भाव–मूला मधुरा भक्ति के प्रतीक है। उनका समर्पण, प्रेम, विरह, सेवाभाव और मिलनातुरता सभी मधुरा भक्ति से प्रेरित हैं।

---

1. मीरा की प्रमाणिक पदावली (भगवान दास), पद–14, पृ–12
2 वही, पद–43, पृ–18

मीरा की भक्ति साधना में पारमार्थिक अनुभूति और आत्मोद्धार की विराट चेतना कार्य करती है। उनमे चिन्तनशील आत्मा की भावुक प्रेमिका का एक निष्ठ प्रेम और कर्मठ दार्शनिक का पुरुषार्थ एक साथ परिलक्षित होता है। परम वैष्णवी कृष्णोपासिका के नाते उनकी भक्ति में आत्मा के सनातन नारीत्व की परम्ब्रह्म कृष्ण के प्रति परम प्रगाढ प्रीति प्रकट हुई है। इसीलिए मीरा का काव्य व्यक्तिनिष्ठ अनुभूतियो से ओत–प्रोत है। भावना की दृष्टि से देखा जाय तो मीरा की सम्पूर्ण भक्ति प्रेममूला भक्ति भाव पर आधारित है और यह भक्ति निर्गुण और सगुण भक्ति कवियों में सामान्य रूप से पायी जाती है। यद्यपि रति भाव प्राणी मात्र का प्रबल एवं स्वाभाविक मनोभाव है, किन्तु मानव जीवन में उसकी अत्यधिक आसक्ति सर्वनाश का मूल है। भगवान कृष्ण ने गीता में भी यही बात बतायी है।

लौकिक जीवन इद्रियों के वशीभूत हो विषय चिन्तन करता है, विषय चिन्तन विषयासक्ति बहती है, आसक्ति से विषयों की कामना होती है, कामना पूर्ति में विघ्न पडने से क्रोध एव क्रोध से अविवेक और इससे स्मृति भ्रम एवं स्मृति भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होते ही व्यक्ति श्रेय साधना च्युत हो जाता है। लौकिक विषय वासनाओं को, प्रेम भावनाओं को ईश्वरोन्मुख करना मधुरोपासना है। वृहदारण्यक उपनिषद मे इस प्रकार का कथन किया गया है कि–जिस प्रकार अपनी प्रिया द्वारा आलिगित पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिगित हो जाने पर न कुछ भीतर का विषय जानता है और न बाहर का ही।

इसी भाव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब भक्त एक बार भगवान से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह सांसारिक विषयों से प्रभावित नही होता और वह ईश्वर के आनन्द रस मे सर्वथा मग्न रहता है। इसी भक्ति रस को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। मीरा ने अपने आराध्य कृष्ण से ऐसी ही भक्ति की है। इस प्रकार मीरा की भक्ति दाम्पत्य भाव की ही भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति कबीर आदि सन्तों में भी मिलती है किन्तु मीरा की भक्ति मे बल्लभ दर्शन की निकटता दिखायी देती है। बल्लभाचार्य ने भी भक्ति के नौ सोपान माने। मीरा की

भक्ति मे भी यह सोपान दिखायी देता है। वैष्णव कवियों ने ज्ञान और भक्ति को उच्च स्थान दिया है। भक्ति भी श्रद्धा का विषय है, एवं ईश्वर भी तर्क का नहीं आस्था का विषय है।

दाम्पत्य प्रेम :– प्रेम मानव जीवन की वह मूल वृत्ति है जो भिन्न स्थितियों में भिन्न रूप धारण कर समस्त क्रिया व्यापारों मे व्याप्त रहती है। कहीं यह स्नेह रूप धारण कर मां शिशु के मध्य वात्सल्य का संचार करती है, कहीं स्त्री–पुरुष के मध्य प्रणय के रूप में प्रगाढ़ दाम्पत्य भावना का सृजन करती है और कही यही प्रेम वृत्ति श्रद्धा का मिश्रण होने से भक्ति की संज्ञा से विभूषित होती है एव प्राणी को प्रभु के प्रति उन्मुख कर उसके जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। काम परिधि मे प्रविष्ट होने पर यहीं श्रृंगार का रूप धारण करती है। प्रेम का आलम्बन कोई प्राणी या पदार्थ हो सकता है जबकि भक्ति का आलम्बन कोई अलौकिक उपास्य ही सम्भव है। भक्ति में आत्म तत्व की गति प्रमुख है जबकि श्रृंगार मे शरीरोपभोग की। किन्तु प्रेम हृदयानुभूति का विषय है जिसमें कोई सिद्धान्त, तर्क, दर्शन, औचित्य, अनौचित्य की सीमा मर्यादा नही। इस प्रकार भक्ति एक सम्प्रदाय है, श्रृंगार एक रसधारा है तो प्रेम एक साधना है। मीरा ने इसी अनिवार्य प्रेम पंथ को जीवन यात्रा का माध्यम बनाया।[1]

मीरा के प्रेम का प्रमुख रूप दाम्पत्य ही है। इनमें दास्य भाव का भी प्रेम दिखायी देता है लेकिन उसका स्वरूप गौण है। मीरा के दास्य भाव में भी दाम्पत्य भाव ही प्रमुख है। मीरा ने कृष्ण को अपना पति माना और उसी प्रेम में तल्लीन रहीं। एक स्थान पर मीरा ने अपने को 'गरीब–निवाज' राम की दासी कहा है।[2] दासी होने के नाते वह शरणागत् वत्सल राम की शरण में जाना चाहती है। राम की प्रेम साधना के लिए किसी भौतिक श्रृगार की आवश्यकता नहीं होती। इस लिए मीरा सारे श्रृंगारो का त्याग कर राम की शरण मे चली गयीं। श्रृगार की जगह उन्होंने तिलक धारण किया है –

1. मीरा की प्रम साधना–भुवनेश्वरनाथ मिश्र, पृ0–61
2. मीरा दासी राम की, राम गरीब निवाज–मीरा की पदावली, पृ0–42 मीरा की पदावली, पृ0–42

छापा तिलक बनाइया, तजिया सब सिंगार।
म्हे तो शरणे राम के भल निन्दो संसार।।

मीरा भगवान राम से कहती हैं कि मै अब तुम्हारी शरण में हूँ। जैसे भी हो, मेरा उद्धार करो। मीरा कहती है कि हे स्वामी मैं अबला हूँ, गुण हीन हूँ, तुम सर्व समर्थ हो, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई नहीं विराम। हे प्रभु मेरी लाज की रक्षा कीजिए।

होजी म्हाराज छोड़ मत जाज्यो।
मैं अबला बल नाहिं गोसाई, तुमहिं मेरे सिरताज।
मीरा के प्रभु और न कोई, राखौ अबके लाज।

मीरा के दास्य भाव मे जो दाम्पत्य प्रभाव दिखायी देता है उसके कारण दास्य प्रेम में मुधरता आ गयी है। वात्सल्य भाव का एक अत्यन्त क्षीण रूप मीरा के पदो में दिखायी देता है। इस वात्सल्य की आश्रया यशोदा ही हैं और उनके बाल रूप के प्रति दर्शन रस से आकर्षित गोपियॉ उस वात्सल्य की धारा को माधुर्य की ओर मोड रही है। ऐसा ही कुछ वातावरण मीरा के वात्सल्य के पदों में दिखाई देता है। इस प्रकार दाम्पत्य प्रेम की प्रमुखता को आधार मानकर ही मीरा के प्रेम का चित्रण किया गया है। प्रेम में डूबा हुआ ह्रदय संसार मे चारो ओर दृष्टि दौडाता है, परन्तु अपने प्रेम पात्र जैसा उसे कुछ भी दिखता नहीं। प्रेमी भगवान के हाथ बिख जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर जीता है –

"मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।"[1]

मीरा के दाम्पत्य प्रेम मे विरह प्रेम और भी व्यापक बन पडा है। इसमें वैयक्ति जीवन का संस्पर्श दिखाई देता है। मुधरा भक्ति प्रेमाभक्ति का ही एक रूप है। भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भाव का अभिप्राय है–भक्त का भगवान के प्रति दाम्पत्य भाव जिसका मूल रति (प्रेम अथवा आसक्ति) रति है। वैष्णव काव्य शास्त्रकारों ने इस देव विषयक रति के पॉच भेद माने हैं–शान्ति, प्रीति, वात्सल्य और माधुर्य। जिसमें माधुर्य का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि इसी मे भक्त और भगवान के अनन्यता की पराकाष्ठा सम्भव है। मीरा में अपने इष्ट के प्रति इसी अनन्य प्रेम का दर्शन

---

1. मीराबाई और उनकी पदावली (देसराज सिह भाटी) पद–29, पृ–182

होता है। मीरा के आलम्बन (प्रियतम) वह नटवर नागर श्याम हैं जो भक्तों के परम पुरुष गोपो का स्वजन सखा, आर्तजनो का सहारा और गोपियो का कन्हैया नाम से प्रख्यात है। भक्त कवियों और गायकों की सुललित वाणी जब इस मन मोहनी मूर्ति की अभ्यर्थना से मुखातिब हुई तो उनके प्रेमाभिभूत हृदय से भावों की ऐसा निर्झरणी प्रवाहित हुई जिसमें कोटि–कोटि जन सिक्त होकर झूम उठे। ऐसे ही हृदयो मे एक मीरा का नारी–हृदय भी था।"[1]

मीरा का कृष्ण के साथ प्रणय प्रेम उनके जीवन मे इस कदर व्याप्त हो गया है कि उसका रूप विरह का हो गया है। वो प्रेम मे दीवानी है, उनके इस दर्द को कृष्ण के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है –

हेरी मै तो दरद दीवाणी, मेरो दरद न जाणै कोय।[2]

मीरा की इसी अनन्य भक्ति को देखकर कुछ भक्तों ने मीरा को 'राधा का अवतार' कहा है। मानों उसकी श्याम के प्रति युग–युग का प्रेम अतृप्त ही रहा इसलिये हर जन्म मे वह उसी के गीत गाती उसी के लिये दीवानी बनी भटकती हैं।

तुम देख्या बिन कल न परत है, हियो फटक मोरी छाती।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे, पूर्व जन्म के साथी।

जहॉ आलम्बन का स्वरूप मीरा के काव्य में अनूठा बन पडा है वही आश्रत्व का भी अद्‌भुत बन पडा है। मीरा का अपने प्रेम के प्रति सशक्त क्राति, उनके आत्मबल एवं दृढ इच्छा शक्ति का ही परिणाम है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि लौकिक मान– अपमान का भय व्यक्ति को अनेक मानसिक कुठाओ से जकड देती है। मीरा ने इन सभी स्तरों का अतिक्रमत करके अपने व्यक्तित्व को सर्वथा स्वाभाविक वातावरण प्रदान किया । और मीरा ने दाम्पत्य भाव से उनका वरण किया है। योग और ज्ञान मन को प्रियतम में एकाग्र करने के ही साधन है।

---

1. मीराबाई की काव्य साधना – डॉ0 राम प्रकाश, पृ–62
2. मीरा की पदावली – पद सख्या–96, पृ0–251

"जोगियो चतुर सुजण सजनी ध्यावै शंकर" सेस।[1] कबीर के सम्बन्ध में इस तरह कहा जा सकता है कबीर ने ससार को मिथ्या कहा जिसका परिणाम निराशा होता है। यह मोहमाया का ससार प्रेमी साधक को दिग्भ्रमित कर देता है सद्गुरू साधक को संसार से हटाकर परम साध्य की ओर उन्मुख करता है। इन्ही मिथ्या रूपों का परित्याग करके मीरा सच्ची योगिनी बनी। इसी प्रकार मीरा का रूप भी लोकोत्तर हो जाता है राधा के रूप मे मीरा का चित्रण आया है। मीरा का राधामय होते-होते राधा में पूर्ण तादात्म्य हो गया। इस प्रकार मीरा ने एक नवीन आर्कषण प्रदान किया। मीरा गिरधर की प्रेमिका बनकर उसके हाथें में बिक गयी है-

"मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी"। मीरा अपने आपको कृष्ण के प्रति समर्पित कर देती हैं। अपने प्रियतम की सुखद अनुभूति का चित्रण कबीर आदि सन्तो ने किया है जबकि अरुप की साधना मे रूप के आर्कषण का प्रश्न ही नहीं उठता लेकिन मीरा ने कृष्ण के रूप की कल्पना करके उनसे प्रेम किया। कृष्ण के चरण को छोडकर जितने भी अंगों का वर्णन किया है वह रूप सौन्दर्य का ही दृष्टि से किया गया है । प्रियतम के कमर में छुद्रघंटिका सशोभित हो रही है। हलॉकि कृष्ण के ये बालरूप का आभास दे रही है। लेकिन मीरा अधिकतर कृष्ण के प्रत्येक रूप में अपनी माधुर्य आसक्ति का ही आरोप करती है -

छुद्र घंटिका कटि तट शोभित, नूपुर सबद रसाल।"[2]

मीरा जब कृष्ण को देखती है तो उनकी मुस्कान अलग ही जादू बिखेर रही है। मानव जीवन में 'राग' या प्रेम का विशेष महत्व होता है। क्योंकि यही जीवन और उसके आकर्षण के प्रति आसक्ति का मूल कारण है। राग के ही कारण मनुष्य अपने जीवन में कर्म की ओर उन्मुख होता है। इसी लिए प्रेम को जीवन की मूल प्रवृत्ति स्वीकार किया गया है। प्रेम भावना का उद्भव जिसमे होता है। वह हमारी आत्मा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों को सुख पहुँचना ही प्रेम का मूल उद्देश्य रहा है। द्वैत में अद्वैत भाव उत्पन्न कर एकाकार होने की प्रबल इच्छा,

---

1. "भगवान के अर्थ मे 'योगी शब्द का प्रयोग हुआ है। जो शेष और शिव का भी साध्य है।" मीराबाई और उनकी पदावली-पद संख्या-147, पृ0-301
2. मीरा की पदावली - पद संख्या-3

कबीर, जायसी, तुलसी, सूर एवं मीरा में देखी जा सकती है। प्रेम की सभी मनोदशाओ का वर्णन प्रेमा भक्ति मे दिखायी देता है। जिसमें दैन्य वात्सल्य संख्य एवं माधुर्य भाव प्रमुख होता है। प्रेमा भक्ति में माधुर्य भाव की भक्ति को सबसे उत्तम माना गया है। क्योंकि इसमें सभी भावों का सम्मिलन हो जाता है। माधुर्य भाव की भक्ति, श्रृंगार रस का आध्यात्मिक रूप है। इसी श्रृगार रस को जब ब्रह्म के सन्दर्भ में देखा जाता है तो वह उज्ज्वल रस कहलाता है। इसी रस को ब्रह्मनन्द सहोदर भी कहा जाता है। इसे प्राप्त कर लेने के बाद कुछ अप्राप्त नहीं रह जाता है। शंकराचार्य ने इसी आनन्द (मुक्ति) को 'अप्राप्तत्व की प्राप्ति' कहा है। लेकिन सभी भक्त कवि अपनी मुक्ति भक्ति में ही मानते है। वो शंकर तरह सर्वदा के लिए ब्रह्म में मिलना नहीं चाहते। वे ईश्वर से यही निवेदन करते हैं कि–वे बार–बार मनुष्य रूप में इस संसार मे आये और ईश्वर की भक्ति करे। ईश्वर की भक्ति में लीन रहने मे ही वे अपनी मुक्ति मानते है।

मीरा की भक्ति मूलत. कान्ता भाव की भक्ति है। उन्होने कृष्ण को पति मानकर प्रेम किया। मीरा का प्रेम गोपियों जैसा था एव उनके प्रेम के आलम्बन कृष्ण थे। मीरा के प्रेम की विशेषता थी कि प्रेम की उत्पत्ति उनके हृदय में उत्पन्न हो गयी थी। यह प्रेम भक्ति निरन्तर दृढ होती गयी। इस प्रकार मीरा के काव्य में एक ही भाव की प्रधानता है। और उसी लक्ष्य तक पहुॅचने के लिए अन्य भावो का प्रादुर्भाव हुआ है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो मे–"मीरा के जीवन भर में केवल एक भाव है, एक ही रस है और एक ही रग है,. उसी से उनकी सारी अन्तरात्मा व्याप्त है और उसी को आत्म प्रदर्शन द्वारा प्रकट करने की चेष्टा मे वे पद रचना की ओर स्वाभवत प्रवृत्ति हो जाती है। मीराबाई के हृदय पर उनके जीवन भर एक ही भावना की लहरें हिलोरें मारती रहीं, वे सदा समझती रहीं कि मै गिरधर लाल की अपनी हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी।"[1]

इन्द्रियों के द्वारा प्रेम की अभिव्यक्ति होने के बाद भी उसका मूल स्रोत हमारी आत्मा है। प्रेम का अर्थ है–भाव–बन्धन। अतः प्रेम ईश्वर के प्रति एक अनन्य

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – 'मीराबाई की पदावली' भूमिका पृ0–32 (हि0सा0स0 प्रयाग, सन्–1964)

आकर्षण है। इस आकर्षण का कारण ईश्वर का सौन्दर्यानुभूति है। मीरा भी अपने प्रेम को भाव–बन्धन से दृढ़ बनाना चाहती हैं।

"मैं तो गिरधर के घर जाऊ।"

इस प्रकार अपना सर्वस्व त्यागकर मीरा प्रियतम के अधीन हो जाना चाहती है। माधुर्य प्रेम के अन्दर आसक्ति का भाव रहता है लेकिन वह ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाने के कारण मर्यादित हो जाता है। "जिस प्रकार की रस सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव) सामग्री श्रृगार रस की होती है, उसी प्रकार की रस सामग्री मधुर रस की है, अन्तर केवल इतना है कि मधुर रस मे जो प्रेम पति भाव से किया जाता है, उसका आलम्बन लोक नायक न हो कर ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है।"[1] मीरा ने प्रारम्भ से ही कृष्ण से एक भाव के रूप मे उपासना की। अन्य रूप उनके काव्य मे गौण हो गये है। तभी कहती है –

"म्हारां री गिरधर गोपाल, दूसरा न कूंया।"[2]

मीरा का उद्‌देश्य अपने प्रियतम को रिझाना तथा उन्हें आनन्दित करना था। वे अपने प्रेम के पीछे सब कुछ त्यागने को तत्पर हैं –

"महल अटारी हम सब त्यागा, [illegible] थारो बसनौ हार।"

मीरा की सम्पूर्ण जीवन इच्छा उनके प्रियतम के साथ अन्तर्भूत हो गयी। मीरा का पृथक अस्तित्व कुछ शेष न रहा। इस प्रकार मीरा की प्रेमासक्ति के लिये रूप ही आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। आलम्बन का एक सुन्दर चित्र इस प्रकार है –

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन बांकी चितवन मंद मुसकानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ, चरण कमल मीरा लपटानी।"[3]

वे नयन मोर मुकुट पीताम्बर धारण करने वाले परम सुन्दर प्रियतम की ओर बरबस आकर्षित हो जाते है। ये ऑखें दर्शन की इतनी प्यासी हैं कि अपने कृष्ण के

---

1. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, भाग–2, पृ0–622
2. मीरा की पदावली – पद सख्या–8
3. मीरा की पदावली – पद सख्या–8

दर्शन के लिये दिन रात बाट देखती रहती है और इस तरह वे अपनी दश्नन साधना मे लगी हुई है –

"आँखयां तरशां दरसण प्याशी।"[1]

मीरा कहती है कि कृष्ण की परम मधुरमूर्ति आखो के माध्यम से मेरे हृदय मे आकर स्थिर हो गयी। इस प्रकार मीरा का आलम्बन सर्वांग सुन्दन है। इसलिए मीरा गिरधर गोपाल के अंग–अंग पर बलि जा रही है।

गिरधर के अंग–अंग मीरा, बलिजाई।[2]

इस प्रकार मीरा के परम आराध्य की कल्पना की पृष्ठिभूमि मे कृष्ण का परम्परागत रूप है। कृष्ण का समग्र रूप मीरा की अनुभूति में अपने समस्त उल्लास और वैभव के साथ समाविष्ट हैं।

स्वकीया या परकीया भाव :– बगाली वैष्णव साहित्य में राधा के प्रेम को परकीया प्रेम ही माना गया है लेकिन ब्रज भक्त कवियों ने ब्रह्म वैवर्तपुराण की पद्धति पर राधा और कृष्ण का प्रेम स्वकीया प्रेम ही माना है। सूर ने राधा और कृष्ण के विवाह का वर्णन कई पदों में किया है। इसी प्रकार मीरा के प्रेम मे स्वीकीया भाव ही दिखता है। लौकिक दृष्टि से पतिव्रता स्त्री के आदर्शानुसार–मीरा को अपने सांसारिक पति को छोडकर किसी अन्य से प्रेम करके सती के आदर्श से वंचित नही होना चाहिए था। इसीलिये कुछ विचारक मीरा की प्रेम पद्धति मे परकीया तत्वों की खोज करते है। पर मीरा के अनेक पदो में इस अलौकिक परिचय की चर्चा मिलती है। मीरा के प्रेम–विवाह मे लोकगीत की भूमिका बडी सन्दर बन पड़ा है। एक दिन मीरा स्वप्न में अपनी मॉ से कहती है कि "स्वप्न मे मैने 'गिरधर गोपाल' से विवाह किया। विवाह से सम्बन्धित सभी रीतियॉ स्वप्न मे ही पूरी हो गयी और मेरा सुहाग अचल हो गया है–

माई म्हांने सुपने में, वरण गया जगदीश।
सोती को सुपना आवियाजी, सुपना विस्वाबीस"[3]

---

1 मीरा ग्रथ – पद सख्या–8, पृ0–85
2 मीरा की पदावली – पद सख्या–9
3 मीरा की पदावली – पद सख्या–26, पृ0–14

कई स्थान पर मीरा ने अपने आपको सुहागिन कहा है। लोक में विवाहिता स्त्री को ही सुहागिन माना जाता है। इस प्रकार मीरा के प्रेम को कबीर की तरह स्वकीया भाव की परम्परा मे मानना ही अधिक सगत दिखाई देता है। जीवन के घटनाक्रम के अनुसार भी "गिरधर गोपाल की बाल–परिणीता मीरा को राधा के साथ लौकिक परिस्थितियो ने सम्बद्ध कर दिया था पर जब यह लौकिक बन्धन दैव इच्छा से टूट गया तब यथार्थ स्वकीया प्रेम का पुनर्जीवन हुआ। गोपियों के परकीया प्रेम के पीछे भी यही बात थी। लौकिक पतियों से विवाह भी एक सांसारिक कृत्य था जो शुद्ध पारलौकिक स्वकीयात्व को विचलित नहीं कर सकता–**"जणम जणम री क्वारी"** कहकर मीरा ने इसी लोकोत्तर स्वकीयात्व की ओर संकेत किया है।

स्वीकया प्रेम को अभेद का प्रतीक भी माना गया हें पति–पत्नी धार्मिक दृष्टि से एक ही हैं। इसी को आंगिक भाव से शास्त्रों मे निरूपित किया है। अर्धनारीश्वर की अवधारणा इसी भाव का साकार रूप है। आध्यात्मिक दृष्टि से सीता और राम भिन्न प्रतीत होते हुये भी एक है। बालकाण्ड मे तुलसीदास ने कहा है कि – "गिरा अरथ जलबीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न।" इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो मीरा और गिरधर गोपाल मे भी अभेद हो जाता है। मीरा स्वयं अपने को गिरधर गोपाल से सूर्य–धूप न्याय से अभिन्न बताया है –

तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज धामा।[1]
मीरा के मन और न चाहे, चाहे सुन्दर श्यामा।।

माधुर्य भाव की अंतिम परिणति ही अभेद भाव की सूचक है। इसलिये माधुर्य भाव के आदर्श की रूप में राधा को प्रतिष्ठित किया गया है। मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति है। मीरा ने अपनी भक्ति को एक स्थान पर "भगति रसीली" कहा है। सूर और तुलसी की भॉति मीरा की भक्ति भी अनन्यता पर आधारित है। कृष्ण के प्रति अपने अनन्य भाव को मीरा ने अनेक स्थानो पर अभिव्यक्त किया है। एक स्थान पर वे कहती है कि–"तीनो लोकों में तुम्हारे बिना मेरा कोई आश्रय नही है। इस सम्बन्ध को अंश–अंशी सम्बन्ध कहा गया है। मीरा ने भी आध्यात्मिक तत्व को अपने अनन्य भाव के साथ सम्बद्ध किया है।

---

1 मीरा की पदावली – पद सख्या–115, पृ0 – 115

इस प्रकार मीरा के प्रेम का आदर्श गोपिकायें या राधा थी। प्रेम पथ पर चलने म वे निरंकुश और निडर थी। रसिक शिरोमणि कृष्ण की लीलाओ का गान करना उनकी वाणी का धर्म था। समस्त बन्धनों को तोड़–ताडकर गिरधर के प्रेम मे पगी मीरा भक्ति की ध्वजा लिये हुये प्रेम–पथ पर चलती रही।[1]

विरह प्रेम :– प्रेम से प्रादुर्भूत भक्त प्रेम के लिये ब्याकुल रहता है, तथा प्रेमी में लीन हो जाने के लिये छटपटाता रहता है, जहॉ से वह आया है वहीं जाने का प्रयास करता है। प्रेम–तत्व का यह सहज गुण है कि यह प्रेमी और प्रेमास्पद को एक हो जाने की प्रेरणा प्रदान करता है। आराधक अपने आराध्य के साथ आत्मीयता स्थापित करना चाहता है तथा उनके सानिध्य की कल्पना मे आत्मविभोर हो आनन्दित होता है और विरह में व्याकुल हो रुदन करता है।, जिससे उसके भावों की रागात्मक दृढता बढती जाती है। मीरा के प्रेम गीतों की मूल प्रेरणा पीडा में ही है। इस पीडा का साम्राज्य उन्हे अपने जीवन के उदय काल मे ही प्राप्त हो गया था। चढती अवस्था में विरह का हो जाना मीरा के विरह की ऊँचाई को ही सिद्ध करता है। मीरा ने माधुर्य प्रेम के सयोग और वियोग दोनों पक्षों को अपनाया है, किन्तु उनकी वृत्ति विरह निवेदन में ही अधिक रमी है। मीरा के विरह का क्या तात्पर्य है? जबकि वे मानसिक रूप से पति वरण कर चुकी, तब विरह क्यों उत्पन्न हुआ ? इन सबके समाधान के लिये विरह का मनोविाान जानना आवश्यक है।

जीवनेच्छा की सतुष्टि का विषय, वस्तु नही होती, व्यक्ति होता है। अपने आत्मा का साक्षात्कार ही हम दूसरे आत्मा में करना चाहते हैं। विषयी और विषय दोनों चेतन होने के कारण एक दूसरे के विषय और विषयी बन जाते है। दोनों का हित इस प्रक्रिया मे अपेक्षित होता है। दोनो में किसी वाह्य व्यवधान के कारण हित का मार्ग कुठित होने से जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें जीवनेच्छा या तो अतृप्त रहती है या तो तृप्ति के लिये व्याकुल। व्याकुलता की यह पीडा जिन भाव स्थितियो को जन्म देती है, उसी को साहित्य में विरह कहते हैं।

1. भक्तमाल (मीरा की प्रेम साधना, पृ0 18 से)

मनोविाान में विरह जैसा कोई भाव नहीं है। वहाँ विरह भाव न होकर प्रेमियो के विलग होने से उत्पन्न वह परिस्थिति विशेष है, जिसमे जीवनेच्छा की संतुष्टि का मार्ग किसी कारण वश अवरुद्ध हो जाता है। संतृप्ति में सहायक सिद्ध होने वाली हृदय की उन भावनाओं के दमन से अनेक भाव स्थितियो का जन्म होता है। वह स्थितियॉ—नैराश्य उदासीनता, मान, ईष्या परपीडन और उन्नयन है। इस प्रकार विरह एक जिज्ञासा है जो भौतिक प्रेम की भूमि पर नायक और नायिका तथा आध्यात्मिक भूमि पर भवन के हृदय मे उद्भूत होता है। और उसकी प्राप्ति हुये बिना साधक को शान्ति नहीं मिलती। विरह को प्रेम की जागृत अवस्था भी कहा गया है। प्रेमास्पद के अभाव मे प्रेमी के लिये संसार के समस्त उपादान निस्सार है। मिलन की अवस्था में प्रेमी व भक्त अपनी स्थिति भूल जाता है और संसार का प्रत्येक पदार्थ उसके लिये सुन्दर और पवितत्र हो जाता है, क्योंकि यह संसार वस्तुत· उनके आराध्य देव का होता है। प्रेम—दर्शन के तत्वज्ञों ने विरह को प्रेम की शाश्वत गति कहा है। वस्तुतः विरह ही प्रेम का जीवन है।

मीरा का प्रेम आत्मप्रेम से प्रस्फुटित हुआ था। यही कारण है कि तात्विक दृष्टि से मीरा का अपने प्रियतम से कभी वियोग नही हुआ। उनमें मिलन—विरह से परे समरसता की स्थिति बनी रही। प्रेम को नित्य नूतन बनाये रखने के लिये सूक्ष्म विरह की उद्भावना की गई है। मीरा के जीवन मे आदि से अंत तक विरह ही विरह है। मीरा सच्ची विरहिणी थी। वे सासारिक बन्धनों की अच्छाई व बुराई परख चुकी थी। युवावस्था में ही विपत्तियों ने उनके हृदय को कुंदन बना दिया था, परिवार का ममत्व भी शेष नही बचा था। वे तो सभी विपत्तियों को झेलते हुये भी अपने आराध्य प्रियतम कृष्ण मे लीन रहना चाहती थीं। यद्यपि वे राजपरिवार की विवाहिता थी पर उन्होने उसे कभी मान्यता न दी और श्रीकृष्ण के प्रति ही दाम्पत्य भाव से समर्पित होती रहीं, जिसके कारण उनको मान—मर्यादा आदि को भी तोडना और छोडना पडा और वे अपने प्रिय कृष्ण में इतनी अनुरक्त हो गयी कि उन्हें कृष्ण का क्षणिक वियोग भी असह्य हो गया। उन्होने अपने को उन श्रीकृष्ण की एक अतरंग गोपी के स्थान पर समझ लिया था और इसी कारण पद में उक्त भाव की पुष्टि हो जाती है —

कहॉ—कहॉ जाऊँ तेरे साथ कन्हैया।
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में गहै लीणों मेरो हाथ।।

मीरा के विरह के आलम्बन यद्यपि गिरधर गोपाल ही है फिर जोगी और गुरु का विरह भी मीरा के हृदय का मथन किये डाल रहा है। यदि मीरा अपने को विरह के अतिरेक में योगिनी के रूप में कल्पित करती है तो गिरधर गोपाल को योगी के रूप में कल्पित करना स्वाभाविक हो जाता है। गुरू को स्वय भगवान के रूप मे मानने की भावना अनेक वैष्णव सम्प्रदायों मे भी मिलती है। स्वयं सूर वल्लभाचार्य और कृष्ण मे अभेद मानते थे। हो सकता है कि इसी विचारधारा के कारण योगी और गुरू को प्रियतम रूप में मानकर उनके संबन्ध की विरह—वेदना मीरा के गीतो में समा गयी हो।[1] एक स्थान पर जोगी के स्वभाव का उल्लेख करते हुये मीरा ने उसकी अन्यमनस्यता की चर्चा की है। उसी पद की अंतिम पंक्ति में श्याम मनोहर के नाम का उल्लेख भी है। यह निर्मम योगी मीरा के मधुर वचनों को सुनकर भी प्रेम का संबध नही जोडता। योगी किसका मीत हुआ है—

जावादे—जावादे जोगी किसका मीत।
सदा उदासी रहै मोरि सजनी, निपट अटपटी रीत।[2]

जोगी को जब किसी से प्रेम ही नहीं तो वह यदि योगिनी को अधबिच छोड जाये तो कोई आश्चर्य नही ? वह अडिग आसन मानकर ऐसा बैठ गया है कि यागिनी को भुला ही दिया है।[3] अब योगी की बाट जोहना ही हाथ रह गया है, किन्तु जोगी के चले जाने का उत्तरादायित्व भोली—भाली मीरा पर ही है। यदि मीरा चाहती तो उसे रख सकती थी। कृष्ण का सदैव के लिये ब्रज को परित्याग करके चला जाना उनकी योगी की स्थिति और वैराग्य की भावना को ही स्पष्ट करता है। जब उद्धव उनको अन्तर्यामी बताते है तो गोपियॉ कहती है कि यदि वह अन्तर्यामी होते तो बिरहासुओं मे वृज को क्यों डुबोने देते ? किन्तु वैष्णवी भावना के विपरीत योगी के वेश का वर्णन भी मीरा ने निर्गुनिया योगी की भॉति किया है।

---

1. हिन्दी काव्य मे प्रेम भावना — डॉ0 रामकुमार खण्डेलवाल, पृ0—305
2 मीरा और उनकी पदावली — देशराज सिह भाटी, पद स0—83, पृ0—252
3 मीरा और उनकी पदावली — देशराज सिह भाटी, पद सं0—60, पृ0—240

योगी के प्रति जो विरह निवेदन है उसमें मीरा की वेदना बहुत ही उत्कृष्ट है और उसमें लोक शैली के प्रयोग ने सजीवता उत्पन्न कर दी है, किन्तु योगी के साथ गुरु की विरह की भी बात कही गयी है। सद्गुरू से भी प्रेम के निर्वाह के लिए मीरा अनुनय करती हैं। सद्गुरु या योगी मे दो सम्मोहन है। रूपगत सम्मोहन और ज्ञान से उत्पन्न सम्मोहन। किन्तु हरि या गिरधर गोपाल के साथ जो विरहानुभूति सम्बद्ध है। उसमे ज्ञान और वैरागय से उत्पन्न सम्मोहन का उल्लेख नहीं है। वहॉ मात्र रूप सम्मोहन ही मिलता है। मीरा के अधिकांश पद गिरधर गोपाल के नाम से विशेष रूप से आये हैं। दर्शन के पश्चात या गुरु–मुख से, प्रियतम का आभास पाकर, मीरा विरह का अनुभव करने लगती हैं। विरह की पैनी धार पर होकर मीरा को प्रियतम की ओर चलना पडा।[1] विरह का बाण हृदय के आर–पार विध गया है। अत विरहिणी रात–दिन बेचैन रहती है। उसे एक छण प्रियतम विस्मृत नहीं होते।

प्रीतम के बिना अब प्रियतमा से रहा नही जाता, खान–पान भी अब भाता नहीं है। विरह ने एक ऐसा मीठा दर्द मीरा के हृदय मे भर दिया है कि मीरा उस दर्द की मादकता से दीवानी हो गयी है किन्तु मीरा यह भी नहीं जानती है कि इस दर्द की दवा कहॉ है ? इस दर्द को पहचानने वाला वैद्य कौन है ?

हेरी मैं तो प्रेम दीवानी, मेरा दर्द न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि मिलना होय।।

दर्द की मारी बन–बन डोलूं वैद मिला नहि कोय,
मीरा की प्रभु पीर–मिटैगी, जब वैद सावॅंलिया होय।[2]

मीरा विरह मे जलकर अत्यन्त दुर्बल हो गयी। पियतम ऐसे निर्मम हैं कि विरह के अगाध अनन्त सागर में प्रेम की नाव चला गये और स्वयं छोडकर चल दिये। और यह भी नही बताया कि कब मिलना हो सकेगा। जागरण की ये रातें प्रियतम का पथ देखते ही बीतती हैं। जिस प्रकार एक चातक निर्दय धन की रट

---

1 "कहॉं करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन विरह की धार।" मीरा की पदावली–पद स0–93
2. "मीरा और उनकी पदावली–देशराज सिह भाटी, पद–96, पृ0–267

लगाये रहता है, मछली पानी से विमुक्त होकर जैसे तडपती है, व्याकुल विरहिणी उसी तरह तडप रही है। मीरा विष खाकर मर भी नही सकती क्योंकि प्रियतम से मिलने की आशा इतनी बलवती मोहक है कि वह मरना नही चाहती। यह सेज जो समस्त सुखों की खान भी थी वह विरह मे भयंकर लगने लगी है। जिस मंदिर में जगमगाती थी वह मंदिर अब निबिड अंधकार से घिरा है। कभी मीरा को सूनी सेज अलोनी लगती है और कभी विष के समान प्राण घातक, क्योकि विरहिणी जब इस पर सयन करना चाहती है, तब उसी प्रकार सिसकती रहती है, जिस प्रकार रहती है, जिस प्रकार विष खाया हुआ व्यक्ति –

सूनी सेज जहर ज्यों लागे, सुसक–सुसक जिय जावै।[1]

प्रत्येक उत्सव अनुष्ठान भी प्रीतम के बिना सूना लगता है। राग–रंग भरी होली आयी है। जब प्रीतम ही नहीं तो होली किसके साथ खेली जाय। इस प्रकार श्रावण भी सूना हो गया है। मतवाले बादल तो आते है। दादुर, पपीहा, कोयल सभी के शब्द कानो में पडते है। पर विरह में सभी निरर्थक है। सारी सृष्टि मिलन की उत्कंठा मे साज सजा रही है। इस महामिलन के मंगल सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छेडे हुये हैं। चारो ओर रिमझिम बूंदे बरस रही है, दामिनी भी अपनी लज्जा छोड़कर अपने प्राणेस धनश्याम से मिल रही है। अपने पति से मिलने के लिए पृथ्वी ने भी नयी साडी पहन ली है। ऐसे समय में जब सारा चराचर मिलन की मिलन रस में सरोबार हो रहा है, मीरा को प्राण बल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। मीरा में यह आशा दृढ हो जाती है कि अब कृष्ण के दर्शन होंगे। प्रेम की इसी वर्षा मे कबीर भीग रहे है –

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आई।
अन्तर भीगी आत्मा, हरी–भरी बनराई।।

उस निष्ठुर के लिए सारी रात जगकर बिहान किया फिर भी वह नहीं लौटा।

सखी म्हारी नींद नसानी हो,
प्रिय रो पंथ निहारत सब, रैण बिहानी हो।"[2]

---

1 मीरा की पदावली, पद–79,
2 "मीरा और उनकी पदावली–देशराज सिह भाटी, पद स0–118, पृ0–292

प्रीतम ने कोई सदेश नही भेजा। विरहिणी स्वयं प्रीतम को पत्र लिखना चाहती है किन्तु पत्र कैसे लिखें ? हाथ कॉपने लगता है, हृदय धडकने लगता है। पत्र में कोई बात ही नही बन पाती। यदि किसी प्रकार पत्र लिख दिया जाय तो पत्र ले कौन जायेगा ? तब विरहिणी को काला कौआ दिखा। वह कितना स्वाभाविक पत्र वाहक है। उसमें कौवे पत्र से ले जाने के लिए कहा और मौखिक रूप से जो संदेश देना है, वह भी समझा दिया –

प्रियतम कूं पतिया लिखू, कऊंवा तू ले जाई ।

× × ×

मीरा दासी ब्याकुल रे, पिव–पिव करत विहाय।
वेग मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम बिन रहयो न जाई।।[1]

विरहिणी का हृदय एक संदेह से ब्याकुल रहता है। उसे रह–रहकर अपने प्रीतम की प्रेम की सच्चाई पर संदेह हो जाता है। दूसरो के साथ प्रेम जोडने के कारण ही अवधि समाप्त हो गयी है। विरहिन मीरा कहती है कि अब मेरा अपराध क्षमा कीजिये और कृपा कर मेरी गली में आकर दर्शन दीजिए।

कूण सखी सूं तुम रंगराते, हमसूं अधिक पियारी।
किरया कर मोहि दर्शन दीज्यों सब तकसीर बिसारी।[2]

सूर की गोपियों ने कुब्जा के प्रेम में फॅसे हुये कृष्ण के प्रति ऐसी ही भावनायें व्यक्त की है। मीरा ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। मीरा को अब अपने गिरधर के प्रति विश्वास भी हो गया है। अपने को गिरधर के प्रति समर्पित कर देने की अभिलाषा भी उसमे उत्पन्न हो गयी है। कबीर अपने को राम का कुत्ता कहते हैं तो मीरा भी अपने गिरधर के हाथ बिक जाने को तैयार है –

"जहॉ बैठावे तित बैठूँ बेचै तो बिक जाऊं"

अंत मे मीरा विरह की दाह में तप्त होकर उज्जवल बनती हुई विविध आशा अभिलाषाओं से आन्दोलित होती हुई प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचती है जिसे मिलन कहते हैं। अब तो समस्त जगत जैसे प्रसन्न, हर्ष और आनन्द से रंजित हो उठा है।

---

1 "मीरा की पदावली, पद स0–84
2 "मीरा की पदावली, पद स0–114

समस्त प्रकृति जो विरह मे दु:खद थी अब भी सृष्टि कर रही है। अभी पियतम नही आये उनके आने की संभावना हुई है। जिस होली ने विरहिणी को कभी सताया था वही आज विविध रंगों के साथ आकर्षण रूप में आई है। अब प्रियतम से एकमेक होने का क्षण है। अब उसे अपने अस्तित्व मे ही अपने प्रियतम का आभास होने लगा। मीरा का विरह दूर हुआ। अब उसे अपना प्रियतम हृदय मे ही दिखाई दिया–

"जिनका पिया पददेश बसत है, लिख भेजैं लिखपाती।
मेरा पिया मेरे हिय बसत है, ना कुहँ आती जाती ।।

इस प्रकार मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का प्रेम है जिसमे भगवान कृष्ण की प्रियतम के रूप में उपासना की गयी है। भक्ति प्रेम मे परमात्मा को पति मानकर उसके चरणों में अपने को न्यौछावर कर देती है। पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती हैं। भगवान के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय सम्बन्ध मे कही किसी प्रकार का छिपाव नहीं रहता, कोई वस्तु अदेय नही रह जाती। भगवद्विषयक राग में किसी प्रकार की सीमा या बन्धन है ही नहीं। इस प्रकार मीरा एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी। इसी प्रेम के द्वारा उन्होंने गिरधर गोपाल को पा लिया।

–5

भक्ति काव्य में प्रेम वर्णन के विविध प्रतीक

सन्त एव भक्त कवियों में प्रेम की अभिव्यक्ति, प्रतीको के माध्यम से हुयी है। प्रेम वर्णन के विविध रूपों को कबीर, जायसी, तुलसी, सूर एवं मीरा में मुख्य रूप से विवेचित किया गया है। लेकिन इससे पहले प्रतीक के स्वरुप एवं परम्परा को समझना यहाँ आवश्यक समझा गया है।

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है चिन्ह। सभी प्रतीक एक प्रकार के सकेत या चिन्ह ही हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ मे प्रतीक केवल चिन्ह नहीं, चिन्ह से भी कुछ और अधिक हैं।[1] या दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी प्रतीक चिन्ह तो होते हैं किन्तु सभी चिन्ह प्रतीक नहीं होते। किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।[2] पाश्चातय विद्वानों ने प्रतीक की परिभाषा दी है–"प्रतीक किसी विचार, भाव या अनुभव का दृष्टिगत या श्रवणीय चिन्ह या संकेत है–जो उन तथ्यों को स्पष्ट करता है जो केवल मस्तिष्क, कल्पना या निरीक्षण के क्षेत्र में आने वाली ही वस्तुओं के रूप में ग्रहण किये जाते हैं।"

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि–प्रतीक अप्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इनके प्रयोग से अभीष्ट अर्थ संकेतित किया जाता है। परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि–'प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। इन प्रतीकों की आवश्यकता आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रसंग मे विशेष रूप से होती है।

वेदों में साम्यमूलक एव विरोधमूलक दोनों प्रकार के प्रतीक दृष्टि योजना के बीज विद्यमान हैं। आध्यात्मिक और रहस्यवादी विचारो की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक शैली को उनमें अपनाया गया है। इन्द्र, मित्र, वरूण, रूद्र, आश्विन आदि विभिन्न देवता जो शक्ति प्रेरणा, धर्म, दण्ड तथा दिव्य भेषज के प्रतीक माने गये है। वेदों में रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति 'विपर्ययोक्तियों

1. कबीर के काव्य में प्रतीक योजना – महेन्द्र कुमार राधाकष्णन मूल्याकन, पृ० – 201.
2 हिन्दी सा0 कोश – पृ० – 471

में भी हुई है। विरोध मूलक उक्तियों के उदाहरण इस प्रकार है–"वृषभ के चार श्रृग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथों का वर्णन है। उपषिदों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का वर्णन किया गया है। इनमें प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है। तैतरीयोपनिषद के पहले ही श्लोक में आये मित्र, वरूण, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु आदि नाम क्रमशः दिन और प्राण, रात्रि और अपान, बल और भुजा वाणी और बुद्धि तथा पैरो के अधिष्ठाता रूप में प्रतीक ही हैं। 'ऊँ' शब्द भी ब्रह्म का प्रतीक माना गया है जो निर्गुण, निराकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये सब प्रकार के आलम्बनों में सबसे श्रेष्ठ और चरम आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित है।

पुराणो मे वर्णित आख्यान प्रतीकात्मक शैली मे ही अभिव्यक्त है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव प्रमुख आराध्य देवता के रूप में वणित किये गये हैं। मूलतः ब्रह्मा ज्ञान और सृष्टि–निर्माणकर्ता के रूप में, विष्णु–सृष्टिपालक के रूप में तथा शिव, शिवत्व और सृष्टि–संहारक के रूप में प्रतीक हैं। विभिन्न शक्ति रूप देवियॉ लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती आदि क्रमशः–वैभव, ज्ञान, सुन्दरता की प्रतीक हैं।

बौद्ध साहित्य में साम्यमूलक एवं विरोधमूलक प्रतीक के उदाहरण मे प्राप्त हो जाते हैं। साम्यमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत व्यवहृत प्रतीकों में रूपात्मक, पारिभाषिक और संख्यामूलक प्रतीकों का वैशिष्ट्य है। विरोधमूलक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रतीक अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। जैसे–अमृतपद–दुख निवृत्ति का प्रतीक, अंधकार–अविद्या का प्रतीक, ब्राह्मण–ज्ञानी का प्रतीक है। यह साम्यमूलक प्रतीक है। विरोधमूलक प्रतीक इस प्रकार है–माता–पिता दो क्षत्रिय राजाओं आदि के साथ सारे राष्ट्र को तथा पॉच नींव रणों को मारकर ब्राहमण के निष्पाप हो जाने का कथन विरोध मूलक अभिव्यक्ति ही है। किन्तु विभिन्न शब्दों के प्रतीकार्थ ग्रहण करने पर विरोधात्मकता समाप्त हो जाती है। माता (तृष्णा), पिता (अहकार), दो क्षत्रिय राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), अनुचर के साथ सारे राष्ट्र (ससार की सारी आसक्तियों), को मारकर ब्राह्मण (ज्ञान) निष्पाप होता है।

सिद्ध साहित्य एक ओर बौद्ध धर्म से प्रभावित है तो दूसरी ओर योग–साधनात्मक तंत्र विद्या से है। यही कारण है कि बौद्धों के प्रतीक के

साथ–साथ तांत्रिकों के बहुत से प्रतीक भी इन्होंने ग्रहण किये। सिद्ध साहित्य के प्रतीक इस प्रकार हैं– वृक्ष–शरीर, चादर–तन, पीहर–संसार, कमल–महासुख चक्र, नौका–सहजयान, ननद–वासना आदि। नाथ साहित्य के प्रतीक – चूंकि नाथ साहित्य का प्रभाव कबीर दास पर पडा इसलिये इसका महत्व बढ़ जाता है। नाथ साहित्य मे प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक हठयोग के साधना सम्बन्धी पारिभाषिक प्रतीक ही हैं। जो इस प्रकार है–पिगला–सूर्य, इडा–चन्द्र, गगा, इन्द्रियॉ–पंचदेव, आत्मा–ब्रह्मचारी, ब्रह्म–पुष्प, ब्रह्मरंध–ब्रह्मांड, जीव–हंस । आदि।

इस प्रकार प्रतीकों का प्रयोग अधिकांशतः भाषा, धर्म, पौराणिक आख्यान, कला, दर्शन और दैनिक क्रिया व्यापार में मिलता है। अत विचार विकास की प्रक्रिया अथवा अभिव्यक्ति में इनका योग स्पष्ट हैं। भाषा शास्त्रियों की धारणा है कि–भाषा का मौलिक एवं तात्विक आधार चिन्ह और प्रतीक थे जिनसे विचार उद्वेग इच्छा आदि की सदैव अभिव्यक्ति होती रही प्रतीकार्थ अलग–अलग कर देने पर शब्दो का मूल्य नहीं रह जाता। साहित्य मे भाषा का जो कलात्मक एवं व्यंजक रूप हैं, प्रतीको का प्रचुर प्रयोग होता है। उनमे भाव विचार प्राय· परोक्ष रूप से व्यंजित किये जाते हैं।

स्विनवर्न और रोजेटी अंग्रजी साहित्य में प्रतीकों के प्रयोग के लिये प्रसिद्ध है–अपनी नायिका के अक्षत कौमार्य एवं पवित्रता का सजीव चित्रण करने के लिये रोजेटी ने 'ब्लेसेड डेमोजिल' नामक कविता में उसकी कल्पना ऐसे रूपो में की है जो श्वेत वस्त्रो से अलकृत है, कर में श्वेत कमल लिये है और जिसके ललाट पर साल नक्षत्र जगमगा रहे है। श्वेत कमल और सात नक्षत्र सदैव पवित्रता के प्रतीक रहे हैं।[1]

जिस प्रतिमा की पूजा की जाती है, वह ईश्वर नही, ईश्वर का प्रतीक है। पौराणिक आख्यानों मे तथ्यो की अभिव्यक्ति को भी प्रतीकात्मक कथानकों द्वारा व्यजित किया जाता है।

---

1 प्रतीकवाद – पद्मा अग्रवाल – पृ० 1

कला भी प्रतीकात्मक है। किसी चित्र में प्रकृति की शुष्कता से जीवन की ऐसी नीरसता का बोध होता है, जहाँ कुछ भी उल्लास नहीं रह गया है और आशा की किरण सदैव के लिये लुप्त हो गयी है। इसी प्रकार दर्शन की प्रतीकों में–निहित तथ्यो का अन्वेषण है। मनुष्य का साक्षात्कार वास्तविक सत्त से नहीं हो पाता, केवल प्रतीकों से होता है। जिसे सत्य समझा जाता है वह तो सत्य का प्रतीक मात्र है। इसी प्रकार मानवीय भाव–विचार की अभिव्यक्ति के सभी क्षेत्रो में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है और विभिन्न दृष्टिकोणों से उन्हें समझने का प्रयास होता रहा है।[1]

इस प्रकार मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीको से परिपूर्ण है। वस्तुत मनुष्य प्रतीकों के ही माध्यम से ही सोचता है। रहस्यवादियो ने भी प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूति का स्वरूप भाषा मे अप्रेषणीय होने के कारण इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा है वह प्रतीकों के माध्यम से ही। इस कारण उनकी भाषा दुरूह या संधा भाषा हो गयी जिसके प्रतीको का अर्थ जाने बिना कोई व्यक्ति उसे समझ नहीं सकता। प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं–किसी विषय की व्याख्या करना, उसको स्वीकृत करना, पलायन का पथ प्रस्तुत करना, दमित या सुप्त अनुभूतियो को जागृत करना अलकरण या प्रदर्शन का साधन होना।[2]

इस प्रकार 'प्रतीक' का उद्‌गम मानव मन का एक अभियान है। प्रतीक केवल कल्पना की ही उन्मुक्त उडान नहीं है उसके पीछे अनुभव के नित्य नूतन सयोग की प्रगति रेखा है। मध्यकालीन सन्तों की प्रतीक योजना सामान्यतः किसी न किसी दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं के प्रकाश मे ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि इनके सामान्य प्रतीक किसी विशिष्ट धार्मिक रहस्य भावना के कारण, एव उनके साम्प्रादायिक संस्कारो के कारण, अपने समय की समस्त विचार धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

1. प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य मूल्य' डा०☐ प्रभात
2. हिन्दी साहित्य कोश — प्रथम पृ० 471

फिर भी कबीर के बारे में कहा जा सकता है कि इन्होने अपने काव्य मे रूढि अथवा परम्परा से प्राप्त प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है। इन रूढि प्रतीको का प्रयोग इन्होंने अपनी साधना पद्धति के प्रकाश में किया है। जहाँ तक इनके योग परक प्रतीकों का प्रश्न है उनकी पृष्ठिभूमि बौद्ध धर्म से विकसित हुई, कर्मकाण्डो के निषेध की प्रवृत्ति किये हुये बज्रयान की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा का एक सबल रूप प्राप्ति होता है।[1] यहॉ ऐसे प्रतीकों को सम्मिलित किया गया है जिनका संबंध मानवीय होने के साथ–साथ मानवेत्तर प्राणियो तथा पदार्थो से भी संबन्धित है। तथा प्रणय भाव पर आश्रित दाम्पत्य संबंध भी प्राप्त होते हैं। कबीर की काव्य–साधना में इन प्रतीको का महत्व प्रेम–परक ही अधिक है।

चातक, हंस, मीन आदि प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने अपनी प्रेम भावना को व्यंजित करने के लिये किया है। न केवल संत काव्य मे बल्कि आगे चलकर यह सगुण भक्त कवियों में भी प्रेम का प्रतीक बना। इन प्रतीकों को सगुण भक्त कवियो ने अपनी भावाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बनाया। कबीर आदि सन्तो मे इस रूपान्तर का भव्य रूप 'चातक वृत्ति' में प्राप्त होता है जो मानों उनके मानस जगत का एक भावात्मक प्रतीक ही है। इस प्रतीको के द्वारा उन्होंने अपनी 'आत्मा' को उस परम प्रिय परमात्मा (मेघरूप) की सापेक्षता में उस प्रेमी के रूप में चित्रित किया है। जो अपने प्रिय के अनेक आघातों तथा सकटो की परवाह न कर केवल उसी मे और केवल उसी की कामना करता है।

अंबर घन हरू छाइया, बरषि भरे सर ताल।
चातक ज्यों तरसत रहे, तिनकां कौन हवाल ।।[2]

इससे तो यही ज्ञात होता है कि एक साधक प्रेमी के लिये समस्त वैभव तथा सुख तिरोहित रहते है जब तक कि वह अपने परमाराध्य का एक 'घूँट' प्रेम सामीप्य न पा सके। इस सामीप्य को न प्राप्त होने से उनकी दशा दादू द्वारा वर्णित चातक के समान हो जाती है–**चात्रिक मरे पियासा, निसि दिन रहे उदासा जीवे किहि बेसासा।**[3]

---

1. हिन्दी साहित्य भाग –2 लेख – सत काव्य द्वारा डा. राम कुमार वर्मा – पृष्ठ –– 195
2 कबीर ग्रथावली, स0 श्याम सुन्दर दास । पृ० 249–3
3 दादू की बानी, सपा० – चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पृ० 408/126

चातक की यह उदासी मानो कबीर के अन्तरतम में व्याप्त कर्मगति की एक विषम गति हो गयी जिसके कारण वे सर्वथा 'पियास–पियास' ही अनुभव करते है इस प्रकार संत काव्य मे चातक–वृत्ति विरह–मिश्रित प्रेम भाव को व्यक्त करती है।

यह विरह भाव, एक रहस्य भावना के सन्निवेश में, पतंग के आत्मसमर्पण में साकार हो उठता है। उसका दीपक में पडना एक 'सारतत्व' को सामने रखता है। वह यह कि प्रेम की निष्फलता में भी उसका उज्ज्वल पक्ष आत्म समर्पण मे ही सुरक्षित रहता है। प्रेमी साधक का यही आत्मसमर्पण उसे प्रेम भाव के उन्नत रूप की ओर ले जाता है। वह उसके अन्दर एक प्रकार के विश्वास को बल देता है जो साध्य की महत्ता को सापेक्षिक रूप होता है। कबीर ने भी इस दीप–पतंग की बात कही है। **दीपक पावक आंणियाँ तेल भी आंण्या संग, तीनों मिलकर करि जोइया (तब) उड़ि–उड़ि पड़ै पतंग ।।**[1]

हंस–मानसरोवर, कवि परिपाटी में हंस का मानसरोवर के प्रति एक अटूट प्रेम तथा उसके नीर–क्षीर विवेक की प्रसिद्धियॉ कवियों को प्रिय रही है। प्रेम भाव की परिधि में इन तत्वो का समाहार प्राप्ति होता है। यह जीवात्मा के विवेक ओर इच्छा शक्ति पर निर्भर है कि 'तत्व' रूप सरोवर के जल को किस सीमा तक अपने अंदर ह्रदयगम कर सकती है। इस तत्व ग्रहण में 'जुगति' तथा श्रम की आवश्यकता है तभी तो हंसनी तट पर रहकर भी तत्व जल का पान नहीं कर पाती है। यही हाल उस पनिहारिन (इन्द्रियों) का होता है जो कुम्भ रूपी भौतिक शरीर के सहित सर से नीर नहीं भर सकती है, क्योकि उसमें उस गुण की कमी है जो तत्व ग्रहण मे क्रियात्मक रूप धारण करती है।

सरवर तट हंसणी तिसाई जुगति बिना हरि जल पिया न जाई।
पिया चहै तौ लै [illegible]गसारी, उड़ि सकै दो ऊपर भारी,
कुंभ लिये ठाढ़ी पनिहारी गुण बिन नीर भरै कैसे नारी।[2]

---

1. कबीर – ग्रंथावली, पृ० 11
2 कबीर – ग्रथावली – पृ० 189/298

जब हंस का यह अज्ञान ज्ञान रूप में बदल जाता है तभी वह हरिजल पीने में समर्थ होता है। यही हाल तो जीव का भी है, बिना ज्ञान तथा विवेक के वह 'सत्य' के निकट नहीं पहुंच सकता है –

हंस सरोवर तहाँ रमै, सूमर हरिजल नीर।
पाणी आप पखा लिये, नम्मल (निर्मल) होय सरीर।।[1]

जब हंस इस स्थिति में पहुंच जाता है तब वह सूभर जल में केलि करता है और मुक्ता तत्व चुँगता है। **मानसरवर सूभर जल, हंसा केलि कराहि। मुक्ताहल मुक्ता चुगै, अब उड़ि अनत न जाति।।**[2] इसी प्रकार जब जीव ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह जल रूपी 'तत्व' में निमग्न रहता है। और मुक्ता को चुँगता है।

प्रेम का एक पक्ष वियोग भी है जो प्रेम को एक प्रान्जल रूप मे रखता हे। वियोगी अकसर मिल भी जाते है। जैसे–रात के विछुडे हुये चकवा दम्पति सुबह को मिलने का आनन्द प्राप्ति करते है। परन्तु कबीर का कहना है कि माया के प्रभाववश राम से जो भी मनुष्य एक बार विलग हो गया तो फिर उस व्यक्ति को राम की अनुभूति न दिन में और न रात मे होती है। इस प्रकार इस चकई को प्रसिद्धि के द्वारा कवि ने एकनिष्ठ प्रेम की व्यजना करते हुये एक उपदेश भी दिया है। –

चाकई विछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
जो जन विछुरे राम सूँ, तो दिन मिले न राति ।।[3]

इसी प्रकार मछली भी एक ऐसी जीवात्मा की प्रतीक है जिसे परमात्मा की अनुभूति हो जानें पर केवल उसी की अनुभूति शेष रह जाती है। एक अन्य स्थान पर कबीर अपने को जल की मीन तथा परमात्मा को समुद्र कहते है, और इसी प्रकार अपने को सुआ तथा परमात्मा को पिंजरा की सज्ञा देते है।

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम वर्णन में, सांसारिक पदार्थो की अनित्यता के निरूपण मे, माया वर्णन मे तथा अन्य व्यक्तियो मे प्रतीकों का प्रयोग किया गया। ये प्रतीक कबीर की गहरी जीवनानुभूति तथा चिन्तन मनन के प्रमाण हैं यहॉ एक तथ्य

---

1. स्वामी दादू दयाल की बानी, पृ० 461
2 कबीर ग्रथावली, पृ० 15/39
3 कबीर ग्रथावली पृ० 7/31

का सकेत कर देना आवश्यक है कि कबीर मूलत प्रेम के गायक है– आध्यात्मिक प्रेम के। इनके प्रेम के तीन सोपान हैं–अनुराग, विरह और मिलन। सामान्यत· जीवन अज्ञान की अवस्था में रहता है। वह अपने को पूर्ण समझता है लेकिन जब उसे प्रतीत होता है कि उनसे परे एक असीम सत्ता है। आत्मा का वास्तविक संबध उस परम सत्ता से है, जब वह उसे पाने के लिय व्याकुल हो उठता है। यही विरह की स्थिति है। कबीर ने इस व्यग्रता का वर्णन दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक द्वारा किया है। क्योंकि संसार मे जितने सम्बन्ध है, पति–पत्नी का प्रेम उन सब मे प्रगाढ होता है।

दाम्पत्य प्रेम–प्रतीक द्वारा जीवात्मा की कातरता और प्रकार का जो चित्र खींचा गया है, उसका भाव आदित्य प्रत्येक सहृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखता है। पद इस प्रकार है –

बालक आउ हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे।

विश्वास और अर्न्तदृष्टि में आत्मा रूपी नारी अपने साध्य के प्रति सचेत होकर प्रयत्नशील होती है। वह अपने प्रिय के प्रति सहज आकृष्ट ही नही होती हो जाता है कि परम प्रिय की सापेक्षता में उसकी भी 'कोई' सत्त है। अपने व्यक्तित्व का भाव वह इस संबध के द्वारा प्रकट करती है :–

हरि मोर पीव में राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तनुकि लहुरिया।

यहॉ पर प्रिय का व्यक्तित्व प्रधान है तो प्रेमिका का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं माना जा सकता है काव्यात्मक रहस्यवाद में दोनो पक्षों का समान महत्व रहता है।, जैसा कि दार्शनिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत–पूर्ण की धारणा में अपूर्व अंश का भी समाहार रहता है। पूर्वराग का यह सम्बन्ध अर्न्तदृष्टि का परमसूचक है या यो कहना चाहिये कि विश्वास की अंतिम परिणति अर्न्तदृष्टि को प्रश्रय देती है। प्रेम के लिये अर्न्दृष्टि की परमावश्यकता है। जो सन्तों की नारी रूपी आत्मा मे व्याप्त है। इस अर्न्तदृष्टि का चरम विकास उस समय जब 'आत्मा' प्रिय के हेतु विरहावस्था मे तल्लीन हो जाती है, जब वह 'आरति' कर अपने ह्रदयगत उद्‌गारों की अभिव्यंजना करती है–

रतिवती आरति करे, राम सनेही भाव ।
दादू औसर जब मिले, यहु बिरहिन का भाव ।।[1]

परन्तु क्या अभी प्रियतम का आना सम्भव है ? दिन भी चला गया, रात भी व्यतीत हो गयी, तब भी बिरहिणी आत्मा प्रिय का दर्शन करने मे असमर्थ है–**कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाई। बिरहणि पीव पावै नहीं, जियरा तलफै माई।।**[2] यह विरह की अनुभूति अंतिम सत्य नही है, वह तो प्रिय के मिलन के लिये सोपान स्वरूप है। यहॉ पर विरहिणी का प्रतीकात्मक अर्थ उस दशा का परिचय देता है, जहॉ आत्मा अपने सहज स्वरूप को पहचान कर परमाराध्य की ओर अग्रसर होती है। यही प्रयत्न अनुभूति को जन्म देता है। इस अनुभूति के उदय का फल यह होता है कि बाह्य श्रृंगार के प्रति आत्मा की आसक्ति क्रमशः कम होने लगती है और वह एक प्रकार से अभ्यतंर प्रकाश का अनुभव करती है–

जग दिखलावई बाबरी, षोडस करइ सिंगार।
तह न सवारइ आपको, जॅह भीतर भरतार ।।[3]

प्रियतम का वास तो ह्रदय मे है ओर 'तू' उसे बाहर खोज रही है। जो भीतर है वही तो बाहर है और जो बाहर है वही तो भीतर है। छान्दोग्यपनिषद मे ब्रह्म के बारे में कहा गया है कि वह वही है जो कि यह पुरूष के भीतर आकाश (ह्रदय) है तथा जो भी यह पुरूष के भीतर आकाश है वह यही है जो कि ह्रदय के अन्तर्गत आकाश है। इस ह्रदयाकाश की अनुभूति के प्रथम कबीर ने शरीर रूपी चुनरी को प्रेमरस मे परिप्लावित कर दिया है जिससे सुहागिन अपने प्रिय का अंतरतम में साक्षात्कार कर सके

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन आरती साज कै चली है।
सुहागिनी पिय अपने को ढूंढन ।।

अस्तु जीवात्मा की साधना का प्रथम रूप विश्वास के उदय के साथ परमात्मा या पति के पूर्वरागजनित अनुराग की भावना को जन्म देता है जो क्रमशः विरह

---

1 स्वामी दादू दयाल की बानी पृ० 7–42
2 कबीर ग्रथावली – पृ० 10–34
3. सी दादू दयाल की बानी, सं0 सुधाकर द्विवेदी पृ० 128–130

आत्मोकर्ष की भावनाओं से होता हुआ अर्न्तदृष्टि मे पर्यवसित होता है जहॉ हृदयाकाश स्थित ब्रह्म की परमानुभूति होती है।

इस प्रकार कबीर ने प्रतीक रूप मे दाम्पत्य प्रेम का अच्छा वर्णन किया है। उनके इस दाम्पत्य प्रेम की सबसे प्रमुख विशेषता पवित्रता, सात्विकता एवं आध्यात्मिकता है। उसमें विरह–मिलन के मधुर चित्र भी चित्रित किये गये है किन्तु उसमें कही पर वासना की दुर्गन्ध नहीं आती। उनका दाम्पत्य संबंध सूफियों के दाम्पत्य सबध से भिन्न है। कबीर का प्रेम पति–पत्नी का पवित्र प्रेम है जो कि शास्त्रीय विधि से विवाह हो जाने के पश्चात उत्पन्न हुआ है। यह लौकिक विवाह मात्र नही है। इस विवाह में साधक की आत्मा ही वधू है। स्वंय राम ही वर हैं शरीर वेदिका है। ब्रह्माजी पुरोहित है।

तैतीस करोड देवता और अट्ठासी हजार ऋषि इस संबंध के साक्षी बाराती हैं भला इस प्रेम से पवित्र विवाह कौन हो सकता है? इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का आध्यात्मिक संबंध स्थिर हो जाने पर यदि आत्मा मे किसी प्रकार का विकार शेष रह जाता है, तो मिलन नहीं होता। इस परिस्थिति मे आत्मा–बधू किस प्रकार उद्विग्न और विह्वल हो उठती है। उसका एक चित्र इस प्रकार है–

कियो सिंगार मिलन के ताई, हरि न मिले जगजीवन गुसाँई।
धनि पिय एकै संग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।।
धन्न सुहागिन जो पिय भावै।
कहि कबीर फिर जनमि न आवै।[1]

जब आत्मारूपी वधू का परमात्मा रूपी प्रियतम से इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी मिलन नहीं होता तभी वह तडपकर पुकार उठती है–

वै दिन कब आवहिंगे माय।
जा कारन हम देह धरि है मिलवो अंग लगाय।।[2]

कबीर की रचनाओं में आध्यात्मिक प्रणय के अनेक मनोरम चित्र मिलते हैं

---

1 कबीर ग्रथावली–पृ०–277
2 कबीर ग्रथावली–पृ०–191

एकात्म भाव :– अपरोक्षानुभूति में, जिसे संतों ने 'परचा' की सज्ञा दी है। एकात्म भाव की परिणति होती है इसी दशा में प्रिय और प्रिय पात्र दोनों के मध्य दूरी का नितांत अभाव हो जाता है। इस स्थिति में आकर आत्मा (वधू) आकाश के समान निर्मल हो जाती है, समस्त भौतिक दुखो का तिरोभाव हो जाता है और साधक 'आत्मा' के रहस्य के प्रति सजग हो जाता है।

पूरे सूँ परचा भया, दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि।।

और जब तक वधू को 'परचा' नही होता है, तब तक उसे 'क्वारी' ही समझना चाहिये। परचा होते ही वधू एक सुहागिन के रूप मे प्रिय–मिलन का सुख भी प्राप्ति करने लगती हैं। इस मिलन–सुख की पूर्व कल्पना से ही उसके अन्तर्मन मे प्रेम, उत्साह, उल्लास एवं रति–सभी दाम्पत्यपरक भावों का आलोढन होने लगता है। वह प्रिय के दर्शन के लिये व्याकुल हो उठती है। वह राम के आगमन की कल्पना से आत्म–विभोर हो उठती है। अपने तन–मन को प्रेम से प्लावित कर लेती है। यही पर एकात्मभाव की परिणति होती है। 'अहं' का 'इदं' मे एकाकार हो जाता है। यदि इसे सूफी प्रेम साधना की शब्दावली में कहें तो आशिक और माशूक मे कोई अन्तर नहीं रहा जाता है।

ऐसा ही है–कबीर का आध्यात्मिक मिलन–'जहॉ मै और तुम की प्रचारे मानोपरम प्रेम के पारावार मे बह जाती है। केवल मात्र मिलन आनन्द ही रह जाता है। मिलन की आकाक्षा का पर्यावसान सेज–सुख, प्रेम–रस क्रीडा और हिंडोलना के रस मे हो जाता है। ये सब वस्तुयें उस परम दशा की भूमिकायें मात्र है जो आध्यात्मिक आनन्द अथवा विवाह की अवस्था को मुखर करती है। इस भूमिका का वर्णन रूपी कवि ने इस प्रकार किया है–

"वह क्षण कितना आनन्द प्रद होगा जब 'मैं' और 'तुम' प्रसाद में बैठे हो, हमारे अथवा तुम्हारे दो आकार हों और दो रूप भी हो, परन्तु आत्मा तो एक ही है, हम और तुम किसी भी रूप में व्यक्ति नहीं है। हमारा समाहार आनन्द में ही

अपेक्षित है[1] यही मिलन का रहस्य है, जहाँ 'मैं' 'तुम' का पर्यावसान एकात्मभाव के आनन्द मे हो जाता है। तभी आध्यात्मिक मिलन आध्यात्मिक विवाह का रूप धारण करता है।

यह एकात्म भाव की चरम परिणति है जहॉ आनन्द ही आनन्द है। दाम्पत्य रति की यह अवस्था साधना के क्षेत्र मे 'लय' की सूचिका है। यहॉ भौतिक सुखो का अंत हो जाता है और रह जाता है—आत्मानन्द। यही अतीन्द्रिय आनन्द का मनोराज्य है जहॉ पर सदा वसन्त है, तेजपुज का तेजपुंज में लय है।

तेजपुंज की सुंदरी, तेजपुंज का कंद।
तेजपुंज की सेज पर दादू बनेउ वसंत।।

यहॉ पर सुंदरी, तेजपुंज कंत, सेज और वसत—ये सब प्रतीक आनन्द के ही वाहक है जिनका प्रतीकार्थ क्रमश आत्मा, परमात्मा, शरीर और सुख का द्योतक है। यही नही यहॉ पर किसी प्रकार का पर्दा नहीं रहता, क्योकि सेज सुख (शरीर के अन्दर) मे इसका अभाव है—

पिय से खेलउ प्रेम रस, तउ जिय रेचक होइ।
दादू पावउ सेज सूख, परदा नाहीं कोई ।।

माया मोह का, मैं—तुम का, अन्तर तथा बाह्य का सबका (परदा) मानो लुप्त हो गया। केवल मात्र आनन्द ही रह गया। इस आनन्द का रूप उस समय और भी मुखर हो उठता है जब सुलक्षणी नारी अपने प्रिय के साथ नितप्रति 'हिडोलना झूलने' का उपक्रम करती है। कबीर ने कहा—

दरिया पारि हिंडोलना, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारी सुलक्षणा, नित प्रति झूलन जाई ।।[2]

इन आध्यात्मिक आनन्द के प्रतीकों के बारे में यह स्पष्ट होता है कि अपने ध्येय से कभी विलग नही हुये है। दाम्पत्य प्रतीको का ध्येय है – पूर्ण सामंजस्य जनित आनन्द की अनुभूति कराना। सतों के दाम्पत्य संबंध के द्वारा ऐसी ही

1 इस्लाम का रहस्य' आर.ए. निकोल्सन पृ० स० 167
2 कबीर ग्राथावली पृ० 81—151।

अनुभूति का स्वरूप मुखर होता है। यहीं पर आकर अन्तःकरण चतुष्टय नितान्त निर्मल हो जाते हैं। रस, फाग, सेजसुख और हिंडोलना ये सब आनन्द भाव के पूरक है जिनका प्रयोग सतों ने प्रतीक रूप में किया है। कबीर के काव्य में कुछ ऐसी आध्यात्मिक भी प्रतीत होते हैं, कबीर कहते है कि–

जब आत्मा रूपी नारी अपने ब्रह्म रूप उसे आध्यात्मिक आनन्द से परिप्लावित कर देती है परन्तु विवाह के समय और उसके पश्चात अनेक ऐसे सम्बन्धों की और अनेक ऐसे क्रियाओं की लौकिक मान्यताये साथ आती है जिनका पालन करना लौकिक 'वधू' के लिये एक धर्म है। ननद, देवर, जेठ, सास–ससुर आदि ऐसे ही सम्बन्ध है और विवाह के समय होने वाली अनेक क्रियायें ही वैवाहिक रीतियॉ हैं कबीर ने इन संबंधों एवं रीतियों का सम्यक् वर्णन आध्यात्मिक विवाह के पूरक अगों के रूप मे ग्रहण किया है। अतः आध्यात्मिक विवाह में वधू और वर क्रमशः जीव और ब्रह्म के प्रतीक ही माने गये है। इन प्रतीको का महत्व साधनात्मक भी है। वैसे तो इन प्रतीकों का प्रयोग सिद्धों तथा नाथों मे प्राप्त होता है, परन्तु जहॉ तक उनके भावानात्मक सदर्भ का प्रश्न है, सन्तों मे इनका रूप कही अधिक हृदयग्राही है।[1]

जब वधू को अपने पति (ब्रह्म) से प्रेमानुभूति हो जाती है तब उसे यह भौतिक संसार (नैहर) आकर्षित नही करता है। उसे तो केवल मात्र 'साई' की नगरी' (ब्रह्म पद) की ही लालसा रहती है। नैहरवा हमा नहिं भावै। साही की नगरी परम अति सुन्दर जहॅ कोई जाय न आवै चॉद सूरज जहॅ पवन न पनी को संदेश पहॅुचावै।[2] वधू के साथ अनेक सांसारिक बंधनों की भी सृष्टि होती है–कबीर का एक पद इसी और सकेत करता है–

'सेजै रहूँ नैन नहीं देखौं, यहि दुख का सो कहूँ हो दयाल'

ईश्वर शरीर के अन्दर ही वर्तमान है (सेज) पर उसके दर्शन नहीं हो पाते है, यह कैसी विडम्बना है। लौकिक धरातल मे यह प्रसिद्ध भी है कि ननद सास आदि वधू को पति से मिलने में अनेक व्यवधान प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह तात्विक अर्थ

1 सिद्ध–साहित्य द्वारा–डा0 धर्मवीर भारती पृ०–434–35
2. उद्‌धत–सूफी मत और हिन्दी साहित्य से, पृ०–220

मे आत्मा को भी परमात्मा से मिलने के लिये अनेक अडचनों को पार करना पडता है इतने पास रहकर भी उसका दर्शन न प्राप्त कर सकने के भी अनके कारण है। जीवात्मा माया (सास) से आवृत है पर गुरू (ससुर) जो कि उसे मार्ग दिखलाता है वह उस गुरू की अत्यन्त प्यारी है। दूसरी ओर असाधु पुरूषों से (जेठ) आत्मा को अत्यन्त भय है, क्योकि वे उसके मार्ग में अडचने डालते है। कर्म–इन्द्रियॉ (सखी) और ज्ञान–इन्द्रियॉ (ननद) दोनों के मार्ग में आ जाने से प्रियतम के सत्य साक्षात्कार में बाधा पडती है। केवल मात्र जीवन को देवर या साधु पुरूषों की ही अंतिम आशा रह जाती है जिसके द्वारा उसका परम मिलन संभव होता है। इसी से जीवात्मा उसके विरह में जलती है।

दूसरे प्रकार के विवाह–प्रतीक हमें उन स्थलों पर प्राप्त होते है जहॉ पर वैवाहिक क्रियाओं एवं वस्तुओं का वर्णन एक सशलिष्ट रूप में प्राप्त होता है। इन प्रतीकों की व्यंजना के आधार पर तात्विक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। विवाह की अनेक क्रियाओ (प्रथाओं) यथा– माडों का छाना, सखी सहेलियों का गाना, हाथों पर हल्दी लगाना और भॉवरो का पडना–आदि को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है। जीव और ब्रह्म के बीच में माया का आवरण है जो जीवन के ब्रह्म साक्षात्कार मे व्यवधान उपस्थित करती है। अतः जीव के साथ 'माया' का आना उस समय और भी स्पष्ट हो उठता है जब साई रूप ब्रह्म से उसका साक्षात्कार होने को होता है। अत माया ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति होने से जीव के साथ लगी रहती है–

साई के संग सासुर आई।
जना चाारि मिलि लगन सोधाये, जना पॉंच मिलि माड़ो छाये
सखी सहेलरि मंगल गावै, दुख–सुख माथे हलदि चढ़ावै।
नाना रूप परी मन भांवर, गांठ जोरि भाई पतियाई
भयो विवाह चली बिन दुलह, बात जात समधी समुदाई।
कहै कबीर हम गौने जइबे, जब रे कंथ लै तूर बजइबे।[1]

जिस प्रकार पाणिग्रहण पर बधू को पति और ससुर दोनों मिलते है। उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म और माया दोनों का वरदान प्राप्त होता है। उस समय

1. बीजक, शब्द 54, पृ० 145

उसके अन्त·करण चतुष्टय (जना चारि) विषयों की ओर उन्मुख होने लगते है और पंचेन्द्रियॉ या तत्व (जना पंचि) मिलकर शरीर का (माडो) का रूप धारण करते हैं। पॉच कर्मोन्द्रिय (सखी आदि) इस शुभ अवसर पर प्रकार–प्रकार विषयो की ओर अग्रसर होने लगती है (मंगल गाती है) जिसके फलस्वरूप जीवात्मा माया के पाश में बॅधने लगती है और अनेक विषय (हल्दी) और सुख–दुखादि उसके पर मॅडराने लगते है। जब मन विषय, वासना से लिप्त हो गया तब वह अनेक योगियो– साधुओं के कर्मकाण्डो को देखकर भ्रमित होने लगा (नाना रूप पडी मन भांवर) और इस प्रकार निदान जीव अहकार (गांठि) से बुरी तरह आबद्ध हो गया। इस माया के चक्र में फॅस जाने के कारण जीवात्मा ने जो ब्रह्म की कुछ अनुभूति प्राप्त की थी, वह भी व्यर्थ हो गयी और वह बिना परमात्मा की अनुभूति प्राप्ति किये ही इस संसार चक्र में फिर फॅस गयी (चली बिन दुलहा) और इस अज्ञान के फलस्वरूप गुरू आदि (समधी समुदाई) भी उसका पथ प्रदर्शन न कर सके। तब जीव के लिये केवल मात्र परमधाम (ब्रह्म का) आश्रय रह जाता है। (गौना) और उस दशा मे ही पहुंचकर आनन्दानुभूति (तूर) का सत्य स्वरूप मुखर होता है। इस प्रकार यह पूरा संदर्भ ही प्रतीकात्मक है जो हमारे सामने तात्विक क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत करता है।

भावात्मक रहस्यवादी प्रतीको में जितना दाम्पत्य प्रतीको का स्थान है उतना ही अन्य सबंध प्रतीको का है। वेदान्त के अद्वैतवाद का सबसे प्रमुख अंग, प्रतीक दर्शन की दृष्टि से, विषय और विषयी ब्रह्म, जीव और जगत की एकता का प्रतिपादन है। अत· वेदान्त दर्शन में 'सत्य' को समझाने के लिये प्रतीकात्मक शैली का ही आशय लिया गया है। इस दृष्टि से सन्तो ने अपने काव्य में अद्वैत भाव प्रदर्शित करने के लिये प्रतीकात्मक शैली का ही आशय लिया गया हैं

कबीर के अपने काव्य मे अद्वैत भाव प्रदर्शित करने के लिये अनेक उपनिषदों के प्रतीकों को ग्रहण किया है जिनमें प्रमुख सबध निम्न हैं– जल कुम्भ का उदाहरण, पिंड ब्रह्माड का उदाहरण, बूंद–समुद्र का उदाहरण। पिंड मे ही ब्रह्मांड समाहित है। इसी तथ्य को कबीर ने सूफी प्रभाव के कारण, खलक और खालिक को एक निरपेक्ष तत्व मे समाहित दिखाया है–

खालिक खलक खलक मॅह खालिक सब घटि रह्यो समाई।[1]

---

1. कबीर–ग्रंथावली, पृ०–83

पिड वह दृश्यमान जगत है जिसमें काल और समय की सीमायें हैं और ब्रह्मांड वह तात्विक जगत है जो काल–समय से परे है–यही अनत है। अतः असीम और ससीम का पर्यावसान, जहॉ पर और जिस धारणा में होता है, वही परम तत्व है, वही कबीर का हरि है।

इसी ससीम–असीम की सापेक्षता का व्यंजनात्मक रूप एक अन्य संबंध के द्वारा भी व्यक्त किया गया है, वह है जल और कुम्भ का उदाहरण। इस उदाहरणो के प्रतीक के बारे मे जहॉ एक ओर आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व लक्षित होता है, वही यह विस्तृत अर्थ भी व्यांजित होता है कि ससीम का असीम में तिरोभाव होता है, पर साथ ही ससीम का अस्तित्व भी मान्य है, अधिक से अधिक उसे हम भ्रम या विर्वत ही कह सकते है। जहॉ पर कबीर आदि सन्तो ने वेदान्त का अनुसरण करते हुये घडे के फूट जाने पर उसके भीतर के पानी को बाहर के पानी से मिल जाने का सकेत किया है, वह इन अस्तित्वो का अनादि तत्व (जल) मे विलय ही है अथवा आत्मा का परमात्मा में एकात्म भाव का सूचक भी है —

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि–भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कहौ गियानी।[1]

जल और कुम्भ की इस प्रतीक योजना के समकक्ष एक अन्य प्रतीक संबंध है– बूद तथा समुद्र का। बूंद की सीमित सत्ता का समुद्र की विशाल सत्ता में बिलीन हो जाना जीव, जगत, प्रकृति आदि का महत् तत्व 'ब्रह्म' की सत्ता मे एकीभूत हो जाने का प्रतीक है–**'बूंद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाय'** परन्तु यही नही बूंद का समुद्र मे समाजाना ही सब कुछ नहीं है पर तथ्य तो यह है कि समुद्र भी बूंद से (ब्रह्मांड पिडसे) इस प्रकार अभिन्न है कि दोनो का अस्तित्व एक महा अस्तित्व में समाया है–**'समुद समाना बूंद में सो कत हेरया जाय।'**

तर्क और अनूभुति सीमा की परिधि हो अंधकार असीम का साक्षात्कार करती है। कबीर की बानियों में हमें स्थान–स्थान पर इसी 'बेहद के मैदान' की व्यंजना प्राप्त होती है। हद का बेहद में लय हो जाना ही तो कबीर का ध्येय है।

---

1 कबीर–ग्रथावली, पृ०–130–144

कबीर के काव्य में राम ही ब्रह्म का पर्याय है, वही 'निरंजन ' है और कहीं–कहीं पर वह खसम रूप भी है। तरूवर–वृक्ष प्रतीक के आदि मानवीय इतिहास का रूप रेखा तय करती है कि आदि मानव ने वृक्ष को सृष्टि का प्रजनन का अथवा जीवन का प्रतीक माना है। पुराण एव धार्मिक साहित्य मे वृक्ष तात्विक अर्थ का बोधक प्रतीक बन गया। कबीर ने ब्रह्म को सृष्टि को आदि कारण मानते हुये भी विकास की परम्परा को उस धारण में घुला–मिला दिया है। वृक्ष को कार्य ब्रह्म का प्रतीक मानने में इन दोनों रूपो–आदि कारण एव विकास परम्परा–का जितना सुन्दर कबीर ने इस प्रतीक के द्वारा किया है, वह अद्वितीय है

या विरवा चीन्हे जो कोय, जरा–मरण रहित तन होय
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तीनि डारा।।

ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जन्म–मरण का चक्र ही समाप्त हो जाता है। इस वृक्ष की तीन डालें कही गयी हैं जो ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (संहारकर्ता) के प्रतीक है।

जायसी में प्रेम वर्णन के प्रतीक :– सूफी काव्य मे साकी का रूप प्रियतमा का ही प्रतिरूप है। यह सूफी साधक के प्रेम एवं विरह का केन्द्र है। इन प्रेम प्रतीकों के अलावा, सूफी काव्य में मानवेतर जड एवं चेतन प्रकृति–दोनो से ऐसी वस्तुयें ग्रहण की गयी हैं, जिन्हे प्रतीक का रूप दिया गया है। इस प्रकार की प्रतीक योजना सूफी काव्य मे बहुलता से प्राप्त नहीं होती है। दूसरी ओर वहाॅ पर उपमानों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। (रूपक, उत्प्रेक्षा आदि)। जो भी थोडे बहुत प्रतीक प्राप्त होते हैं वे या तो प्रेम भावना के सरल संबंध को व्यंजित करते है या किसी भाव विशेष के आधार पर लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करते हैं। एक स्थान पर जायसी ने ऐसी ही प्रतीक–योजना प्रस्तुत की है–

चाँद सुरूज दुऔ निरमल, दुऔ संयोग अनुज।
सुरूज चांद सो भूला, चाँद सुरूज के रूप।।[1]

1. जायसी ग्रथावली, रत्नेसन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ०–143

यह रत्नसेन और पद्मावती के मिलन का दृश्य है जिसकी व्यंजना के हेतु कवि ने सूर्य तथा चन्द्रमा–दो विपरीत वस्तुओं का एक स्थान पर वर्णन किया है। इस प्रेमी तथा प्रेमिका के अन्योन्य प्रेम–भाव की सुन्दर व्यंजना की है। प्रेम–भाव पर आश्रित इन प्रकृतिक वस्तुओं को प्रतीक का रूप देना और फिर उसे लोकोत्तर अनुभूति का माध्यम बनाना–ये दोनों बात इस उदाहरण से ध्वनित होती है। इसी प्रकार अन्य प्रेम प्रतीकों में सरोवर और हंस, कमल और सूर्य, भंवरा तथा कमल, चक्रवात मिथुन आदि ऐसे कवि रूढियॉ है जो परम्परा से काव्य में चली आ रही है। सूफी कवियों ने इन प्रतीकों का भी प्रयोग अपने काव्य में कही–कही किया है जो सुन्दर दीख पडा है। अरविन्द जल में रहता है, उसे वहॉ सब प्रकार का सुख भी प्राप्त है, लेकिन क्या वह बिना सूर्य की किरणों के प्रभुल्लित हो पाता है।[1]

इसी प्रकार प्रेमी व्यक्ति संसार के सभी सुखों के रहते हुये भी बिना प्रेम पात्र के उसका सब सुख अधूरा है। चकई के प्रेम की व्यंजना पद्मावती के विरहावस्था को ही अभिव्यक्त करती है

चकई बिछुर पुकारै, कहॉं मिलौ हो नांह।
एक चांद निसि सरग में, दिन दूसर जल मांह ।।[2]

इसी प्रकार अन्य प्रेम प्रतीको में सरोवर और हंस, कमल और सूर्य, भंवरा तथा कमल, चक्रवाक मिथुन आदि ऐसे कवि रूढियॉ है जो परम्परा से काव्य में चली आ रही है। सूफी कवियों ने इन प्रतीको का भी प्रयोग अपने काव्य में कही–कहीं किया है जो सुन्दर दीख पडा है। अरविन्द जल में रहता है, उसे वहॉं सब प्रकार का सुख भी प्राप्ति है, लेकिन क्या वह बिना सूर्य की किरणों के प्रफुल्लित हो पता है।[3]

इसी प्रकार प्रेमी व्यक्ति संसार के सभी सुखों के रहते हुये भी बिना प्रेम पात्र के उसका सब सुख अधूरा है। चकई के प्रेम की व्यंजना पद्मावती के विरहावस्था को ही अभिव्यक्त करती है।

---

1 जायसी ग्रथावली–पद्मावती रत्नसेन विवाह खण्ड, पृ०–143
2 जायसी ग्रथावली, पृ०–29
3 जायसी ग्रथावली–पद्मावती रत्नसेन विवाह खण्ड, पृ०–143

चकई बिछुर पुकारै, कहाँ मिलौ हो नांह।
एक चांद निसि सरग में, दिन दूसर जल मांह ।।[1]

इस प्रेम व्यंजना के अन्तराल मे चकई और चॉद की एकान्त प्रेम–निरूपण की सुंदर अभिव्यक्ति हुई। दीपक ओर पतंग के प्रेम सबंध का उदाहरण परम्परा से चला रहा है। यहॉ पर पतंग मागमती तथा पद्मावती का समष्टि प्रतीक है। जब वह अपने को चिता की ज्वाला में आहूति बनाने के लिये प्रस्तुत होती है। यहॉ पर प्रेम का बलिदान परक रूप मानो मुखर हो गया है।

दीपक प्रीति–पतंग जेंउ, जनम निबाह करेउ।
नेवछावरि चहुं पास होइ, कंठ लागि जिउं देउ।।[2]

इस प्रकार सूफी कवियों ने भारतीय प्रतीक भाव धारा को भारतीय ढंग से ही ग्रहण कर अपने काव्य में प्रयुक्त किया है।

चूंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में ही स्वीकार की गयी है इसलिये प्रेम–प्रतीक के अन्तर्गत प्रणय पर आधारित भाव भूमि का विशेष महत्व रहा है। जिस प्रकार सन्त काव्य मे इन प्रणय प्रतीकों का एक क्रमिक आध्यात्मिक विकास लक्षित होता है। लेकिन इस क्रमिक विकास मे सूफी प्रभाव होने के साथ–साथ योग परक क्रियाओं का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है। सूफी दाम्पत्य प्रतीकों में पूर्वराग का महत्वपूर्ण स्थान है। यह विरह तत्व उस एकात्मभाव की अर्न्तदृष्टि का आधार प्रस्तुत करता है जिस पर साधक की भावी प्रयत्न अवलम्बित रहता है। विरह को उद्दीप्त करने वाले दो माध्यम सूफी काव्य मे बताये गये है। वे हैं–स्वप्न दर्शन एवं किसी मानवेतर प्राणी अर्थात शुक इत्यादि के द्वारा प्रिय का रूप वर्णन कर साधक के प्रेम को और अधिक बढा देना। इस विरह का रूप इस प्रकार है जब सुआ (गुरू) रत्नसेन का समाचार पद्मावती को आकार सुनाता है–

'विरह की आगि सूर जरि कांपा।
रातहुँ दिवस जरे ओहि कापा।।'[3]

---

1 जा०ग्र०–पृ०–29
2. जा०ग्र०–पद्मावती–नागमती सती खड, पृ०–339
3. जा०ग्र०–'पद्मावती सुआ भेट खड पृ०–88

जायसी में विरह वर्णन की भावगर्भित व्यंजना हुई है इस वृत्ति का सुन्दर रूप उस समय प्राप्त होता है जब विरह को व्याधि और यौवन को पदवी अथवा विरह को चन्द्रकलंक एवं यौवन को उगा हुआ चॉद कहा गया है।[1] रहस्यात्मक प्रतीकवाद की अवस्था में केवल उस परम प्रिय का आभास ही पाता है परन्तु वह इस आभास प्राप्त करने की भूमिका में वह अपने और अपने से परे चराचर प्रकृति के साथ एक सरस तादात्म्य का अनुभव प्राप्त करता है।

इस प्रकार साधक साध्य से मिलने हेतु एक 'प्रयत्न की ओर अग्रसर होता है और इद का अंह में तदाकार हो जाना ही साधक के प्रयत्नो की भूमिका प्रस्तुत करता है। प्रयत्न के बारे में यह भी बात कही जा सकती है कि यह दोनों अर्थात नायक एव नायिका दोनों तरफ से होता है। लेकिन सूफी प्रभाव के कारण यह प्रयास सर्वप्रथम पुरूष की ओर से ही होता है। यहॉ जीवात्मा 'परमात्मा' भी जीवात्मा को अंगीकृत करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। असीम की धारणा बिना ससीम के संभव नही है या इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है–इश्क मिजाजी के बिना 'इश्क–हकीकी' का कोई अर्थ ही नहीं है। इस 'इश्कामिजाजी' (भौतिक) की परिधि को जब तक लॉघा नही जाता है तब तक इश्क हकीकी की परमावस्था असम्भव है। इसी भाव की परिणति, नैहर (संसार) मे सखियों आदि मे साथ अनेक प्रकार की केलि–क्रिडाओ के द्वारा सूफियों ने प्रकट की है।

यहॉ पर एक दूसरे ही स्वरूप का दर्शन होता है। नैहर सखी, सासुर आदि का वर्णन जीवात्मा (पुरूष) के साथ होना चाहिये या परन्तु सूफी कवियों ने उसका वर्णन नारी रूप (परमात्मा) के साथ किया है। यह देखा जाता है कि भारतीय और सूफी नारी के प्रतीक के अर्थ मे अन्तर हो जाता है। भारतीय रूप में तो वह जीवात्मा का प्रतिनिधत्व करती है लेकिन सूफी पद्धति में वह परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती हैं। सूफी काव्य में ये सब संबंध नारी से संबंधित होने के बाद भी संसार एवं इन्द्रियो के प्रतीक के रूप में ग्रहण किये गये हैं। माया के बन्धन से जब तक जीवात्मा को मुक्ति नहीं मिलती, तब तक वह अपने परमतत्व (साध्य) का

1 जा0 ग्र0 पद्मावती वियोग खण्ड – पृ० – 84

साक्षात्कार नहीं कर सकती सभी सखी–सहेलियॉ (इन्द्रियॉ) यही पर रह जायेगी और अंत मे आत्मा अकेले ही सासुर–गृह (परमात्मा) की ओर गमन करेगी। इसी भाव का रूप जायसी के इस कथन में देखा जा सकता है–

ए रानी मन देखु विचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी।।
अंतहि सासुर गबनब काली।
कित हम कित यह सरवर पाली।।[1]

सुप्तावस्था एक ऐसी अवस्था है जो जीवात्मा को परमात्मा से अलग कर देती है। इस दशा का सुन्दर वर्णन जायसी ने उस समय किया है जब राजा रत्नसेन सुआसे पद्मावती के रूप–वर्णन को सुनकर अचेत हो जाता है। यह दशा क्रियात्मक रूप मे सामने आती है। इसके लिये रत्नसेन जोगी का वेष धारण कर वनों को पार करता हुआ समुद्र को लांघता हुआ अपने गतव्य स्थल तक पहुंच पाता है। दैवी शक्त्यॉ साधक के संकल्प और एंकनिष्ठता को देखते हुये प्रसन्न होकर उनका सहायक बन जाती है।

प्रेम की अंतिम अवस्था मिलन की अवस्था है जिसमें साध्य में मिल जाता है जायसी में प्रणय भावना एक अभियान का रूप ले लेती है जब रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिये जाता है। यह प्रसंग प्रतीकार्थ की दृष्टि से आत्मा का अपनी समस्त शक्तियों सहित 'परमात्मा से मिलने की इच्छा का सार्वभौमिक रूप है। जायसी ने पद्मावती–रत्नसेन भेंटखण्ड मे इस मिलनावस्था का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसमें अनेक तरह के भावो का, रति–क्रीडा का चित्र प्राप्ति होता है जो आध्यात्मिक प्रेम–उल्लास के प्रतीक माने जा सकते है। प्रेम–मिलन का अंतिम पर्यावसान आनन्द की अनुभूति में ही होता है जिसमें साधक परमतत्व से एकात्मभाव स्थापित कर लेता है। यही दशा 'फना' की दशा भी कहलाती है।

प्रेमासक्ति या रूपासक्ति प्रायः एक ही चीज है। जायसी के काव्य में रूप को लोकोत्तर रूप प्रदान किया गया है।

---

1 जा0ग्र0–मानसरोदक खण्ड पृ०–27

जायसी के काव्य में सौन्दर्य के प्रतीकों में पारस रूप सबसे प्रमुख हैं। कवि कहता है कि पारस की चमक समस्त प्रकृति में व्याप्त है।

पारस जोति लिलाटहिं ओटी
दिस्टि जो करें होय तेहि जोती।।[1]

इस सृष्टि व्यापी व्यंजना का रूप उस समय और भी मुखर हो जाता है जब कवि पारस की दीप्ति से सूर्य को भी फीका पड जाना कहता है। इसी तरह की व्यंजना उस समय भी दिखाई देती है जब अलाउद्दीन पद्मिनी का दर्शन दर्पण मे करता है।

होतहिं दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना ।।[2]

मानो माया और शैतान की सभी कामुक प्रवृत्तियॉ उन्नयन होकर पारस रूप के संस्पर्श से दीप्ति मान हो उठीं। यही नही, उसका प्रभाव तो धरती और स्वर्ग दोनों को अपने अन्दर समेटने लगा। इस प्रकार कवि ने 'पारस' रूप के द्वारा एक ऐसी प्रतीक की उद्भावना की है जो उसकी निजी धरोहर है।[3] धनुष एवं वाण–प्रतीकात्मक अर्थ में घनुष और वाण को कामदेव का प्रतीक माना जाता हैं जायसी ने अपने काव्य मे भौहों के लिये 'धनुक' रूप ग्रहण करते हुये भी तत्व की ओर इंगित किया है–

उहै धनुक किसिन पहं अहा। उहै धनुक राधे कर गहा।।
ओहि धनुक रावन संहारा। वहै धनुक कंस कह मारा।।[4]

इसी प्रकार वाण (वरूनी) का प्रतीक वर्णन कवि इस प्रकार करता है।

उन वानन्ह अस को जो न मारा।
बैधि रहा सगरौ संसारा।।
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वे सब बान ओहि के हने।।[5]

1 जा0ग्र0, पद्मावती रूप चर्चा खण्ड, पृ०–242
2. मानसरोदक खण्ड, पृ०–29
3. 'हिन्दी काव्य मे प्रतीक योजना' (वीरेन्द्र सिह), पृ०–241
4 नख–शिख खण्ड पृ०–49
5. जा0ग्र0 नख–शिख खण्ड, पृ०–48

जायसी के काव्य में सौन्दर्य के प्रतीकों में पारस रूप सबसे प्रमुख हैं। कवि कहता है कि पारस की चमक समस्त प्रकृति में व्याप्त है।

पारस जोति लिलाटिं ओटी
दिस्टि जो करें होय तेहि जोती।।[1]

इस सृष्टि व्यापी व्यंजना का रूप उस समय और भी मुखर हो जाता है जब कवि पारस की दीप्ति से सूर्य को भी फीका पड़ जाना कहता है। इसी तरह की व्यंजना उस समय भी दिखाई देती है जब अलाउद्दीन पद्मिनी का दर्शन दर्पण में करता है।

होतहिं दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना ।।[2]

मानो माया और शैतान की सभी कामुक प्रवृत्तियॉ उन्नयन होकर पारस रूप के संस्पर्श से दीप्ति मान हो उठीं। यही नहीं, उसका प्रभाव तो धरती और स्वर्ग दोनों को अपने अन्दर समेटने लगा। इस प्रकार कवि ने 'पारस' रूप के द्वारा एक ऐसी प्रतीक की उद्भावना की है जो उसकी निजी धरोहर है।[3] धनुष एवं वाण–प्रतीकात्मक अर्थ में घनुष और वाण को कामदेव का प्रतीक माना जाता हैं जायसी ने अपने काव्य में भौहो के लिये 'धनुक' रूप ग्रहण करते हुये भी तत्व की ओर इंगित किया है–

उहै धनुक किसिन पहं अहा। उहै धनुक राधे कर गहा।।
ओहि धनुक रावन संहारा। वहै धनुक कंस कह मारा।।[4]

इसी प्रकार वाण (वरूनी) का प्रतीक वर्णन कवि इस प्रकार करता है।

उन वानन्ह अस को जो न मारा।
बैधि रहा सगरौ संसारा।।
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वे सब बान ओहि के हने।।[5]

---

1 जा0ग्र0, पद्मावती रूप चर्चा खण्ड, पृ०–242
2 मानसरोदक खण्ड, पृ०–29
3. 'हिन्दी काव्य मे प्रतीक योजना' (वीरेन्द्र सिह), पृ०–241
4. नख–शिख खण्ड पृ०–49
5. जा0ग्र0 नख–शिख खण्ड, पृ०–48

ईरान के सूफी कवि इस संसार के अस्तित्व को बुलबुले का रूपान्तर मानते है।

चंद, चकोर, खंजन प्रतीकों का प्रयोग प्रेम व्यंजना के लिये ही किया गया है। चद और चकोर का प्रेम जगत प्रसिद्ध है, पर कवि ने इस प्रेम 'भाव के साथ रूप–व्यजन भी अत्यन्त पटुता से की है। यथा :–

जस–जस हेर फेर चख भोरी।
लरै सरद महँ खंजन जोरी ।।[1]

एक अन्य जगह पर जायसी ने सौन्दर्य प्रतीक का चित्रण इस प्रकार किया है–कि भौरा काले केशो का प्रतीक है और हंस सफेद बालो का जैसे–जैसे यौवन ढलता जाता है आदमी वृद्ध होता जाता है वैसे–वैसे काले बालो का स्थान पर श्वेत केसों का अधिपत्य होता जाता है। प्रतीक की दृष्टि से यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ रूढिगत प्रयोग के साथ–साथ नवीन प्रयोग भी लक्षित होता है। जो हंस के रूप मे प्रयुक्त है।

इसके अतिरिक्त जायसी के काव्य में एक ऐसी परम्परा प्राप्त होती है जो अन्य अर्थ की व्यंजना करने में सफल है। जिसे समासोक्ति कहते हैं। इस प्रकार के प्रतीकात्मक संदर्भो की योजना में लौकिकता का लोप हो जाता है और व्यंजना तथा लक्षणा से प्राप्त किसी तात्विक अर्थ की निष्पत्ति होती है। जिससे इसमे रहस्य भावना का रूप दृष्टिगत होने लगता है।

सूफी काव्य मे सामान्य रूप से स्वप्न तथा दर्पण दर्शन के प्रसंग पूरे प्रतीकात्मक है। प्रतिबिम्ब का दूसरा रूप सौन्दर्य वर्णन मे मिलता है जैसा कि संकेत से विदित है कि ह्रदय रूपी दर्पण पर जब 'प्रिया रूप परमात्मा' का बिम्ब पडता है तो उसमें चारों तरफ प्रकाश हो जाता है और यही बात विश्व के प्रति भी सत्य है जो उस प्रिय का प्रतिरूप हैं, उसका प्रतिबिम्ब है, उसकी छाया है।

---

1 जा0ग्र0 पृ० 149

दूसरा रूप उस समय प्राप्ति होता है जब प्रेमिका का 'रूप' दृष्टिगत हो जाता है, उसकी अनुभूति हो जाती है तब यह सम्पूर्ण संसार "उसी" का दर्पण हो जाता है। जायसी ने पद्मावती के रूप की जिसे देखकर जीव का संभ्रमित हो जाना भी दिखाया गया है।

तात्विक समासोक्तियाँ मूलतः भारतीय चिंतन पर आश्रित है। सूफी कवियों के सम्मुख 'परमतत्व' की कल्पना एक ज्योति के समान ही दृष्टिगत होती है विकास की दृष्टि से यह 'ज्योति अनुभूति' चेतना के उर्ध्व रूप की परिचायिका है जिसकी व्याप्ति साधक सर्वत्र देखता है।

परमतत्व की अनुभूति सूफियों के अनुसार–प्रेमग्रथ के द्वारा हो सकती है जहाँ रहस्यभावना किसी स्पष्ट आधार को पा जाती है ओर उसके द्वारा ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करती है। इस तथ्य का भाव नागमती के इस कथन मे दिखाई देता है–

मै जानेउ तुम्ह मोहीं माही। देखौ तकि तौ हौं सब पाहीं

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म की अनुभूति किस प्रकार से ज्ञान, अनुभूति एवं भक्ति–भावना (प्रेम) से प्राप्ति हो सकती है। कहा जाता है कि निराशा का नाश ज्ञान के आने से ही हो सकता है जब तक साधक अचेतन की दशा या सुखावस्था की दशा मे होता है तब तक वह सत्य ज्ञान के निकट नहीं आ सकता तभी तो जायसी ने जागृतावस्था में ही ईश्वर से (पद्मावती) से मिलन की बात कही है। प्रेम का रंग ही ऐसा है कि उसमें एक बार रंगने वाला निरन्तर उसी में तल्लीन हो जाता है। यहाँ तक कि वह अन्त में समस्त सृष्टि को उसी तल्लीनता में लीन देखता है। रूप सौन्दर्य परक ऐसी समासोक्तियाँ परम तत्व एवं रूप वर्णन के अन्तर्गत ही आती हैं जब परमरूप का प्रकाश विकीर्ण होता है तो उसके सामने अन्य रूप गौण हो जाते है या पृष्ठिभूमि मे चले जाते है। यही बात अर्न्तजगत के लिये भी सत्य है। अंतर का अंधकार सत्य प्रकाश से तिरोहित हो जाता है और साधक का 'कविलास मानो प्रकाशित हो जाता है।

जायसी ने पद्मावत के अंत में लिखा है–

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुध पद्मिनी चीन्हा।।
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँधा सोई न एहि चित बँधा।।
राघव दूत सोइ सेतानू।
माया अलाउद्दीन सुलतानू।।
प्रेमकथा एहि भाँति विचारेहु।
बूझि लेहु जो बूझे पारहु।।[1]

अर्थात तन रूपी चित्तौड का मन रूपी रत्नसेन राजा है। हृदय सिंहल है और पद्मिनी प्रज्ञा अथवा ब्रह्म है जिसे प्राप्त करने के लिये सुआ रूपी गुरू की आवश्यकता पडती है। बिना गुरू के ज्ञान के निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। नागमती रूपी दुनिया धंधा मनुष्य को विविध प्रकार से अपने में बांधे रहती है, जो उसे समझ लेता है उसे मुक्ति मिलती है। साधना के मार्ग में अलाउद्दीन रूपी माया और राघव चेतन रूपी शैतान सबसे बड़े अवरोध है। उन्हें हटाकर ही चरम सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार यह देखा गया कि सम्पूर्ण कवि एक प्रकार का रूपक या अन्योक्ति बन जाती है। 'पद्मावत की मूल कथा–साधना की कथा है। सामान्य कथा नहीं। जिस निराकार भक्ति का मसनवी शैली मे जायसी ने प्रतिपादन किया उसकी महानता में किसी प्रकार का संदेह नही किया जा सकता।[2]

डा0 सुधीन्द्र ने पद्मावत के बारे मे इस प्रकार कहा है "पद्मावत एक विराट आध्यात्मिक रूपक सकेत अथवा अन्योक्ति है जिसमें लौकिक शारीरिक अथवा बोधगम्य प्रतीक द्वारा अलौकिक अशरीरी और ज्ञानातीत ब्रह्म, जीव और उसके चिरन्तन सबध अद्वैत की व्यंजना की है।"

1. जा0ग्र0–सपा0 शुक्ल, पृ0–309
2. जायसी और उनका पद्मावत–दान वहादुर पाठक, पृ0–180

यहाँ समासोक्ति एवं अन्योक्ति को संक्षिप्त रूप मे जान लेना भी आवश्यक समझा गया है जब अप्रस्तुत वर्णन द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाय। "कवि ने भौतिक भावनाओ पर आध्यात्मिकता का आवरण चढाने के लिये अपनी कथा के अन्त में एक विस्तष्त अन्योक्ति का क्रम देने की चेष्टा की है।"[1] समासोक्ति वहाँ होती है जहाँ प्रस्तुत विषय को उठाकर अप्रस्तुत की झलक दिखाई जाय अर्थात जहाँ प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का बोध कराया जाय। 'पद्मावत' में प्रयुक्त प्रतीक इस प्रकार है–

पद्मावती–बुद्धि, सिहल–हृदय, चित्तौड़–तन, रत्नसेन–मन, नागमती–दुनिया धधा, अलाउद्दीन–माया, राघव चेतन–शैतान, सुआ–गुरू का प्रतीक है। चूंकि पद्मावत की प्रेम–कथा अपने मूल रूप में आध्यात्मिक प्रेम–कथा मानी गयी है इसलिये यहाँ पर प्रेम एवं सौन्दर्य प्रतीक वर्णन के साथ–साथ आध्यात्मिक प्रतीक का सक्षिप्त चित्रण भी आवश्यक माना गया है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्रतीक योजनाओं का मुख्य उद्देश्य–प्रतीकात्मक समन्वय ही दिखाई देता है। जायसी ने भारतीय पद्वति पर आधारित प्रतीको को ग्रहण किया है तथा सूफी प्रतीकों को भी भारतीय वातावरण के अनुकूल रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया। उनके योग परक प्रतीकों में भी भारतीय तत्व दर्शन का रूप दिखाई देता है। जायसी के प्रेम–प्रतिकों में भारतीय प्रणय भावना का स्वरूप व्यंजित होता है। उन्होंने समाज तथा धर्म के लिये भी यह आवश्यक समझा होगा कि प्रतीक का समान्वयात्मक दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियों में उत्पन्न संघर्ष, द्वन्द्व को शांत करने मे सहयोग दे सकता है।

राम कव्य में प्रतीक वर्णन :– निर्गुण भक्ति काव्य के प्रेम वर्णन के प्रतीको में देखा गया कि कबीर एवं जायसी आदि कवियों ने निर्गुण रूप पर ही अधिक बल दिया है जबकि राम काव्य धारा एवं कृष्ण काव्य में सगुण रूप की चरम अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

---

1. जायसी का पद्मावत ' गोविन्द त्रिगुणायत पृ० 61

सन्तों एवं सूफियो में अपनी प्रेम भावना को साकार रूप देते हुये भी उसे मूलतः निर्गुण ही रख। और जब सगुण काव्य पर दृष्टि डाली जाती है तो उसमें प्रेमा–भक्ति की प्रधानता दिखाई देती है। प्रतीकों का वैसा स्वतंत्र रूप राम काव्य मे दिखाई नहीं देता जैसा कि कृष्ण काव्य में। ब्रह्म के अवतारवाद का रूप सगुण काव्य मे रहस्यवादी प्रतीक की भावना का विकास करता है। 'लीलातत्व' का प्रतीकात्मक अर्थ तात्विक दृष्टि से ही देखा जाता है । लीला का अर्थ–रस, आनन्द एवं लीला के समन्वित रूप का द्योतक है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो धर्मशास्त्र का उद्देश्य परमात्मा नहीं है, पर उसका उद्देश्य परमात्मा के विविध रूपों के अभिव्यक्तिकरण में है। इसी प्रकार राम काव्य में अवतार भावना में भी राम कथा का प्रतीकार्थ दिखाई देता है।

सगुण भक्ति में लीला का महत्व दो दृष्टियों से दिखाई देता है–एक प्रकट तथा दूसरी अप्रकट लीलाओ से। अप्रकट लीला धरती से परे 'गोलोक' (परमपद) की लीला है जिसक प्रकट प्रसार धरती पर होता है। लीला मे आकर ही अक्षर रूप ब्रह्म क्षर रूप मे बहुमुखी विकास प्राप्त करता है। फिर वह मानवीय चेतना के विविध अभियानों की ओर अग्रसर होता है। अपने लौकिक एवं दिव्य कार्यो के द्वारा वह एक प्रकार से मानवीय शक्ति की ओर ही संकेत करता है। इस प्रकार ब्रह्म अपने ही विस्तार की लीला से मोहित होता है। इस मत का स्पष्ट रूप मांडुक्योपनिषद मे इस प्रकार प्राप्त होता है जो यह इन प्रणादि अनन्त भावो से विकल्पित हो रहा है जिससे कि वह स्वयं ही मोहत हो रहा है।

माया, जीव, ससार आदि का प्रतीक, राम के ब्रह्म रूप का प्रतीक माना गया है। जैसे–ससार को 'भ्रम की टट्टी' कहा गया है। मृगमीरीचिका भी इसी अर्थ मे ग्रहण किया गया है। माया को तुलसी ने 'मृगवारि' जेवरी का सॉप आदि नामो से पुकारा है। माला में सर्प की अवतारणा की व्यक्ति का भ्रम ही है। इससे पार पाने के लिये केवल आत्मज्ञान एवं प्रभु की कृपा आवश्यक मानी गयी है। तुलसी ने संसार की निस्सारता को 'कदलीतरू' से भी अभिव्यक्त किया है। ऊपर से देखने में कदली अत्यन्त मोहक लगती है लेकिन उसके सार तत्व (गूदा) को प्राप्त करना

अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी प्रकार संसार के विषय भोगादि जीव अत्यन्त मोहक दिखाई देते हैं परन्तु वह उस रूप–राशि से अरूप या सारतत्व की अनुभूति नही कर पाता है। वही हाल तुलसी ने चातक का भी बताया है जो धूम्र समूल (संसार के विषयादि) को मेघ समझकर हर्षित होता है वहाँ पर न तो उसे शीतलता मिलती है और न ही जल की बूंदे और ऊपर से उसके नेत्रो की हानि भी होती है। इस प्रकार तुलसी ने संसार को भ्रम, मोह, विषय–वासना का ही प्रतीक माना है।

सगुण काव्य में प्रेम–भक्ति का स्वरूप अनेक रूपों में प्राप्त होता है। जैसे–दैन्य, बात्सल्य, संख्य एवं माधुर्य। कहीं पर उसमें दास्य भाव की प्रधानता होती है जैसे–राम काव्य में एवं कही पर वह सख्य एवं माधुर्य भाव के द्वारा जैसे कृष्ण काव्य में, तो कही पर दैन्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव या कान्ता भाव के रूप मे जैसे–मीरा में।

राम काव्य मे भक्ति का भाव मूलतः सेवक–सेव्य भाव का है। इसी कारण यहाँ पर मर्यादा का अधिक आग्रह हो जाता है। इस तरह की भक्ति में जो भी प्रतीक प्रयुक्त होंगे वे मर्यादित एवं संयत्रित अधिक होंगे। कबीर ने भी अपने दास्य भक्ति में दास्य भाव के प्रतीक की व्यंजना की है। और तुलसी ने भी अपने काव्य मे 'राम' का गुलाम माना है और राम को 'साहिब'। 'विनय–पत्रिका' में यह भाव पाया जाता है।

तुलसी के 'रामचरितमानस' में भरत, हनुमान, विभीषण आदि दास्य भाव के प्रतीक माने जा सकते हैं। तुलसी ने इन पात्रो के आदर्शीकरण के द्वारा उन्हें एक प्रकार से आदर्श–प्रतीको की कोटि में ही रखा है आदर्शीकरण के द्वारा कोई भी 'पात्र' प्रतीक का रूप धारण कर सकता है। इस दृष्टि से राम का चरित्र भी एक प्रतीक है जो आदर्शीकरण की चरम परिणति है।

चातक का प्रतीक :– राम कव्य में प्रेम–भक्ति का स्वरूप दास्य भाव का होने पर भी कवियों मे शुद्ध प्रेम की झलक मिलती है। इन परम्परागत प्रतीकों में केवल चातक वृत्तिको छोडकर किसी अन्य प्रतीकात्मक प्रवृत्ति की स्पष्ट व्यजना नहीं

मिलती जो चातक वृत्ति के समकक्ष रखी जा सके। अन्य प्रेम प्रसंग का उदाहरण दृष्टव्य है–उदाहरण स्वरूप प्रेम संबंध को व्यक्त करने में मृग रूप का सहारा लिया गया है–जो व्याध की सापेक्षता मे इस प्रकार चित्रित किया गया है–

आपु व्याध को रूप धरि, कुहो कुरंगहि राग।
तुलसी जो मृग मन मुरै, परै प्रेम–पट दाग ।।[1]

प्रतीकार्थ की दृष्टि से यह मृग का प्रेम परक आदर्श भक्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। साधक को अपने साध्य के प्रति मृग जैसी दास्य भावना को रखना चाहिये। तभी वह अपने स्वामी का साक्षातकार कर सकता है। उसके हृदय पर–प्रेम–चिन्ह अंकित कर सकता है। प्रेम–भक्ति भाव को व्यंजित करने वाला सबसे प्रमुख प्रतीक जिसे तुलसी ने अपनी भक्ति को मानो प्रतीक ही बना डाला है–वह है 'चातक'। यह प्रतीक रूढ़ि परम्परा से प्राप्त है। इस प्रतीक के माध्यम से तुलसी ने अपने हृदयगत भावों, संवेदनाओं की एवं अपनी अनन्य भक्ति तथा निरीहता की जितनी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है–वह प्रेम एवं भक्ति के क्षेत्र मे एक अलग ही महत्व रखती हैं। चातक प्रतीक के द्वारा तुलसी दास में भक्ति भावना का क्रमिक विकास देखा जा सकता है–

प्रथम स्थिति का उदय उस समय होता है जब साधक अपने को चातक का प्रतिनिधिरूप मानने को अग्रसर होता है। यह उद्भव इस बात पर आधारित होता है कि प्रेमी भक्त अपने को आराध्य के प्रति परम जिज्ञासा और उसकी महानता को किस सीमा तक अपने हृदय में साकार कर सका है तभी तो कवि ने साधना पथ का अवलोकन करते हुये प्रार्थना की है–

'एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसी दास'।[2]

यहॉ धन और चातक के अन्योन्य संबंध से प्रेम भक्ति का उदय होता है। इस अवस्था मे साधक (चातक) साध्यतत्व की प्राप्ति करने के लिये प्रस्तुत होता है। इस प्रस्तुतीकरण की आधारशिला का नाम जय है जो साधक की चंचल मनोवृत्तियो

1 तुलसी ग्रथावली,–दोहावली, पृ०–7 108–314
2. तुलसी ग्रथावली, पृ0–105

को एक बिन्दु की ओर केन्द्रित करती है। अतः नाम– स्मरण का महत्व राम काव्य में जगह–जगह पर दिखाई देता है। इसी 'नाम–जय' को चातक वृत्ति का अपरोक्ष रूप देते हुये तुलसी ने चातक वृत्ति में नाम–तत्व का सुन्दर समाहार इस प्रकार किया है –

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
घोर भव नीर निधि नाम निज नांवरे।।[1]

आगे भी चातक की दशा की प्रतीकात्मक व्यंजना देखिये –

रटत–रटत रसना लटी, तृषा सूखि गये अंग।
तुलसी चातक प्रेम के, नित नूतन रूचि रंग।।[2]

इस पंक्ति मे चातक मठ की उद्भावना प्रकट की गयी है जो आराध्य तक पहुंचने का सोपान है। इसे तीन रूपों में देखा जा सकता है। पहला तो यह कि–स्वयं चातक का अपना 'गान' बनाये रखना यानि अपने निजत्व का अनुभव करते रहना जो भक्ति की एक आवष्यक दशा है। दूसरी बात यह है कि अपने आराध्य से मॉगने की प्रबल कामना। और यह कामना सासारिक विषयो से अलग हटकर निष्काम भक्ति प्राप्त करने की याचना मात्र है। अंत मे, ईष्वर से प्रेम की एक मात्र अभिलाषा ही साधक का उद्देश्य बन जाता है। इन भक्ति के तीनो तत्वों का सुन्दर रूप इन दोहों में देखा जा सकता है–

मान राखिबो, मांगिबो, पिय सो नित नव नेह ।
तुलसी तीनहुँ तब फबै, जो चातक मतु लेहु।।[3]

भक्ति का सबसे आवश्यक अंग चातक वृत्ति की याचना का स्वार्थरहित रूप है। जो केवल एक स्वाति–बूद के अतिरिक्त कुछ नही चाहता–

तुलसी चातक मांगनों एक सबै घन दानि ।
देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूंटक पानि।।[4]

---

1 विनय पत्रिका, पृ0–105 तथा 133
2. तुलसी ग्रथावली–सपा–शुक्ल, दोहावली, पृ0–105–280
3 तु0 ग्र0, सपा0 शुक्ल, दोहावली, पृ0–106–285
4. वही दोहावली, पृ0–10–287

यही एक घूंट की प्रबल आकांक्षा भक्ति मनोविज्ञान का केन्द्र है। इस भक्ति के द्वारा ही मन आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है एवं सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान ने गीता में इसे भक्ति–योग कहा है। इस एक घूंट के मधुरपान के लिये चातक क्या नहीं सहता है? इसी एकनिष्ठ प्रेम को 'अलख–प्रीति' कहा गया है। इसी तरह की प्रेम–भक्ति करने से चातक का स्थान, मोर, कोकिल एवं चकोर से भी ऊँचा माना गया है। इसीलिये चातक को तुलसी ने प्रेम–तृष्णा से परिपूर्ण माना है–

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जानि जग, जाचक बारहमास।।[1]

चातक वृत्ति ऐसी ही होती है जो स्वाति–जल बारहो महीने समान रूप चाहती है। यही प्रेमी साधक की निरन्तर नित्य इच्छा है जो चिरन्तन है एव सदैव नवीन है। इस प्रकार तुलसी ने 'चातक' प्रतीक के द्वारा राम के प्रति अनन्य प्रेम परक भक्ति का निरूपण किया है। भक्ति एवं लीला के लिये सगुण रूप की आवश्यकता होती है तुलसी ने राम के रूप सौन्दर्य और शील से प्रभावित होकर उनकी भक्ति की है। राम के रूप–सौन्दर्य की व्यंजना के लिये अनेक उपमानों का प्रयोग किया है। उपमानों का प्रतीकत्व राम काव्य मे उतना नही है जितना कि केशव के रामचन्द्रिका में यहॉ पर केशव पर रीतिकालीन प्रभाव दृष्टिगत होता है। लेकिन तुलसी ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया वे स्वाभाविक और हृदयग्राही बन पडे हैं। उदाहरण के रूप में – विवाह के प्रसंग में सीता की मॉग में सिंदूर भरते समय तुलसी ने इसे प्रतीकात्मक रूप में इस प्रकार वर्णित किया है–

अरून पराग जलज भरि नीके।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें।।[2]

यहॉ प्रतीक का सुन्दर भाव देखने लायक है–कमल–राम के करों का प्रतीक है अरून–पराग सिंदूर का प्रतीक है। अहि या सर्प राम की श्याम भुजा का प्रतीक है और चन्द्रमा जिसको अहि (भुजा) लोभवश अमृत की इच्छा से भूषित कर रहा है,

---

1. तुलसी ग्रेथावली, दोहावली, पृ0–203–296
2 मानस–बालकाण्ड, पृ0–162, दो0–324/9

सीता के मुख का प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ कहा जा सकता है कि राम कथ काव्य में प्रतीकों काव्यात्मक रूप कम एवं तात्विक दृष्टिकोण का प्रभाव अधिक दिखाई देता है चूंकि तुलसी के राम अवतार ग्रहण कर लीला करते हैं। एक पक्ष तो उनका मानवीय रूप है लेकिन दूसरा पक्ष आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करता हुआ दिखाई देता है। जैसेः—राम—रावण का युद्ध रूप में सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों का ही सघर्ष माना जाता है। दूसरी तरफ राम सत्य के प्रतीक एव रावण असत्य का प्रतीक है और जीत सदैव सत्य की होती है। यदि मनुष्य तामासिक वृत्ति को छोडकर सात्विक वृत्ति की तरफ धीरे—धीरे बढे तो एक दिन सात्विक एवं तामासिक का संघर्ष स्वंय ही समाप्त हो जायेगा। यदि ऐसा हो तो उस विश्व का स्वरूप ही कुछ और होगा। जब तक यह संसार है तब तक उनमे सभी प्रवृत्तियाँ कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहेगी। मानव की इन्ही कुप्रवृत्तियों का परिणाम है कि आज हत्या, आतंकवाद जघन्य अपराध जैसी चीजे हमे दिखाई पडती है। तुलसी के काव्य का यही संदेश है कि हम पूर्ण रूप आदर्श को भले ही न प्राप्ति कर सकें लेकिन आदर्श का अनुकरण कर अवश्य ही मानवता की रक्षा कर सकते है।

सूर एवं मीरा में प्रेम वर्णन के प्रतीक :— अपने काव्य में सूर ने प्रेम भाव की चरमपरिणति गोपी भाव तथा राधा भाव में की है। सूर का प्रेम माधुर्य भाव से परिपूर्ण होने के कारण कृष्ण के प्रति उत्तरोत्तर बढता ही जाता हैं और उनकी स्थिति 'कीट—भृंग' के समान परिलक्षित होती है। मीरा मे व्यक्तिगत प्रेम साधना के कारण गोपी भाव की चरम अनुभूति प्राप्ति होती है मीरा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मानो इसी गोपी भाव में पूर्ण रूप से लीन हो गया है। अतः मीरा की साधना का प्रतीक यह गोपी भाव ही है। यह गोपी भाव प्रेम—भक्ति की वह परमावस्था है जहाँ नित्य आनन्द का स्त्रोत प्रवाहित होता रहता है। यह आनन्द पर ब्रह्म के प्रति दिव्य प्रेम से अनुप्राणित होने से प्रेम—भक्ति के द्वारा जाना जाता है इसी से मीरा का गोपी भाव और गोपियों का प्रेम भाव—दोनों ही मधुर प्रेम—साधना के रूप है जहाँ रतिपूर्ण प्रेम का उन्नयन मधुर भाव में क्रमशः होता है।

सूर के गोपी–भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष है, जबकि मीरा का आलम्बन अप्रत्यक्ष भाव जन्य और अनुभूति परक विरह से कहीं अधिक ओत–प्रोत है। यही कारण है कि मीरा के गोपी भाव में एक विरह विदग्ध साधिका की टीस एवं तडपन है। मीरा का मुरारी तो उनके ह्रदय मे बसा हुआ जिसका वे पल–पल दर्शन करती है। वे कहती है **"श्याम रूप हिरदां बसां, म्हारे ओर न भावां"**[1] उन्होंने श्याम का रूप अपने ह्रदय में बसा लिया है अब कोई दूसरा नहीं भा सकता मीरा कहती है कि–कृष्ण से उनकी प्रीति पुरानी है जनम–जनम की है, पूरब जनम की है–तभी तो मीरा का अपने साँवरिया पर जन्म सिद्ध अधिकार है। मीरा का यह प्रेम भाव गोपी भाव ही है। यह ईश्वर के प्रति तन्मयता एवं एकनिष्ठ प्रेम का ही माधुर्य परक रूप है।

इन संबंध प्रतीकों के द्वारा प्रेम–भक्ति भावना को और तीव्र करने के लिये सूर मीरा आदि सगुण भक्त कवियो ने अपने आत्माभिव्यक्ति की तीव्र व्यंजना को ही व्यंजित किया है। इन प्रतीक संबंधों में अन्योन्याश्रित सबंध दिखाई देता है। फिर भी भक्त और भगवान के बीच भेद संबंध होते हुये भी अभेदत्व की स्थिति दिखाई देती है। सूर ने 'कमल' और 'भौरे' के संबंध के द्वारा भक्ति की इसी भाव भूमि का प्रतीकात्मक निर्देश किया है–

भौंरा भोगी वन भ्रमैं (रे)
भेद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै (पै)
कमल बँधावै आप।।[2]

इस पद का भाव यह है कि जीव सांसारिक विषय वासनाओं में कितना ही लिप्त रहे उसकी मनोवृत्तियॉ अपने साध्य तत्व 'कमल' के आकर्षण से उसकी ओर अवश्य उन्मुख होंगी। अर्थात व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति ईश्वर की ओर उन्मुख होने में है। क्योंकि वह ईश्वर का अश है। सासारिक मोह मे पडकर वह अपने वास्तविक रूप को भुला देता है। जैसे ही ईश्वर से अपने को अलग नही समझता।

---

1 मीराबाई और उनकी पदावली–देशराज सिह भाटी पद–54, पृ0–221
2 'सूरसागर' प्रथम भाग, पृ0–106/325

अतः यहाँ भक्त और भगवान की द्वैत भावना के साथ ही अद्वैत की भी झलक दिखाई देती है। जो भक्ति – भाव के लिये परमावश्यक है। इसी जीव को संबोधित करते हुये (भृंगी) सूरदास ने उसे अद्वय तत्व में ध्यान लगाने की बात कही है–

भृंगी री भजि, श्याम कमल पद
जहाँ नलिनि को बास।[1]

सत्य तो यह है कि भौंरा कमल का प्रेमी है उसके सामने चंपक बन (संसार) की क्या महत्ता है? जैसा कि जाना जाता है कि उच्च लक्ष्य के सामने गौण लक्ष्यो का तिरोभाव एक सामान्य प्रवृत्ति है। जब जीव साध्य के साथ एकाकार होना चाहता है तो उसके सामने संसार के विषय भोग (चंपक) इत्यादि अपने आप ही तुच्छ हो जाते हैं। वे केवल एक घटना मात्र रह जाते है। गोपियों की भी यही स्थिति है। जब वे कहती हैं –

सूर भृंग जो कमल के विरही
चंपक वन लागत चित भोरे।[2]

इसी प्रकार सूर ने एक अन्य स्थान पर चकई को संबोधित करते हुये कहा है–

चकई री चलि चरन–सरोवर जहाँ न प्रेम–वियोग ।[3]

इन प्रतीकों का स्वरूप मुख्यतः परम्परागत ही है फिर भी इन प्रतीकों में जो अनुभूतिजन्य एकनिष्ठ भाव की व्यंजना है, वह प्रतीको को एक उच्च भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। इन प्रतीकों के द्वारा भक्त कवियों ने जिस प्रेम–मयी भाव भूमि का प्रस्तुतीकरण किया है, उसमे इन प्रतीकों का स्थान मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद की ओर ही संकेत करता है। सगुण भक्त कवियो ने ऐसी ही प्रेम भक्ति के द्वारा ब्रह्म रूप 'कृष्ण का ज्ञान प्राप्त किया था।

---

1 सूरसागर, पृ0–102/339
2 सूरसागर, पृ0–201/339
3 सूरसागर, पृ0–111/337

सगुण भक्ति कृष्ण काव्य में प्रेम का दूसरा आदर्श चातक–वृत्ति है। तुलसी ने चातक के प्रतीक के माध्यम से राम की लीला का आध्यात्मिक रहस्य उद्‌घाटित किया था। कृष्णकाव्य में भी चातक वृत्ति का प्रतीक प्राप्त होता है लेकिन उस स्तर का नही जिस स्तर का तुलसी में प्राप्त होता है। तुलसी ने अपने काव्य में चातक वृत्ति का प्रयोग एक स्वतंत्र सदर्भ में प्रयुक्त किया था। फिर भी, सूर ने भी चातक वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेम–भावना की व्यजना इस प्रकार की है–

सुनि परिमित पिय प्रेम की (रे) चातक चितव न बारि
धन आक्षा सब दुख सहै, पै अनत न जांचै बारि।[1]

सूर की यह व्यंजना तुलसी की ही तरह है। अपने परमसाध्य (मेघ) की आशा में चातक रूपी प्रेमी–भक्त को चाहे जितने कष्ट सहने पडे, उसे चाहिये ईश्वर प्रेम रूपी स्वाति बूँद। इसी ईश्वर को पाने के लिये भक्त को चाहे जितने संकट आये, सारे विध्नों को सहते हुये वह ईश्वर को पा लेना चाहता है। इसी चातक–वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेमाधार की व्यंजना गोपियो ने स्वयं पर आरोपित की है–

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसहि रैनि रटति हौं पिय पिय तैसहिं वह पुनि गावत
अतिहि सुकंठ दाह प्रीतम के, तारू जीभ न लावत"।।[2]

'तारू जीभ न लावत' में मानो चातक की वृत्ति भक्ति के भाव से एकाकार हो गयी है। इसी प्रकार मीरा ने भी अपने विरह की व्यंजना पपिहा के स्वतंत्र प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त किया है। मीरा की यह अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक रूप में अधिक हुई है जो उनके मनाभावों को साकार रूप प्रदान करती है।–

पपइया म्हारा कब री बैर चितार्‌या । टेक।।
म्हा सोबूं छी अपणे भवण मां पियु पियु करता॰ कार्‌या
दाध्या ऊपर लूण लगायाँ हि बड़ो करवत सार्‌या।।[3]

कृष्ण काव्य में प्रेम भावना को कुछ अन्य प्रतीको के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। **जैसेः– चकई, जल–मीन, दीपक–पतंग और सरिता–तड़ाग।**

---

1. सूरसागर, पृ0–1540 ।3839 ।
2 सूरसागर, पृ0–1390 ।3334 ।
3 मीराबाई की पदावली, पृ0–126–83

मीरा ने इन प्रतीक योजनाओ मे दीपक और मीन के द्वारा जो प्रेम – भावाभिव्यजना प्रस्तुत की है, वह भक्त मीरा के आनन्दपूर्ण प्रेम विरह की भावना से लबालब है। उदाहरण इस प्रकार है–

नागर नंद कुमार लाग्यो थारो नेह ।। टेक
पाणी पीर णा जाणई, मीन तलफि तज्यो देह।
दीपक जाण्या पीर णा, पतंग जल्या जल खेह।
मीरा रे प्रभु सांवरे रे, थे बिण देह अदेह।।[1]

मीन और पतंग की एकनिष्ठ प्रेम साधना में मानो मीरा की समस्त प्रणय भावना केन्द्रीभूत हो गई है। इसी अनन्य एवं एकनिष्ठ प्रेम भावना को सूरदास ने 'सूरसागर' में दीपक–पतंग और जल–मीन के संबंध द्वारा अभिव्यक्त किया है। गोपियों ने अपने प्रेम और विरह का विस्तार केवल अपने तक ही नही सीमित रखा बल्कि वे प्रेम को सम्पूर्ण चराचर प्रकृति में भी विस्तार देती है। अर्थात वे अपने मनोभावो का प्रभाव प्रकृति पर भी डालना चाहती है और वे कृष्ण के बिना जैसा अनुभव करती हैं वैसा ही प्रकृति में भी देखती है। तभी वे प्राकृतिक घटनाओं को मानवीय क्रियाओं के संदर्भ में देखती है। गोपी–विरह के प्रसग में सूरदास ने समस्त भ्रमर–गीत को ही मानवीकरण के रूप में चित्रित किया है। वहाँ पर गोपियों के मनोभावों को प्रकृति पर एक प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है–

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह–बियोग नंदनंदन के ठाढ़े क्यों न जरे।।[2]

इसी प्रकार गोपियो ने यमुना पर किस तरह अपनी विरहावस्था का आरोप किया है–पर आरोप कर उसे मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया है।[3] गोपियाँ रात्रि को 'नागिन' के रूप में चित्रित करते हुये कहती है–

पियु बिनु नागिन कारी रात।
जौं कहुँ जामिनि उदित जुनैया डसि उलटी है जात।[4]

---

1 मीराबाई की पदावली, पृ0–133 ।105।
2 सूरसागर सार, पृ0–128
3 सूरसागर सार, पृ0–131
4. सूरसागर सार, पृ0–135

गोपियों के प्रेम–विवाह का प्रतीक कालिंदी, यामिनी उनकी मानसिक भावनाओं का ही एक रूप है–

यहाँ प्रेम–प्रतीक का वर्णन करने के बाद साधनागत प्रतीक पर विचार करना आवष्यक है। ऐसे प्रतीकात्मक प्रसग पर विचार करना आवश्यक है। ऐसे प्रतीकात्मक प्रसग साधक की उस मनोदशा से संबंधित है जहाँ पर वह भक्ति साधना के मार्ग की कठिनाइयों एवं व्यवधानों से क्रमशः गुजरता है और अन्त में अपने आराध्य से मिलन के आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। कृष्ण काव्य में साधना के अन्तर्गत कठिनाइयो का एक माधुर्य परक प्रातीकात्मक रूप ही अधिक प्राप्ति होता है। इस दृष्टि से सूरसागर में द्वारका–चरित्र के अन्तर्गत विरह विदग्ध गोपियो के दयनीय वचन एक साधनापरक प्रसंग को प्रतीक रूप में रखते हैं–

हौं कैसे के दरसन पाऊँ।
बाहर भीर बहुत भूपनि की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहि हौं काहि पठाऊँ।।[1]

अपने प्रिय का दर्शन प्राप्त करने में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। इन कठिनाइयो के कारण आराध्य का दर्शन नहीं हो पाता। एक ओर संसार के विषय, भोग आकर्षित करते हैं तो दूसरी ओर ह्रदय में अनेक भोग–वृत्तियों की अधिकता है जो प्रिय के साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करती है। इस माधुर्य पूर्ण उक्ति में जहाँ एक और प्रेम–साधना के पथ की दुर्बलताओं का संकेत है, वही उस वर्णन में गोपियो की रागानुगा भक्ति भी व्यंजित होती है। इसी प्रेम–मार्ग की साधना का मधुर रूप मीरा की इन पंक्तियों अभिव्यंजित हो उठा है–

जोगिया जी निसि दिन जोऊँ बाट।
पाँव न चालै पंथ दूहेलो, आड़ा औघट घाट।
नगर आय जोगी रम गया रे, मो मन प्रति न पाइ।।[2]

साधना मार्ग अनेक समस्याओं से भरा हुआ है जिसमें अनेक 'औघट घाट हैं। इस 'औघअ घाट' के द्वारा मीरा ने उन समस्त बाधाओं का केन्दीकरण कर दिया है

---

1 सूरसागर सार, पृ0–195
2 मीराबाई की पदावली, पृ0–115 ।44 ।

जो भक्तिमार्ग की कठिनाइयों का प्रतीक है। इन बाधाओ के द्वारा अज्ञान का उदय हो जाने से जोगी संसार में (नगर) आकर भी मीरा के ह्रदय में स्थान न पा सका। इसका कारण था मीरा के ह्रदय में 'प्रेम' का वह सबल रूप मुखर न हो सका जो उस जोगी को कहीं और जाने से रोक पाता। कितना कठिन है उस जोगी को ह्रदय की सीमा में बाँधना जबकि अन्तःकरण 'औघट घाट' और दुहेलापंथ के कठिनाइयों से ही नही छूट सका है।[1]

बाधाओं को प्रतीक रूप देने की चेष्टा मीरा ने कई स्थानो पर की है। सत्य में, राणा का सांप की पिटारी भेजना और मीरा के सामने उन सबका अमृतमय रूप में परिवर्तित हो जाना एक प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करता है। मीरा के सम्मुख जो वस्तुयें आती हैं, वे भक्ति मार्ग की बाधाओ को ही स्पष्ट करती है। लेकिन इन वस्तुओं पर मीरा विजय प्राप्त करती है। यहाँ पर सर्प 'काल' का प्रतीक है और विष सांसारिक विषय वासनाओं कां ये प्रसग ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर कुठाराघात नहीं है, पर उनका अर्थ बिस्तार ही है।[2]

साधना पथ की इस यात्रा का अंत तब होता है जब परम आराध्य से एकात्म अनुभूति प्राप्त करता है। यही एकात्म अनुभूति मिलन के आनन्द की अनुभूति है। इसी आनन्द को व्यक्त करने के लिये कवियों ने प्रतीकों को अपनाया। इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ मीरा के काव्य में सुन्दरता से आयोजित हुये है। मीरा ने अपने साँवरे को प्राप्त करने का उपक्रम इस प्रकार किया है–

म्हाँ गिरधर रंग राती, सेया म्हां।
पचरंग चोला पहर्‌या सखी म्हां, झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, देख्या, तण मण रातीं।[3]

यहाँ 'पचरंग चोला ही पचतत्व से निर्मित शरीर का प्रतीक है। जिसके द्वारा साधिका 'झिरमिट' खेलने जाती हैं यह खेल साधक एवं साध्य का वह स्थल है जहॉ मिलन मिलन की अनुभूति प्राप्त होती है। एकांत 'झिरमिट' में ही सांवरे के दर्शन

---

1 हिन्दी काव्य मे प्रतीक वाद का विकास, पृ0–392
2 हिन्दी काव्य में प्रतीक वाद का विकास, पृ0–392
3 मीरा की पदावली, पृ0–107–108 |23 |

होते है। 'झिरमिट' मीरा के प्रेम संबंध का एक आध्यात्मिक प्रतीक है। इस मिलन की लालसा में विरहिणी मीरा का 'विरह' क्रमशः आशा और सुख की मिश्रित अभिव्यक्ति के रूप में अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होता है। मीरा का घर ही मानो शरीरगत हृदय है जिसमें उनका 'ओलगिया' आने वाला है जिससे कि उनका विरह ताप, सुख एवं आनन्द में परिणत हो सके। उनके प्राण (मोर) ही मानो आनन्द–वर्षा (मेघ) के अनुभव मात्र से पुलकित हो गये है। प्रेम की चेतना–किरणो (चन्द्र–ज्योत्सना) के ह्रदय से उनका मन प्रफुल्लित (कमल के समान) हो गया है। उनका रोम–रोम प्रेमभाव से परिपूर्ण हो गया है, क्योंकि अब तो उनका 'मोहन' उनके ह्रदय रूपी 'ऑगन' मे प्रवेश कर चुका है –

म्हारे ओलगिया घर आज्यो जी।
तणरी ताप मिट्यो सुख पार्‌या, हिलमिल मंगल गाज्यो जी।
घणरी घुण सुण मोर मगण भया, म्हारे आगण आज्यो जी।
चंदा देख कमोदण फूला, हरख भया म्हारे छाज्यो जी।
रूम रूम म्हारो सीतल सतणी, मोहन आंगण आज्यो जी
मीरा विरहण गिरधर नागर, मिल दुख दन्दा छाज्यो जी।[1]

प्राकृतिक व्यापारों एवं मानवेतर प्राणियों के प्रतीकवत' प्रयोग द्वारा मीरा ने अपने प्रिय से मिलन के चित्र व्यंजित किये है। यहाँ आतंरिक जगत का बाहय जगत से एकाकार हो गया है। दादुर, मोर पपीहा आदि का बोलना, उनके ह्रदयगत भावों एवं प्रवृत्तियों के प्रतिरूप से ज्ञात होते हैं। मिलन का माधुर्य से भरा चित्र जितनी सजीवता से इन प्राकृतिक वस्तुओ के द्वारा अभिव्यजित हुआ है, वह परोक्ष रूप से, मीरा के ह्रदय की, उसकी भावनाओं एव वृत्तियों की एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है–

सुण्या जी म्हारे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ़–चढ़ जोवां सजनी अब आवां महाराजा।
दादूर मोर पपीहा बोल्या, कोइल मधुरा साज।
×　　　　×　　　　×
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बेग मिल्यो महाराज।[2]

---

1. मीरा की पदावली, पृ0–138 / 119
2. मीरा बाई की पदावली, पृ0–144

अपने मिलनानंद की अनुभूति को व्यंजित करने के लिये मीरा ने उपर्युक्त व्यापारों को सबल प्रतीकात्मक रूप दिया है। इनके द्वारा मीरा ने अपने प्रिय साध्य का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया है। मीरा ने 'सावन' की बदरिया' का जो संकेत किया है वह आनन्द की एक आध्यात्मिक वर्षा ही है।

"बरसा रो बदरिया सावण री, सावण री मन भावन री"[1]

इसी प्रकार 'होली' का वर्णन भी आध्यात्मिक प्रतीक है। इसमें लाल रग अनुराग का प्रतीक है।[2] इस प्रकार देखा गया कि मीरा का मिलन गोपियो के मिलन से भिन्न है। मीरा का मिलन व्यक्तिगत एवं निजी अनुभूति का विषय है परन्तु गोपियो का मिलन एक विरह की अवतारणा ही करता है जो अत मे कृष्ण से द्वारका में मिलती तो हैं पर वे वहाँ पर मिलकर भी पूर्ण रूप से मिल नहीं पाती। गोपियों का यह 'दुखांत' मिलन न तो दुखात है और न ही सुखांत। वह तो दोनों से ऊपर एक चिरन्तन आध्यात्मिक मिलन है।

निष्कर्ष :– भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूपों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि भक्ति कालीन सभी सन्तों एवं भक्तों का साध्य एक ही है–वह है ईश्वर के प्रति एकनिष्ठ प्रेम। भक्ति कालीन इन सभी कवियो ने परमब्रह्म को अपनी–अपनी दृष्टि से देखा और अनुभव किया। कबीर ने सगुण–निर्गुण से परे प्रभु राम की कल्पना की और उन्हे अपना इष्ट माना। उन्होंने कहा कि ऐसे निर्गुण राम को 'प्रेमभगति' से ही प्राप्त किया जा सकता है। कबीर ने अपनी आत्मा को पत्नी एव परमतत्व को प्रियतम मानकर प्रेम किया, वहीं जायसी ने परमतत्व को पत्नी एवं आत्मा को पुरुष मानकर प्रेम किया।

सूर ने कृष्ण के साकार रूप को अपना आराध्य माना। सूर की भक्ति मे सख्य, वात्सल्य एवं मार्धुय तीनों भावों की अभिव्यंजना हुई है फिर भी इनमें मार्धुय प्रेम की ही प्रधानता है।

---

1. मीराबाई की पदावली, पृ0–144–146
2. मीराबाई की पदावली, पृ0–145

तुलसी के प्रेम के आलम्बन, मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। राम के प्रति उन्होंने दास्य भाव की भक्ति की है। वहीं मीरा ने कृष्ण के सगुण रुप से प्रेम किया। उनके इस भाव में दाम्पत्य प्रेम की प्रधानता है।

इस प्रकार संत एवं भक्त कवियों ने प्रभु को भिन्न–भिन्न रूपों में चित्रित करके उनसे भिन्न–भिन्न सम्बन्ध स्थापित किये। सूर ने मार्धुय भाव को अपनाया तो तुलसी ने दास्य भाव को। कबीर, जायसी एवं मीरा में दाम्पत्य प्रेम की ही प्रधानता है।

अतः भक्ति काव्य के प्रमुख कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति उत्कट रूप में अपनी भावानुभूतियों द्वारा प्रस्फुटित हुई है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मुरलीधर श्रीवास्तव — मीराबाई का काव्य, प्रकाशन — साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. परशुराम चतुर्वेदी — मीरा की पदावली, प्रकाशन— हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद स० 1964।

3. डा० राम कुमार वर्मा — कबीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन इलाहाबाद, 1957।

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर, प्रकाशन — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना पहला संस्करण—1990।

5. गोविन्द त्रिगुणायत — कबीर की विचारधारा, साहित्य निकेतन कानपुर, 2009 विक्रम।

6. पुरूषोत्तम लाल श्रीवास्तव — कबीर साहित्य का अध्ययन, साहित्य रत्नमाल कार्यालय बनारस, सं० 2008।

7. डा० वी०एन० फिलिप — मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य मे विरह भावना, संगम प्रकाशन इलाहाबाद।

8. डा० राम कुमार खण्डेलवाल — हिन्दी काव्य में प्रेम भावना, प्रकाशन — कुंज बिहारी लाल पचौरी जवाहर पुस्तकालय मथुरा सस्करण — 1976।

9 डा० देवीशंकर अवस्थी — 18वीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, प्रकाशन— अक्षर प्रकाशन प्रा०

लिमिटेड, अंसारी रोड दरियागंज दिल्ली, संस्करण – प्रथम।

10. हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) प्रकाशन– हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद, संग्रहालय।

11. डा० नरेन्द्र सिंह फौजहार – सूर की भाव साधना, प्रकाशन–गिरनार प्रकाशन संस्करण – प्रथम।

12. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी – मध्यकालीन धर्म साधना, प्रकाशन–साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद। संस्करण–1992, 1956।

13. डा० डी०के० रामनाथन – मधुर भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रकाशन – ए०टू० जेड, संस्करण – प्रथम।

14 मैनेजर पाण्डेय – भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, प्रकाशन – वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण–1993।

15. डा० केसनी प्रसाद चौरसिया – मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, प्रकाशन – हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सस्करण – प्रथम 1965।

16. श्याम मनोहर पाण्डेय – मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, प्रकाशन – लोकभारती प्रकाशन महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण–द्वितीय, 1982।

17. डा० भगवान दास तिवारी – मीरा का काव्य, प्रकाशन– साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड जीरो रोड, इलाहाबाद, संस्करण – 1881 –प्रथम, 1990–द्वितीय।

18. डा० रामनारायण शुक्ल – भक्ति काव्य स्वरूप और संवेदना, प्रकाशन–संजय बुक सेन्टर गोलघर, वाराणसी, सस्करण – प्रथम 1986।

19. उदयभानु सिंह – तुलसी, संस्करण–छंठा, 1993 प्रकाशन–राधाकृष्णन प्रकाशन–प्रा० लिमिटेड अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली।

20 डा० रघुवंश – जायसी एक दृष्टि, प्रकाशन–लोकभारती प्रकाशन महात्मागांधी मार्ग इलाहाबाद, संस्करण–प्रथम।

21. रामपूजन तिवारी – जायसी, प्रकाशन – राधाकृष्ण प्रकाशन, रूपनगर, नई दिल्ली, संस्करण–1965।

22. दानबहादुर पाठक – जायसी और उनका पद्मावत, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार नई दिल्ली, संस्करण – 1959।

23 डा० गोविन्द त्रिगुणायत – जायसी का पद्मावत, प्रकाशन–अशोक प्रकाशन नई सडक दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1963।

24. देशराज सिंह भाटी – जायसी एक विवेचन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार, नई दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1962।

25. डा० जयनाथ नलिन – भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, प्रकाशन–बंसल एंड कम्पनी नवीन शाहदरा, दिल्ली।

26. रामनरेश त्रिपाठी – तुलसी और उनका काव्य, प्रकाशन – राजपाल एंड सज कश्मीरी गेट नई दिल्ली, सस्करण – 1953।

27. परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी काव्य धारा मे प्रेम–प्रवाह, प्रकाशन–किताब महल इलाहाबाद, संस्करण – 1952।

28. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव – भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, प्रकाशन–हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय ज्ञानदीप, बनारस सिटी, संस्करण – प्रथम 1955।

29 परशुराम चतुर्वेदी – मध्यकालीन प्रेम साधना, प्रकाशन– राजेन्द्र दत्त वाजपेयी हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण – प्रथम – 1952।

30. परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास–4 भक्तिकाल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

31. राजनाथ शर्मा – जायसी और उनका पद्मावत, प्रकाशन–राजकिशोर अग्रवाल, विनोद पुस्तक मदिर हास्पीटल रोड आगरा। संस्करण – प्रथम 1962।

32. डा० धीरेन्द्र वर्मा – हिन्दी साहित्य कोश भाग–1 ज्ञानमडल लिमिटेड, वाराणसी। संस्करण–संवत् 2015

33. उदयभानु सिंह – तुलसी काव्य मीमांसा, प्रकाशन–राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण – 1966।

34 डा० युगेश्वर – तुलसीदास आज के संदर्भ मे, प्रकाशन–अभिव्यक्ति प्रकाशन, सस्करण–प्रथम दिसम्बर, 1968।

35. रतिभानु सिंह नाहर – भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, प्रकाशन–किताब महल जीरो रोड, इलाहाबाद, सस्करण–प्रथम।

36. विनय कुमार एम०ए० – तुलसीदास का प्रगीत काव्य, प्रकाशन–ओरियन्टल बुक डिपो नई सडक, दिल्ली। सस्करण–प्रथम, 1962।

37. इन्द्र नाथ मदान – तुलसीदास–चिन्तन और कला, प्रकाशन–राजपाल एंड संज दिल्ली। सस्करण–प्रथम, 1959।

38. डा० आशा गुप्त – मध्ययुगीन सगुण एव निर्गुण भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद संस्करण–प्रथम।

39. चन्द्रबलि पाण्डेय – तुलसीदास, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा काशी संस्करण–2014 वि०।

40 बी०एन० फिलिप – मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना, प्रकाशन–संगम प्रकाशन शहराबाद इलाहाबाद, संस्करण–प्रथम, 1976।

41 सत्य नारायण सिंह – तुलसी और उनका काव्य, प्रकाशन – रामलाल पुरी, आत्माराम एंड संन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली। संस्करण–1954।

42. डा० सभापति मिश्र – तुलसी का काव्य वैभव, प्रकाशन–नीरज प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1989 ई०।

43. ज्ञानचंद जैन – मीरा और उनकी प्रेमावाणी, प्रकाशन–अयोध्या सिंह, हरिसन रोड कलकत्ता, सस्करण–प्रथम 2000।

44 राम प्रकाश – मीरा की काव्य साधना, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1972।

45. भुवेनश्वर नाथ मिश्र 'माधव' – मीरा की प्रेम साधना, प्रकाशन–राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण–चतुर्थ।

46. भगवान दास तिवारी – मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन, प्रकाशन–साहित्य भवन, इलाहाबाद।

47. देशराज सिंह भाटी – मीरा बाई और उनकी पदावली, प्रकाशन–अशोक प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1962।

48. डा० वेद प्रकाश शास्त्री – सूर की भक्ति भावना, प्रकाशन–सन्यमार्ग प्रकाशन 16 यू०पी० बग्लो रोड दिल्ली, संस्करण–1984।

49. हरवंश लाल शर्मा – सूर और उनका साहित्य, प्रकाशन–भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ। संस्करण–प्रथम।

50. डा० रमाशंकर तिवारी — सूर का शृंगार वर्णन, प्रकाशन– अनुसंधान प्रकाशन कानपुर, सस्करण–1966।

51. डा० पद्मा अग्रवाल — प्रतीकवाद, प्रकाशन–मनोविज्ञान प्रकाशन वाराणसी, संस्करण–प्रथम 1963।

52. डा० प्रभात — प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य मूल्य, प्रकाशन–आर्य बुक डिपो करोल बाग नई दिल्ली, संस्करण प्रथम, फरवरी, 1984।

53. राजनाथ शर्मा — मध्यकालीन कवि और उनका काव्य, प्रकाशन–राजकिशोर अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर हास्टपीटल रोड, आगरा। संस्करण–प्रथम (हिन्दी संग्रहालय प्रयाग)

54. श्री रमाशंकर जेटली — मध्यकाल के पॉच श्रेष्ठ कवि (जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी घनानन्द आदि) प्रकाशन–भारत प्रकाशन मदिर अलीगढ, हिन्दी संग्रालय प्रयाग।

55. रामचन्द्र बिल्लौरे — जायसी की प्रेम साधना, प्रकाशन–जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन जटवाडा दरियागंज दिल्ली।

56 डा० बच्चन सिंह — रीतिकालीन कवियो की प्रेम व्यंजना, प्रकाशन–वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–द्वितीय।

57. परशुराम चतुर्वेदी — मीराबाई की पदावली, प्रकाशन – हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद, संस्करण – प्रथम।

58. डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर – मीराबाई, प्रकाशन–भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली संस्करण–प्रथम 1984।

59. आचार्य शुक्ल – जायसी ग्रंथावली, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी वाराणसी। संस्करण–2008 वि०

60. दीन दयाल गुप्त – अष्टध्याय और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। संस्करण–2004 वि०।

61. डा० विजयेन्द्र स्नातक – राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, प्रकाशन–नेशनल पब्लिंशग हाउस, दिल्ली।

62. नाभादास – भक्तमाल, लखनऊ 1913।

63. मुंशीराम शर्मा – भक्ति का विकास, प्रकाशन–चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, सस्करण–प्रथम।

64. उसमान – चित्रावली, प्रकाशन–नगारी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण–1906 ई०।

65 परशुराम चतुर्वेदी – उत्तर भारत की सन्त परम्परा, प्रकाशन–भारती भण्डार प्रयाग, सस्करण–2008 वि०।

66. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रथावली, प्रकाशन–ना० प्रचारिणी सभा, काशी संस्करण–2008 वि०।

67. पं० रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रंथावली, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण–प्रथम।

68. प्रो० मुरली धर श्रीवास्तव – मीरा दर्शन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद संस्करण–प्रथम 1956।

69. मीरास्मृति ग्रथ – मीरा ग्रथावली, प्रकाशन–वगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता। संस्करण–2006 वि०।

70. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस, प्रकाशन – गीता प्रेस गोरखपुर।

71. डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव – हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन –
एच०पी० सिन्हा पुस्तक मंदिर इलाहाबाद सस्करण–1965 ई०।

72 डा० मलिक मोहम्मद – वैष्णव भक्ति आन्दोलन, प्रकाशन–राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, सस्करण–प्रथम 1977।

73. बलदेव उपाध्याय – भागवत सम्प्रदाय, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सस्करण–प्रथम।

74. डा० पीताम्बर बडथ्य्वाल – हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रकाशन–पब्लिशिंग हाउस लखनऊ। संस्करण – प्रथम।

75. परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी काव्य में प्रेम प्रवाह, प्रकाशन–किताब महल इलाहाबाद सस्करण – 1952 ई०।

76 श्याम नारायण पाण्डेय – हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना, राम प्रकाशन नजीराबाद लखनऊ। संस्करण–प्रथम।

77 परशुराम चतुर्वेदी – प्रकाशन – भारती भण्डार लीडर प्रेस प्रयाग। संस्करण – संवत् 2018 वि०।

78. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव – हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा – प्रकाशन – भारत प्रकाशन अलीगढ, संस्करण – प्रथम।

79 रामचन्द्र वर्मा – मानक हिन्दी कोश खण्ड–1, प्रकाशन – हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण–प्रथम।

80. भुवनेश्वर नाथ मिश्र – रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, प्रकाशन–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, संस्करण – प्रथम।

81 विश्वम्भर नाथ उपाध्याय – हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठिभूमि, प्रकाशन– साहित्य रतन भण्डार आगरा, संवत् 2012।

82. डा० मिथिलेश कान्ति – हिन्दी भक्ति शृगार का स्वरूप, प्रकाशन–चैतन्य प्रकाशन मन्दिर। संस्करण–प्रथम।

83. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी – सूर साहित्य, प्रकाशन – नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रथ रत्नाकर लि० चिरगाव बम्बई।

84 बज्रेश्वर वर्मा – सूरदास, प्रकाशन–हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग संस्करण – प्रथम।

85. लेखक – सूरदास – सूरसागर, प्रकाशन – नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

86. डा० धीरेन्द्र वर्मा — सूरसागर सार, प्रकाशन —साहित्य भवन लि० इलाहाबाद संस्करण 1966 ई०।

87. राजपति दीक्षित — तुलसी और उनका युग, प्रकाशन — ज्ञानमण्डल लि० — बनारस सस्करण, संवत् 2009।

88. पं० सीताराम चतुर्वेदी — गोस्वामी तुलसीदास, प्रकाशन — चौखम्भा विद्या भवन चौक बनारस, सवत् 2013।

89. रजनीकान्त शास्त्री — मानस मीमांसा, प्रकाशन — साहित्य सरस्वती किताब महल जीरोर रोड, इलाहाबाद।

90. वियोगी हरि — विनय पत्रिका, प्रकाशन — पुस्तक सदन ज्ञानवाणी वाराणसी 1965 ई०।

91. महाबीर सिंह गहलौत — मीरा, भक्ति कार्यालय दारागज प्रयाग संस्करण — तृतीय।

92. पद्मावती शबनम — मीरा एक अध्ययन, लोकसेवक प्रकाशन — बनारस सस्करण — 2007 वि०।

93. डा० वी०एन० फीलिप — मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना, संगम प्रकाशन विवेकानन्द मार्ग इलाहाबाद संस्करण — 1987 ई०।

94. विजयेन्द्र स्नातक — कबीर, प्रकाशन — राधाकृष्ण प्रकाशन असारी रोड दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण—1985।

95. डा० नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन – नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज नई दिल्ली – संस्करण – 1985।

96. रामचन्द तिवारी – कबीर मीमांसा, प्रकाशन – लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गॉधी मार्ग इलाहाबाद। सस्करण – 2000।

97 प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिह – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास बग्लोरोड, जवाहर नगर दिल्ली सस्करण – 1993।

98. कल्याण सिंह शेखावत – मीरा ग्रंथावली, प्रकाशन – वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सस्करण – प्रथम 2001।

99. बलदेव उपाध्याय – भारतीय दर्शन, शारदा मदिर, वाराणसी 1935 ई०।

100. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

101. पीताम्बर बडथ्थवाल – गोरखबानी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संस्करण 2003 वि०।

102 परशुराम चतुर्वेदी – कबीर साहित्य की परख, भारती भण्डार प्रयाग संस्करण – 2011 वि०।

103 रामस्वरूप चतुर्वेदी – मीरा की पदावली, संस्करण 2006 वि०

104. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध– कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी 2015 वि०।

105. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

106. रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी वि० 2007।

107. रामचन्द्र शुक्ल – सूर भ्रमर गीत सार

108. डा० निर्मला जैन – रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र

109. डा० रेनाल्ड ए० निकोल्सन – इस्लाम के सूफी साधक

110. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – रस मीमांसा

111. डा० विमल कुमार जैन – सूफी मत और हिन्दी साहित्य

112 जयशंकर प्रसाद – कामायनी, भारती भण्डार प्रयाग, 2000 वि०।

113 वासुदेव शरण अग्रवाल – पद्मावत, साहित्य सदन झांसी वि० 2011।

114 डा० दशरथ राज – दक्खिनी हिन्दी का प्रेम गाथा काव्य

115. श्री राम बहोरी शुक्ल भगीरथ मिश्र – हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास

116. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस, गीता प्रेस गोरखपुर छिहत्तरवां संस्करण।

117. प्रो० कृष्णपाल सिंह – कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन – अशोक प्रकाशन संस्करण – 1981।

118. डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह — श्री रामचरित मानस, सप्तम सोपान उत्तरकाण्ड, लोकभारती प्रकाशन महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद। द्वितीय संस्करण – 2001

119 इन्द्र पाल सिंह 'इन्द्र' — तुलसी साहित्य और साधना, प्रकाशन – विनोद पुस्तक मदिर। संस्करण – द्वितीय।

120. हरवंश लाल शर्मा — सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन अन्सारी रोड दरियागंज नई दिल्ली।

121. महेन्द्र कुमार — हिन्दी काव्य में प्रतीक योजना राधाकृष्णन मूल्यांकन माला।

122 वीरेन्द्र सिंह — हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास संस्करण – प्रथम

123. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी (सपा०) — दादू की बानी

124. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (संपा०) — तुलसी ग्रंथावली